मुझे विश्वास है

विमल मित्र

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

MUJHE VISWAS HAI

Literary Reminicences

by

Vimal Mitra

1985

रूपान्तर : योगेन्द्र चौधरी

प्रथम संस्करण : १९८५ ई०

मूल्य : पचास रुपये

प्रकाशक

विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी

मुद्रक

विद्या प्रिंटिंग प्रेस, वाराणसी

वाराणसी के सुप्रसिद्ध कला-मर्मज्ञ

और साहित्य एवं साहित्यकारों के प्रेमी

बन्धुवर श्री मुरारीलाल जी केडिया

को

परम श्रद्धापूर्वक समर्पित

—विमल मित्र
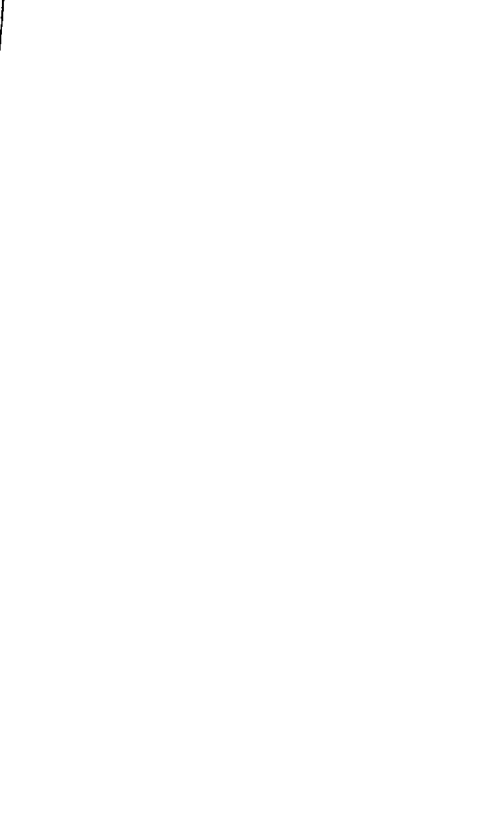
अनुवादकीय वक्तव्य

विमल मित्र भारतीय वाङ्मय के एक ऐसे सशक्त हस्ताक्षर हैं जिनके पाठकवर्ग का दायरा सुदूर केरल, महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान से लेकर पूर्वांचल के असम प्रदेश तक फैला हुआ है। बंगला में उनकी किसी औपन्यासिक कृति का प्रकाशन होते न होते हिन्दी, मलयालम, गुजराती, मराठी, उड़िया, असमिया आदि समृद्ध भाषाओं में उसका अनुवाद धड़ल्ले से निकलना शुरू हो जाता है। बंकिमचन्द्र, रवीन्द्रनाथ और शरतचन्द्र के अतिरिक्त विमल मित्र के किसी भी पूर्ववर्ती या समकालीन रचनाकार को न तो उनके जैसा विशाल पाठकसमुदाय मिला है और न ही लोकप्रियता। और वह लोकप्रियता आज के नेता या अभिनेता को प्राप्त वैसी लोकप्रियता नहीं है जो बिजली की कौंध की तरह एक क्षण के लिए हमें चमत्कृत कर दूसरे ही क्षण निष्प्रभ हो जाती है।

विमल मित्र की लोकप्रियता तात्कालिक प्रभाव के साथ-साथ एक सार्वकालिक प्रभाव भी छोड़ जाती है। यही कारण है कि एक ओर जहां सामान्य पाठकवर्ग को उनकी किस्सागोई में मनोरंजन के साथ-साथ अपने इर्द-गिर्द फैले समाज के जीवन की झांकी तथा सुख-दुःख की कहानी मिलती है, वहीं दूसरी ओर विशिष्ट वर्ग के पाठकों को उनके एपिक उपन्यासों में नयी-नयी अर्थ-छवियां और तीसरे आयाम का संकेत मिलता है। उनके उपन्यास में आये हुए चरित्र बौद्धिक वर्ग के मस्तिष्क को बार-बार झिझोड़ते रहते हैं।

विमल मित्र के उपन्यासों की संख्या पचास से अधिक ही है परन्तु उनमें से साहब बीबी गुलाम, खरीदी कौड़ियों के मोल, इकाई दहाई सैकड़ा, बेगम मेरी विश्वास तथा मैं विशेष रूप से उल्लेखनीय है। साहब बीबी गुलाम, इकाई दहाई सैकड़ा तथा खरीदी कौड़ियों के मोल——इस ग्रंथत्रय मे विमल मित्र ने अंग्रेज शासकों के भारत में आविर्भाव से शुरू कर यहां से उनकी बिदाई तक की दो शताब्दियों के राजनीतिक, ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक घटनाक्रम को समेट लिया है। बेगम मेरी विश्वास को इन ग्रंथत्रय की भूमिका के रूप में ही रेखांकित किया जा सकता है। इतने बड़े कालखंड के यथार्थ को अपने उपन्यासों में मूर्त करने के लिए लेखक ने अपनी पैनी ऐतिहासिक और समाजशास्त्रीय दृष्टि का सहारा लिया है। हो सकता है, कुछ लोगों को विमल मित्र के उन उपन्यासों में तथ्य और आंकड़ें की गलती नजर आये। लेकिन यहां प्रश्न उठता है कि इतिहास क्या सिर्फ नाम और घटनाओं की ही विवृति है या वह उससे भी बड़ी कोई चीज है? मनुष्य की नियति का आकलन क्या इतिहासेतर वस्तु है?

सुप्रसिद्ध अंग्रेज इतिहासकार ई० एच० कार का कहना है, वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में अतीत की व्याख्या करना ही इतिहास है ताकि हम वर्तमान को अच्छी तरह समझ सकें यही वजह है कि जैसे-जैसे समय मे बदलाव आता गया है, ऐतिहासिक कालचक्र औ घटनाओं का वैसे-वैसे नये नजरिये से भाष्य प्रस्तुत किया जाता रहा है।

ब्रिटिश शासनकाल में हम अपनी स्वतन्त्रता के लिए व्यग्र थे। अतः उस काल-विशेष में लिखे गये इतिहास में इसी बुनियादी प्रश्न की प्रतिच्छाया मिलती है। चूंकि अब हमारे देश की सत्ता विदेशियों के हाथ में नहीं है इसलिए इतिहास की प्रक्रिया की समझदारी के लिए अब हमें नये क्षितिज का अन्वेषण करना होगा। इसी विचारधारा को मद्दे नजर रखकर डॉक्टर अमायर सिन्हा जैसे प्रकाण्ड विद्वान् ने इतिहास की अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'इन्डियन इन्डिपेन्डेन्स इन परसेपेक्टिव' में विमल मित्र के उपन्यास साहब बीबी गुलाम से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की हैं।

विमल मित्र ने अपने बचपन से जिस जीवन को जिया और भोगा है, अपने उपन्यासों में उसी जीवन और परिवेश की बारीकी से जाँच-पड़ताल की है। इस जटिल प्रक्रिया को सफल बनाने के लिए कथाकार विमल मित्र ने अपनी ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक सत्ताओं से भरपूर सहायता ली है। स्मरणीय है कि १९३८ ई० में अपनी स्नातकोत्तर शिक्षा समाप्त कर विमल मित्र एक तटस्थ द्रष्टा की तरह युद्धोत्तर बंगाल की संकटग्रस्त स्थिति का पर्यावलोकन कर रहे थे। उस समय बंगाली हिन्दू युवजन बेकारी और हादसे की जिन्दगी जी रहे थे। अंग्रेज तथा सांप्रदायिकतावादी मुसलिम लीगी शासकों के प्रतिरोधी रुख से उनका दम घुट रहा था। खरीदी कौड़ियों के मोल जैसे विशाल कलेवर के एपिकधर्मी उपन्यास में विमल मित्र ने तत्कालीन स्थिति को उसकी समग्रता के साथ प्रस्तुत किया है।

विमल मित्र के स्वातंत्र्योत्तर काल के उपन्यासों में हमें संक्रमण-युग के बिखराव, तज्जनित सामाजिक विघटन, मानवीय मूल्य के बदलते सन्दर्भ, शासनतंत्र की यथावत् स्थिति, पूंजीवादी व्यवस्था की तीव्र जकड़न, नौकरशाही और नेताओं की साजिश के कारण व्यापक तौर पर फैले भ्रष्टाचार, नवकुबेरों की फैशन परस्ती आदि राष्ट्रव्यापी बुराइयों का सही-सही लेखा-जोखा मिलता है। 'मैं' जैसे प्रयोगशील उपन्यास में विमल मित्र वैचारिक धरातल पर आकर स्वातंत्र्योत्तर भारत की नैतिक गिरावट का विभिन्न कोणों से अन्वेषण-परीक्षण करते हैं। उसका प्रमुख चरित्र 'मुख्यमन्त्री' अपने प्रदेश की बुराइयों को दूर कर आम लोगों की दुरवस्था में परिवर्तन लाना चाहता है परन्तु अन्ततः वह व्यवस्था (इस्टैब्लिशमेन्ट) के समक्ष अपने आपको असहाय पाता है। विमल मित्र की दृष्टि में आम लोग सर्वहारावर्ग के प्रतीक हैं जो ब्रिटिश शासनकाल में विदेशियों की गोली के शिकार होते थे और आज स्वतंत्र भारत में भी अपनी सरकार की गोली के शिकार हो रहे हैं।

एक अर्थ में विमल मित्र के उपन्यासों से उनके समकालीनों के उपन्यासों का एक स्पष्ट अलगाव दृष्टिगोचर होता है। वह यह कि उनके ऐतिहासिक चरित्रों के बीच कहीं कोई खलनायक नहीं है। किसी व्यक्ति की अवनति और विफलता के लिए वह उसके उस कार्य-कलाप को जिम्मेदार समझते हैं जो सत्य और वास्तविकता को नकारात्मक अर्थ में लेता है। यही नहीं, किसी शासक या राष्ट्र के पतन के लिए वह एक ही व्यक्ति को दोषी नहीं ठहराते बल्कि आम धारणा के विपरीत उनका मत है कि पीढ़ी-

दर-पीढ़ी से अपनी पकड़ मजबूत करता हुआ अनाचार तथा समाज में व्यापक रूप में फैली अनैतिकता ही उस अधःपतन में प्रमुख भूमिका अदा करती है। उदाहरण के लिए, पलासी युद्ध में सिराजुद्दौला की पराजय के लिए मुगल सम्राटों की विलासिता, स्वार्थ-लोलुपता और तत्कालीन भारतीय जनता की पुंसत्वहीनता और अनैतिकता को ही वह जिम्मेदार मानते हैं।

किसी भी कालजयी कृति का आवेदन व्यक्ति और समाज के संस्कार को माँजने और उसकी मानसिकता को नया मोड़ देने में राष्ट्र नेता की वाणी से अधिक प्रभावोत्पादक सिद्ध होता है। इस संदर्भ में विमल मित्र की रचना से संबंधित दो घटनाओं का यहाँ उल्लेख करूँ तो मेरी समझ में वह कोई अवान्तर बात नहीं होगी।

सन् १९५८ में दो अजनबी विमल मित्र के पास इस अनुरोध के साथ आये कि शिवपुर (हावड़ा) के उमाशंकर मुखोपाध्याय नामक एक व्यक्ति, जो किसी जमाने में नामी बैरिस्टर रह चुके हैं, मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए हैं और वह एक बार विमल मित्र से मिलने को बहुत ही व्यग्र हैं। विमल मित्र उमाशंकर मुखोपाध्याय से पूर्वपरिचित नहीं थे, लेकिन स्वयं अस्वस्थ रहने के बावजूद वह उस मृत्युयात्री के अनुरोध को ठुकरा नहीं सके!

वहाँ जाने पर पता चला कि उमाशंकर मुखोपाध्याय शुरू से ही एक धर्मपरायण व्यक्ति का जीवन जी रहे हैं परन्तु पिछले आठ वर्षों से मृत्यु-यातना से भयभीत हैं। बातचीत के क्रम में उमाशंकर मुखोपाध्याय ने कहा, "मृत्यु के बाद मैं कहाँ जाऊँगा, इस रहस्य को जानने के लिए बड़ा ही बेचैन था। मैंने बार-बार उपनिषद् और गीता का अध्ययन किया परन्तु मुझे इस प्रश्न का उत्तर कहीं नहीं मिला। एक दिन संयोगवश आपका साहब बीबी गुलाम मेरे हाथ में आ गया। यों मैं कथा-कहानी-उपन्यास बिलकुल नहीं पढ़ता, परन्तु जाने क्यों उस उपन्यास को पढ़ना शुरू कर दिया और पढ़ते-पढ़ते उसी में डूब गया। आपकी उस पुस्तक में ही मुझे इस रहस्य का पता चला।"

यह कहकर उमाशंकर मुखोपाध्याय अपने सामने पड़ी तिपाई पर रखी तीन पुस्तकों में से एक को उठाकर संस्कृत का एक श्लोक पढ़ गये। उसके बाद साहब बीबी गुलाम की प्रति उठाकर कुछ पंक्तियाँ पढ़ गये। पुस्तक को पुनः तिपाई पर रखते हुए कहा, "मुझे इन्हीं पंक्तियों में अपने प्रश्न का उत्तर मिला है।"

दूसरे ही दिन उस सज्जन की मृत्यु हो गयी। इस घटना के प्रत्यक्षदर्शी बंगला के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार शंकर हैं जो उस दिन विमल मित्र के साथ घटनास्थल पर मौजूद थे।

दूसरी घटना १९७५ ई० में नागपुर में आयोजित प्रथम विश्व हिन्दी साहित्य सम्मेलन के समय की है। विमल मित्र के भाषणोपरान्त नागपुर के सुप्रसिद्ध चिकित्सक डॉक्टर बनर्जी ने उनसे भेंट की और बताया कि एक रोगी को नींद लाने के लिए प्रत्येक दिन पैथेडिन का इन्जेक्शन देना पड़ता था। एक दिन रोगी ने डॉक्टर बनर्जी से बताया कि अब इन्जेक्शन की कोई जरूरत नहीं है। कारण पूछने पर रोगी ने बताया कि जबसे

उसने 'खरीदी कौड़ियों का मोल' पढ़ा है उसे अपने आप नींद आने लगी है।

कुछ लोग विमल मित्र पर मोटी-मोटी पुस्तकें लिखने का दोषारोपण करते हैं। लेकिन इस संबंध में इतना ही कहा जा सकता है कि एपिक उपन्यास लिखने के लिए विशाल कैन्वस की जरूरत पड़ती है। तॉलस्तॉय का 'वार एण्ड पीस' तथा शोलोखोव का 'एण्ड क्वाइयेट फ्लोज द डोन' (धीरे बहे दोन रे) हजारों पृष्ठ के उपन्यास हैं। दूसरी बात है, जब देश में भ्रष्टाचार एक छोर से दूसरे छोर तक फैल जाता है, सरकार नौकरशाही के हाथ की कठपुतली हो जाती है तो किसी भी महान् लेखक को उस स्थिति और ज्वलन्त प्रश्नों के आकलन के लिए विशाल कैन्वस की जरूरत पड़ती है। इस सदी के पाँचवें दशक में लिखे गये इतालवी उपन्यास इस तर्क की पुष्टि करते हैं। यों इतालवी उपन्यास आकार में छोटे होते हैं परन्तु पाँचवें दशक में लिखे गये उपन्यासों का कलेवर बहुत विशाल है। इसका कारण यह है कि उस समय चर्च की भ्रामक नीति के परिणामस्वरूप वहाँ की सरकार भ्रष्टाचार का केन्द्र हो गयी थी तथा नौकरशाही एवं शासनतन्त्र सत्ता का दुरुपयोग कर रहा था।

एक उपन्यासकार की हैसियत से विमल मित्र जिस सुदूरव्यापी दिगन्त का स्पर्श करते हैं, एक कहानीकार की हैसियत से भी उन्होंने कथा-यात्रा के उतने ही लंबे फासले को तय किया है। हिन्दी में उनकी बहुत ही कम कहानियों का अनुवाद प्रकाशित हुआ है हालाँकि उनकी संख्या सौ से अधिक ही है। शिल्प, कथ्य, शैली या संरचना की दृष्टि से उनकी कहानियाँ भीड़ में अनायास ही अपनी एक अलग पहचान बना लेती है। उनकी 'नीला नशा' 'बहू', 'अमीर और उर्वशी', 'अमरीका', 'शर्वतीबाई' ऐसी सशक्त और बहुरंगी कहानियाँ हैं जो श्रेष्ठ से श्रेष्ठ भारतीय कहानियों के समकक्ष खड़ी हो सकती हैं।

एक बात और। बंगला की अधिसंख्यक कहानी और उपन्यासों में बंगाली समाज और परिवेश का ही चित्रण मिलता है, परन्तु विमल मित्र ने इस पारंपरिक लीक से हटकर समग्र भारतीय समाज और परिवेश को अपने कथानक का उपादान बनाया है। अपने कर्म-जीवन में भारत के विभिन्न स्थानों में परिभ्रमण करने तथा विभिन्न भाषा और संस्कृति के लोगों के बीच रहने के कारण उनकी रचना में यह खूबी आ गयी है।

अपने उपन्यास के तकनीक के लिए विमल मित्र ने शास्त्रीय संगीत की पद्धति को आलंबन बनाया है। गायकी से प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में जुड़े रहने के कारण इस विद्या पर उन्होंने सहज ही अधिकार प्राप्त कर लिया है। शास्त्रीय संगीत का गायक जिस प्रकार एक ही शब्द का बार-बार उच्चारण कर, एक ही परदे पर बार-बार आकर, शब्दों को तोड़-मरोड़ और घुमा फिरा कर श्रोतावर्ग को एक लोकोत्तर आनन्द की ओर ले जाता है, उसी प्रकार विमल मित्र का कथानक कभी सीधे, कभी तिरछे चलकर, कभी अपनी मूलधारा से हटकर अनेकानेक मोड़ों को पार करता हुआ अपने गंतव्य की ओर बढ़ता है। कथानक की इस बुनावट से वह नये-नये परिरूप गढ़ते रहते हैं और पाठकों को कथा के अन्त तक विराम लेने या ऊबने का मौका नहीं देते हैं।

भाषा के मामले में विमल मित्र सही और सार्थक शब्दों का ही प्रयोग करते हैं। उनके वाक्य छोटे-छोटे होते हैं और उनकी रचना में कहीं अलंकार, अनुप्रास या विशेषणों की पच्चीकारी नहीं रहती। भाषा को वह भावों के संप्रेषण का माध्यम-भर समझते हैं, इससे अधिक कुछ भी नहीं। असल में कब और कहां कितनी बात करनी चाहिए, इस कला मे वह पारंगत हैं। उनके जैसा सशक्त गद्य-लेखक बंगला में मिलना मुश्किल है।

साहित्य का उद्देश्य क्या होना चाहिए--इस प्रश्न को उन्होंने एक घटना का उल्लेख करते हुए स्पष्ट किया।

विमल मित्र ने बताया, "एक बार मैं नागपुर से आ रहा था। जिस डिब्बे में मैं था उसमें एक नवयुवती अनवरत रोये जा रही थी। एक वृद्ध सज्जन उसे बार-बार सांत्वना दे रहे थे पर नवयुवती के आंसू थमने का नाम नहीं ले रहे थे। मेरे द्वारा पूछे जाने पर उस वृद्ध सज्जन ने बताया कि यह मेरी लड़की है, छह महीने पूर्व इसकी शादी हुई थी। लेकिन भाग्य का दोष कि कैंसर से मेरे दामाद का देहान्त हो गया।

"रायपुर आने पर अचानक एक फकीर उस डिब्बे में आया और गाने लगा--

काम किये जा राम भजे जा
ना काहू का डर है
इस नगरी में सभी मुसाफिर
ना काहू का डर है।

इस गीत को सुनते ही नवयुवती की रुलाई थम गयी। इसी प्रकार दूसरे के आंसू थमाना, दुःख और कष्ट में सांत्वना देना तथा शोक-ताप का निवारण करना ही मेरे साहित्य का उद्देश्य है।"

'मुझे विश्वास है' विमल मित्र के द्वारा समय-समय पर लिखे गये निबंध, आलोचना, ललित निबंध, संस्मरण, व्यंग्य-कथा आदि का संकलन है। इन निबंधो से विमल मित्र की लेखकीय जीवन-यात्रा, साहित्यिक संघर्ष और रचना-प्रक्रिया पर समुचित प्रकाश पड़ता है। इस पुस्तक में भी विमल मित्र की निजता की छाप है। दुरूह से दुरूह और गंभीर से गंभीर विषय को भी वह सहज-सरल भाषा एवं औपन्यासिक शैली में व्याख्यायित कर गये है।

आशा है, हिन्दी के पाठक विमल मित्र के अन्य उपन्यासों की तरह ही इस पुस्तक का भी समादर करेंगे।

अनुक्रम

मुझे विश्वास है

•

विमल मित्र

ठलुआ क्लब, वाराणसी द्वारा श्री विमल मित्र का अभिनन्दन

बाएँ से सर्वश्री मुरारीलाल केडिया, पुरुषोत्तमदास मोदी, विमल मित्र

एक नंबर बर्मन स्ट्रीट

(विमल मित्र जब पहले-पहल सुप्रसिद्ध साप्ताहिक 'देश' के सम्पर्क में आये, उस समय बंग-भाषा के साहित्य और साहित्यकारों की गतिविधि क्या थी, इसका उन्होंने बड़ा ही जीवन्त लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है। १९७४ ई० में 'देश' पत्रिका के अनुरोध पर लिखा गया यह निबन्ध वस्तुतः तत्कालीन साहित्येतिहास का एक अविभाज्य अंग है।—अनुवादक)

मुझे एक ऐसे विषय पर लिखने का आदेश मिला है, जिसके साथ मैं प्रारम्भ से ही प्रत्यक्ष तौर पर जुड़ा हुआ हूँ। साथ ही साथ यह एक ऐसा विषय है जिसमें अपने बारे में कुछ न कुछ कहना ही होगा। फिर भी यह कह देना समीचीन होगा कि 'देश' पत्रिका के सम्बन्ध मे कुछ कहने के सिलसिले मे मेरा 'मैं' यदि कहीं प्रकट हो जाता है तो उसे नितान्त प्रासंगिक रूप मे लेने से ही मुझे प्रसन्नता होगी।

सांस्कृतिक दृष्टि से उस समय दो स्थान विख्यात थे। पहला था एक नंबर गारस्टिन स्ट्रीट। वहाँ आकाशवाणी का कलकत्ता केन्द्र था। दूसरा था एक नंबर बर्मन स्ट्रीट। वहाँ 'आनन्द बाजार पत्रिका' और 'देश' का कार्यालय था। बाद मे दोनों के कार्यालय चौरंगी के साहबी मुहल्ले मे स्थानान्तरित हो गये। 'देश' पत्रिका कब पहले-पहल प्रकाशित हुई थी तथा पत्रिका-जगत मे उसका उस समय क्या महत्त्व था, आज से तीस-चालीस वर्ष पूर्व इसके बारे में हमें कोई जानकारी न थी। उसके साथ ही मासिक 'वसुमती' 'भारतवर्ष' और 'विचित्रा' का प्रकाशन होता था। इन चार पत्र-पत्रिकाओं में रचना छप जाती थी तो लेखक अपने को धन्य समझते थे। एक शब्द मे यदि कहा जाये तो लेखकों को रचनाकारों के दल मे प्रवेश करने का अवसर प्राप्त होता था।

प्रत्येक यशाकांक्षी लेखक यही चाहता है कि उसकी रचना ऐसी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो जिनमे नामी-नामी लेखकों की रचनाएँ प्रकाशित होती हैं। उन दिनों शरत्-चन्द्र 'भारतवर्ष' में लिखते थे और रवीन्द्रनाथ 'प्रवासी' मे। 'विचित्रा' मे शरतचन्द्र और रवीन्द्रनाथ दोनों की रचनाएँ प्रकाशित होती थी। 'विचित्रा' के संपादक में यह खूबी थी कि वे दोनो दिक्पालों को अपनी मुट्ठी मे रखते थे। इसीलिए उदीयमान लेखकों की भीड़ इन्हीं तीन पत्र-पत्रिकाओं के इर्द-गिर्द मंडराती रहती थी।

मैं आज जैसा अपात्र हूँ उस समय भी वैसा ही था। सत्रह वर्ष की उम्र से मैं इन तीनो पत्रिकाओं मे लिखता आ रहा हूँ और बदले मे यथेष्ट सम्मान तथा पारिश्रमिक मिलता रहा है।

अन्ततः जाने क्यो मन मे विचार आया कि लिखने से कुछ होता नही, रचना कोई पढ़ता भी नही और उसका कोई पारमार्थिक मूल्य भी नहीं है। परिणामस्वरूप लिखना-पढ़ना बन्द कर एक दिन कलकत्ते से लापता हो गया। उसके बाद जगत और जीवन के

मामला में जब कुछ ज्ञान प्राप्त हुआ तो कलकत्ता लौटने पर देखा कि यहाँ की आबोहवा बदल गयी है। एक पुराने मित्र से मुलाकात हुई तो वह अवाक् हो गया और बोला, "इतने दिन तुम कहाँ थे जी ?"

मैंने जब अपनी अनुपस्थिति का कारण बताया तो उसने कहा, "लिखना-पढ़ना फिर शुरू कर दो। अब रचना सम्मान की दृष्टि से देखी जाती है। बाजार में भी किताबों की काफी खपत हो रही है।"

यह समाचार मेरे लिए किसी आविष्कार से कम न था। तय किया, लिखूँगा। पहले जिन पत्र-पत्रिकाओं से लिखने के लिए अनुरोध-भरे पत्र आते थे, अपनी गरज से अब मैं उनसे मिलने गया और उनसे सिर्फ मिला ही नहीं, अपने साथ कहानी भी लेता गया और दे आया। पहले से ही परिचित रहने के कारण दो पत्रिकाओं में अपनी दो कहानियाँ दे आया। वापस आकर मैंने फिर लिखना चालू कर दिया है, यह देखकर सभी खुश हुए। सभी ने ससम्मान मेरी रचनाओं को पत्र-पत्रिका में स्थान दिया।

इस बीच एक घटना घटी। घटना के बारे में बता रहा हूँ।

एक मित्र से हर रोज मेरी मुलाकात हो जाती थी। वह दफ्तर की छुट्टी के बाद हर रोज कालेज स्ट्रीट स्थित काफी हाउस में बैठता था। मुझे भी अपने साथ ले जाता था। लेकिन स्वभाव से अभिजात रुचि का था, इसलिए तीन-मंजिले की बाल्कोनी में बैठता था जहाँ पर हर प्याले का एक आना अधिक लिया जाता था। उसे मैंने अपनी बात बतायी। उसने पूछा, "आपने किन-किन पत्रिका में अपनी रचनाएँ भेजी हैं ?"

मैंने कहा, "वसुमती, युगान्तर, बंगश्री, प्रवासी, भारतवर्ष—"

उसने आश्चर्य में आकर पूछा, "और 'देश' पत्रिका में नहीं ?"

'देश' पत्रिका का नाम सुनकर मुझे थोड़ा विस्मय हुआ। यह जानता था कि 'देश' नामक एक पत्रिका निकलती है। लेकिन वह क्या बहुत प्रचलित है ? 'देश' कोई पढ़ता भी है ?

मित्र ने कहा, "हाँ, लोग पढ़ते हैं। आजकल यह पत्रिका तरक्की कर रही है। आप चूँकि बंगाल के बाहर थे, इसलिए आपको पता नहीं चला। उसमें भी आप एक रचना भेज सकते हैं।"

मैंने पूछा, "उसका सम्पादक कौन है ?"

मित्र ने बताया, "बंकिमचन्द्र सेन।"

तब तक मैंने 'देश' पत्रिका में न तो कुछ भेजा था और न ही किसी ने भेजने का अनुरोध किया था। करेगा ही क्यों ? मैं तो बंगाल के बाहर था। उसी दिन घर आकर मैंने जल्दी में जाकर एक कहानी लिखी। उसके दो दिन बाद मैं सीधे एक नम्बर बर्मन स्ट्रीट आनन्द बाजार पत्रिका कार्यालय में जा कर मन्मथ सान्याल को अपनी रचना दे आया। मैंने कहा, "यह कहानी मैंने 'देश' पत्रिका के लिए लिखी है। कृपया इसे संपादक जी को दे दीजिएगा।"

दूसरे दिन और-और दिनों की तरह कॉफी हाउस गया और मित्र से सारी बातें

बतायी। मित्र ने कहा, "कहानी का प्लाट क्या है ?"

मैं उसे शुरू से अन्त तक विवरण कह गया। मित्र ने कहा, "आपकी यह कहानी 'देश' पत्रिका में नही छपेगी।"

मुझे आश्चर्य हुआ। किसी भी पत्र-पत्रिका का सम्पादक मेरी रचना वापस नही करता। क्योंकि मैं थोडा-बहुत प्रतिष्ठित हो चुका था। मित्र ने कहा, "दूसरी ही वजह से आपकी रचना वापस कर दी जायेगी। इसके सम्पादक बंकिमचन्द्र सेन बडे ही आदर्शवादी हैं। आपकी कहानी पर अश्लीलता का आरोप लगाकर उसे लौटा दिया जायेगा।"

बात सुनकर मुझे परेशानी हुई। एक ही साल के दौरान विभिन्न पत्र-पत्रिकाओ मे रचनाएँ प्रकाशित कराने के पीछे मेरा उद्देश्य यही था कि पाठकों को ज्ञात हो जाय कि मैं अज्ञातवास के बाद पुन' साहित्य-क्षेत्र में आ गया हूँ। फिर क्या होगा ? घर लौट कर उसी रात मैंने एक और कहानी लिख डाली। बंकिमचन्द्र सेन से मेरी जान-पहचान न थी। उनकी रुचि के सम्बन्ध मे भी मेरे मन में कोई धारणा न थी। इसीलिए मैंने एक ऐसी कहानी लिखी जिसमें कोई स्त्री चरित्र न था। दूसरे दिन उस कहानी को लेकर मैं फिर आनन्द बाजार पत्रिका कार्यालय पहुँचा। जब मैंने मन्मथ सान्याल को सारी बातें विस्तार के साथ बतायी तो वे बोले, "मैंने आपकी कहानी उन लोगों के पास भिजवा दी है।"

मैंने कहा, "वे लोग उस कहानी को नही छापेगे। उसके बदले मे एक दूसरी कहानी ले आया हूँ।"

बगल मे ही मन्मथ सान्याल के सहयोगी सुबोध घोष बैठे थे। उन्होंने कहा, "आप खुद जाकर दे आइए।"

मैंने कहा, "मैं बंकिम सेन को पहचानता नही।"

सुबोध घोष बोले, "बंकिमचन्द्र सेन 'देश' कार्यालय मे नही बैठते। उनके एक सहयोगी हैं और दरअसल वे ही संपादकीय का सारा काम-काज करते हैं। नये-नये आये हैं।"

मैंने पूछा, "वे कौन हैं ? उनका नाम क्या है ?"

सुबोध घोष बोले, "सागरमय घोष।"

बस, यही से सिलसिला जारी हुआ। चितपुर के बर्मन स्ट्रीट स्थित उस पुराने मकान के देश पत्रिका कार्यालय में वही मेरा प्रथम प्रवेश था। वर्ष और तिथि याद नही, लेकिन उसकी तसवीर पूरे तौर पर याद है। पूरब की ओर उत्तर-दक्षिण की ओर खुलता एक दो-मंजिला भवन। ऊपर टीन के ऐस्वसटस की छावनी और टाट की सीलिंग। ऊपर लगातार तीन कोठरियाँ। दाहिने सुरेशचन्द्र मजुमदार और अशोककुमार के कमरे थे जिन्हें पार करने के बाद एक ब्रिज मिलता था। उस ब्रिज में जाकर बायी ओर मुड़ने पर एक लंबा और तग गलियारा था। गलियारे से होकर जाने पर दाहिनी तरफ शुरु

में 'आनन्द बाजार पत्रिका' का रविवासरीय कार्यालय था। यहाँ दो विशाल मेजें थीं। एक पर मन्मथ सान्याल और दूसरे पर सुबोध घोष बैठते थे। शरत्चन्द्र के आविर्भाव के पश्चात् बंगला साहित्य में यदि किसी दूसरे व्यक्ति के आविर्भाव ने उस समय विस्मय-भरे रोमांच की सृष्टि की थी तो वह एकमात्र सुबोध घोष ही थे।

यही सुबोध घोष तत्कालीन साहित्य के केन्द्र-बिन्दु थे। बोरवागान के बालक दत्त लेन स्थित एक अख्यात मेस के अन्धेरे कमरे के बाशिन्दे इस सुबोध घोष ने उन दिनों साहित्य की दुनिया में जिस प्रकार की हलचल मचा दी थी, वह हम लोगों की स्मृति में इतिहास के रूप में वर्तमान है।

लेकिन सुबोध घोष का प्रसंग अभी दूर है। इसके पहले उस दिन 'देश' पत्रिका के संपादक सागरमय घोष से मेरी जो पहली मुलाकात हुई थी, उसी के सम्बन्ध में कहूँगा।

'आनन्द बाजार पत्रिका' के रविवासरीय कार्यालय को पार करते ही जो कमरा मिलता था, वह पुस्तकालय था। पुस्तकालय-कक्ष के बाद ही 'देश' पत्रिका का कार्यालय था। वहाँ छाँह फैली रहती थी क्योंकि वहाँ कदम्ब का एक बहुत बड़ा दरख्त था जो अपनी शाखा और पत्तों से उस स्थान को घेरे रहता था। उतना बड़ा कदम्ब का पेड़ कलकत्ता शहर के केन्द्र में आमतौर से नहीं दीखता। उसके पत्ते गहरे हरे रंग के थे। वर्षाकाल में उसके अनगिन फूल और सौरभ उस स्थान को मोहाविष्ट बनाये रखते थे। उस कदम्ब के नीचे ही गलियारे के आखिरी छोर पर नीचे जाने की सीढ़ियाँ थीं। प्रेस के कम्पोजीटर उन्हीं सीढ़ियों से आते-जाते थे और जरूरत पड़ने पर उन सीढ़ियों को बाहर के सदर रास्ते पर जाने के लिए यातायात-पथ के तौर पर इस्तेमाल किया जाता था।

इसके पहले उस रास्ते या उस गलियारे में कितनी बार आ-जा चुका था, लेकिन 'देश' पत्रिका के कार्यालय के भीतर नहीं गया था। कह सकते हैं कि भीतर जाने की जरूरत नहीं पड़ी थी। साथ ही साथ यह भी सोचा नहीं था कि 'देश' पत्रिका में लिखने से रचना शिक्षित और भद्र समाज की निगाहों से गुजरती है।

लेकिन इस बार घटनाचक्र के कारण मुझे अन्दर जाना पड़ा। जाने पर देखा, एक सज्जन दरवाजे की ओर मुँह किये बैठे हैं। टेबुल पर कुछ कागज-पत्तर हैं। वह उन्हीं कागज-पत्तर में डूबे हुए हैं। अनुमान लगाया कि आप ही वह सागरमय घोष हैं जिनके बारे में सुबोध घोष ने बताया था।

सामने जाकर बताया कि मेरा नाम अमुक है। क्या सान्याल जी ने उन्हें मेरी कहानी दी है?

सागरमय घोष ने कहा, "हाँ।"

"उस कहानी को वापस कर दें। मैंने सुना है कि वह आपकी पत्रिका के लायक नहीं है।"

सागरमय घोष को आश्चर्य हुआ। बोले, "पत्रिका के लायक क्यों नहीं है?"

मैंने कहा, "मेरे एक मित्र ने बताया है कि आप लोगों के संपादक कट्टर आदर्शवादी

है। उस कहानी को छापने से उनकी रुचि को ठेस पहुँचेगी। उसके बदले मे एक नयी कहानी लिखकर ले आया हूँ।"

और मैंने अपनी दूसरी कहानी उनकी ओर बढा दी।

सागरमय घोष ने उसे लिया नहीं। टेबुल की दराज को खोलकर मेरी पहले की कहानी बाहर निकाली और बोले, "आप बैठिये, तब तक मैं इसे पढकर देख लेता हूँ।"

वह कहानी पढ़ने लगे और मैं सामने की कुरसी पर चुपचाप बैठा रहा। एक-एक क्षण बीतता रहा। थोड़ी देर बाद उन्होने सिर उठाया और बोले, "मैं इस कहानी को छापूंगा।"

"छापिएगा ?"

"हां", कहकर उन्होंने पाण्डुलिपि को फिर दराज़ में रख दिया।

फिर भी मैंने कहा, "आप व्यर्थ ही यह जिम्मेदारी ले रहे हैं। मैं आपके लिए एक ऐसी कहानी ले आया हूँ जिसमें खतरे की कोई गुंजाइश नही। आप इसे ही छापिये। उस कहानी को छापने से कही आखिर में आपको किसी मुसीबत का सामना न करना पड़े।"

वह किसी भी हालत मे मेरी बात मानने को राजी न हुए। पहली कहानी ही रख ली।

मैं अपनी ताजा कहानी लेकर 'वंगश्री' कार्यालय गया और उसे वही दे आया।

दूसरे दिन अपने मित्र से उसी स्थान पर मेरी भेट हुई। मैंने उसे सब कुछ बता दिया। वह बोला, "देखिएगा, आपकी कहानी नही छपेगी।"

मैंने कहा, "लेकिन वह पूरी कहानी पढ़ गये और बोले कि उसी को छापेंगे।"

मित्र बोला, "कहने से क्या होगा ? सागरमय घोष सम्पादक नही हैं, सम्पादक तो वंकिमचन्द्र सेन हैं।"

सो सागरमय घोष उसी समय के व्यक्ति हैं। ऐसे-ऐसे दिन भी बीते हैं जब दफ्तर मे छुट्टी है, आस-पास कही कोई नही। लेकिन एक नंबर बर्मन स्ट्रीट के 'देश' साप्ताहिक कार्यालय मे उस छोटी-सी मेज पर बैठकर सागरमय घोष सम्पादकीय का काम-काज किये जा रहे हैं। उस समय हम लोगो की उम्र कम थी, सबमे भरपूर उत्साह था। साहित्य ही हम लोगों के लिए नशा, ध्यान और धारणा था। जो रचनाएं डाक से आती हैं उन्हें आदि से अन्त तक ध्यान से पढना ही सम्पादक का काम है। आजकल इस पवित्र दायित्व का कोई पालन करता है या नही, मालूम नही। लेकिन उन दिनों पालन किया जाता था। आजकल नामी लेखकों की पाण्डुलिपि मिलने के बाद उसे पढा नही जाता, तत्क्षण प्रेस में भेज दिया जाता है। लेकिन उन दिनों मांगी गयी रचनाएँ भी पहले पढी जाती थीं और पसन्द न आने पर लेखक को वापस कर दी जाती थी।

सागरमय के सहयोगी के तौर पर एक और व्यक्ति काम करते थे। उनका नाम था श्री अद्वैत मल्ल वर्मन। उनका शरीर छोटे आकार का था और वह अपने से भी अधिक छोटी एक मेज पर बैठ निष्ठा और तत्परता के साथ 'देश' साप्ताहिक का दैनिक कार्य

करते रहते थे। अक्सर उन पर निगाह नहीं पड़ती। क्योंकि हम लोगों में से जितने आदमी बाहरी थे वे बहुत तीसरे पहर ही यहाँ उपस्थित होते थे। उस समय कार्य समाप्त कर वह घर चले जाते थे।

कोई-कोई आदमी होता है जो स्वयं को हमेशा दूसरों की आग की ओट ही में रखता है। अद्वैत मल्लवर्धन दरअसल उसी किस्म के आदमी थे। इसलिए तीसरे पहर जब हम लेखकों की चौकड़ी जमती, उसमें वह नियमित तौर से अनुपस्थित रहते थे। सुना था, उत्तरी कलकत्ते के एक मकान का एक कमरा लेकर पुरानी पुस्तकों के ढेर में छिप कर वह पुरातत्त्व के अध्ययन में अवकाश का समय व्यतीत करते हैं।

वह छिप-छिप कर उपन्यास लिखते थे, इसका हमें पता न था। स्वयं 'देश' पत्रिका में काम करते थे, लेकिन एक दिन एक अप्रसिद्ध पत्रिका में उनका उपन्यास धारावाहीं रूप में प्रकाशित होते देख आश्चर्य-चकित रह गया। उस उपन्यास का नाम था —'तितमास—एक नदी का नाम'।

एक दिन मैंने पूछा, "इतनी पत्र-पत्रिकाओं के रहते आप उस पत्रिका में क्यों लिखते हैं ?"

अद्वैत मल्लवर्धन ने कहा, "उन लोगों ने माँग की थी।"

मैं समझ गया कि सच्ची बात नहीं बता रहे हैं। असली बात यह थी कि चूँकि वह 'देश' पत्रिका से संपृक्त थे इसलिए उस पत्रिका पर अपनी रचना का बोझ लादना नहीं चाहते थे। अद्वैत मल्लवर्धन को देखने से लगता था, वह या तो अपने आपके चलते परेशान हैं या फिर अपने भाग्य की विडंबना के चलते। लेकिन उनमें वह साहस न था कि अपने दुर्भाग्य का विवरण किसी को सुना कर भार हल्का कर लें।

अद्वैत मल्ल वर्धन के बारे में और बातें बाद में बताऊँगा।

याद है, उसी समय सुबोध घोष का 'तिलाञ्जलि' नामक एक उपन्यास 'देश' पत्रिका में धारावाही रूप में प्रकाशित हो रहा था। एक तो युद्ध के समय की पृष्ठभूमि पर लिखी गयी रचना, उस पर सुबोध घोष की सधी हुई लेखनी। उन दिनों सुबोध घोष झक्की जैसे थे। उनकी रचना पत्रिका में पढ़ने को नहीं मिलती थी। वह अड्डेबाजी किया करते थे। कार्यालय में उन पर काम का भार कम था। या यों कह सकते हैं कि जो लोग रचना के सिलसिले में कार्यालय आते थे, उन लोगों के साथ बातचीत करना भी उनके कार्य का एक अंग था। जब वह कहानी कहने बैठते तो हम कभी कलकत्ते के बाहर बिहार के किसी असमतल पार्वत्य अंचल में चले जाते या कभी हिन्द महासागर के अदन या पोर्ट सईद बन्दरगाह पार कर एकबारगी टिम्बक्टू।

हमारे जैसे श्रोताओं का दल कहानी सुनते-सुनते मोहाविष्ट हो जाता था। सुबोध घोष में कहानी कहने की एक खास आकर्षक भंगिमा थी। सुनने के समय हमें समय-असमय का बोध नहीं रहता था। उल्लेखनीय है कि एक नंबर बर्मन स्ट्रीट की भौगोलिक स्थिति सुविधाजनक नहीं थी। पूरब में फल की पट्टी थी, दक्खिन में साग-सब्जी का बाजार। उत्तर में क्या था, मालूम नहीं क्योंकि उस ओर जाने की कभी आवश्यकता

२. मुझे विश्वास है।

नहीं पडी। पश्चिम में चितपुर का ट्राम रास्ता था। कलकत्ते का जिसे सबसे गन्दा अंचल कहा जा सकता हैं, 'देश' पत्रिका कार्यालय उसका केन्द्रस्थल था। रात गहराते ही वह स्थान क्रमशः भयावह लगने लगता था। लेकिन हम लगभग हर रोज तीसरे पहर वहाँ हाजिर हो जाते। हमे लगता कि कलकत्ता शहर मे इतनी सुन्दर और शान्तिपूर्ण कोई दूसरी जगह नही है। एक तो रास्ते पर गाय-भैंस की खटाल, दुर्गन्ध के कारण रास्ते पर चलना मुश्किल काम, उस पर रात अधिक हो जाये तो उस मुहल्ले के कुख्यात गुण्डों के कारनामे और जुल्म। लेकिन हम इस पर ध्यान न देते थे। हमें सुबोध घोष की कहानी का लोभ रहता था।

यहाँ यह बता देना समीचीन होगा कि हम लोग कहने का तात्पर्य क्या है। हम लोगों का मतलब हैं सागरमय घोष और सुबोध घोष के अतिरिक्त और पाँच-छह आदमी। वहाँ सुशील राय और नीरेन्द्र नाथ चक्रवर्ती आते थे। कवि के रूप में उन दिनों दोनों को पर्याप्त ख्याति प्राप्त हो चुकी थी। इसके अलावा कहानीकार देव सरकार और, बैंक के कर्मचारी विश्वनाथ मुखोपाध्याय आते थे। ड्यूटी न रहती तो नरेन्द्रनाथ मित्र भी आकर बैठते थे। उन दिनों नरेन्द्रनाथ मित्र को कहानीकार की हैसियत से प्रसिद्धि प्राप्त हो चुकी थी। नरेन्द्रनाथ हमारे बीच आकर बैठ तो जाते थे जरूर लेकिन हमारी अड्डेबाजी में पूरे तौर पर शामिल हो पाते थे या नही, कह नही सकता। न तो वह श्रावण मास के मेघों की तरह गम्भीर थे और न शरत ऋतु के आकाश की तरह रौद्रोज्ज्वल ही। न तो कभी उन्हे खुलकर ठहाका लगाते देखा और न मुंह लटकाकर बैठे हुए ही। लेकिन हमने जान लिया था कि वे समस्त रसों के मर्मज्ञ हैं। उन्हें देखकर लगता कि हर मामले में ध्यान लगाकर बैठे रहने के बावजूद वह अन्यमनस्क [illegible] कहानी के बीच ही एकाएक उठकर खडे हो जाते और कहते, "चलूँ, ड्यूटी [illegible]

उस समय सुबोध घोष की कहानी बीच रास्ते मे है। हम अवाक् [illegible] हैं। नरेन्द्र चक्रवर्ती ने अचानक उसी स्थिति के बीच कहा, "सागरदा, [illegible] चाय मिल जाती तो अच्छा रहता।"

सागरमय घोष आपत्ति क्यों करने लगे? बोले, "चलें।"

इस खाने या खिलाने के मामले मे नीरेन्द्र चक्रवर्ती [illegible] करते थे। उन्होंने जेब से दुअन्नी निकाल कर मेज पर रख दी।

बोले, "हर आदमी एक-एक दुअन्नी निकाले।"

तब सस्ती के दिन थे। चार आने की [illegible] कर खतम नही कर पाते थे। एक पैसे मे एक [illegible] हुई। अमर शायद आज भी आनन्द बाजार में [illegible] लेकिन तब वह निरा बालक था। हममें [illegible] उसमें था। "जाओ अमर, एक रुपये के [illegible]"

अमर रुपया लेकर तुरन्त चल [illegible] लेकर हाजिर हो जाता। उसके [illegible]

फरही और आलू चाप रख देता। मिट्टी की प्याली में चाय डाल देता। बाद में हिंदुस्तान के अच्छे से अच्छे होटलों में कितना दामी-दामी खाना खा चुका हूँ, उसका कोई अन्त नहीं। मगर उस दिन एक नंबर बर्मन स्ट्रीट के सस्ते पकौड़े खाकर और मिट्टी की प्याली में चाय पीकर जो तृप्ति मिली थी, वैसी तृप्ति सम्भवतः कभी नहीं मिली।

सुबोध घोष की कहानी तब भी चल रही थी। घड़ी तीसरे पहर के पाँच बजा चुकी है। छः बजने-बजने को है। उसके बाद सात। उसके बाद आठ बजेगा कि''' ''

कहानी के बीच 'आनन्द बाजार' के कनाई लाल सरकार आकर हाजिर हो जाते हैं। उन दिनों वह 'देश' पत्रिका के सम्पादन कार्य से जुड़े हुए थे। कनाई लाल साहित्य और साहित्यकारों के प्रति श्रद्धालु थे। काम-काजी आदमी ठहरे। गपशप करने का उनके पास ज्यादा वक्त न रहता था, साथ ही साथ अड्डेबाजी करने का लोभ भी न संभाल पाते थे। उसके बाद 'आनन्द बाजार' के तत्कालीन सर्कुलेशन मैनेजर भूपेन गुह भी आ गये। उम्र की दृष्टि से परिपक्व होने के बावजूद उनमें अड्डेबाजी का उत्साह युवकों से कुछ कम न था।

किस तरह समय बीत जाता, इसका हमें पता ही न चलता। सुबोध घोष को जल्दबाजी रहती थी। बगल के मकान से उनकी बुलाहट होती। चपला कान्त भट्टाचार्य ने बुलावा भेजा है। उन्हें कल के लिए सम्पादकीय लिखना है।

हम उदास हो कमरे से बाहर चले आते। उसके बाद ट्राम में बैठकर अपने-अपने घर चल देते। ट्राम से सागरमय घोष, प्रभात देव सरकार, सुशील राय, पंकजदत्त दक्खिन कलकत्ते की तरफ चले जाते। प्रसंगवश यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना उचित होगा कि पंकज दत्त उन दिनों 'देश' पत्रिका के नियमित चलचित्र सम्पादक थे। चलचित्र की समालोचना भी उच्चकोटि की कला हो सकती है, इसका प्रमाण उनकी तत्कालीन रचनाओं से मिलता है।

बहरहाल एक दिन इसी अड्डे पर एम० सी० सरकार एण्ड सन्स नामक प्रकाशन-संस्था के कर्णधार सुधीरचन्द्र सरकार आकर हाजिर हुए। सुधीरचन्द्र सरकार प्रकाशक ही नहीं, साहित्य-मर्मज्ञ भी हैं। शरतचन्द्र के प्रारम्भिक युग की दो पुस्तकों का उन्होंने ही प्रकाशन किया था। 'भारती' गोष्ठी के प्रमुखतम व्यक्ति थे। उनके आगमन से हमें विस्मय हुआ। पूछने पर पता चला कि सुबोध घोष से मिलना चाहते हैं। 'देश' पत्रिका में उस समय सुबोध घोष का 'तिलांजलि' नामक उपन्यास छप रहा था, उसका वह प्रकाशनाधिकार चाहते थे।

बहुत ही खुशी की बात थी। सुबोध घोष को बुलाया गया। प्रस्ताव सुनने के बाद सुबोध घोष के लिए सहमत न होना असम्भव था। उन्होंने कहा, "ठीक है।"

सुधीर सरकार ने 'तिलांजलि' की पाण्डुलिपि यथा समय प्रेस में भेज दी। इसकी सूचना हमें मिल चुकी थी। लेकिन पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित होने में विलम्ब क्यों हो रहा है, यह बात हमारी समझ में नहीं आ रही थी।

इस बीच सुधीर बाबू एक दिन फिर एक नंबरबर्मन स्ट्रीट में आये। वह सुबोध घोष से

लिखा करते थे।

सागरमय घोष ने कहा, "सुबोध बाबू छुट्टी पर हैं।"

"छुट्टी पर ? फिर क्या उनके घर पर चलूं ? मुझे उनकी सख्त जरूरत है।"

सागरमय घोष ने बताया कि "अभी वह बीमार हैं और अस्पताल में हैं।"

"अस्पताल में ? किस अस्पताल में ?"

पता लेकर सुधीर बाबू उनसे मिलने अस्पताल चले गये। अस्पताल में सुबोध घोष और सुधीर बाबू की क्या बातचीत हुई मालूम नहीं। लेकिन दूसरे दिन सुधीर बाबू पुनः एक नंबर बर्मन स्ट्रीट में उपस्थित हुए, सीधे हमारे अड्डे पर।

आकर बोले, "नागर बाबू, 'तिलांजलि' के कारण मैं एक मुसीबत में फंस गया हूं। पुस्तक का अधिकांश हिस्सा छप चुका है। लेकिन प्रूफ देखने के बाद सोचा, इस किताब को छापकर कहीं मुसीबत में न फंस जाऊं।"

"मुसीबत किस बात की ?"

सुधीर बाबू बोले, "मुझे आशंका हो रही है कि सरकार की निगाह में यह पुस्तक कहीं आपत्तिजनक न ठहरा दी जाये।"

सागरमय घोष बोले, "आप यह बात सुबोध बाबू से कह सकते थे।"

"कहा था, लेकिन सुबोध बाबू बोले : अभी मैं अस्पताल में हूं, इसलिए इस सम्बन्ध में सागरमय घोष जो कुछ करेंगे वही किया जायेगा। आप उन्हें सब कुछ साफ-साफ बता आयें।"

सागरमय घोष कुछ देर तक सोचते रहे। उसके बाद बोले, "फिर एक काम कीजिए। आपको अपनी संस्था के नाम से छापने में संकोच हो रहा हो तो ऐसी स्थिति में प्रकाशक की जगह मेरा नाम दे दें। आप तो पुस्तक छपा ही चुके हैं। अब इसे पुस्तकाकार न निकालने से आपको काफी नुकसान उठाना पड़ेगा। इससे तो बेहतर यही है कि आवरण पृष्ठ पर भी मेरा ही नाम छाप दें। पुलिस को अगर पकड़ना होगा तो मुझे ही पकड़ेगी। सोचूंगा, किसी अच्छे काम के लिए जेल की सजा भुगत आया। जीवन में एक बार जेल जा चुका हूँ और उसका अनुभव मुझे है। ज्यादा से ज्यादा एक बार और जेल का अनुभव हो जायेगा।

सुधीर बाबू सहमत हो गये। 'तिलाजलि' प्रेस में भेज दी गयी। कुछ दिनों के बाद वह छप कर प्रकाशित भी हो गयी। प्रकाशक के नाम की जगह छपा : श्री सागरमय घोष, २० नंबर बालीगंज प्रेस, कलकत्ता।

मुझे स्मरण है कि 'तिलाजलि' का प्रकाशन होते न होते सामयिक साहित्य क्षेत्र में एक बहुत बड़े आन्दोलन की शुरुआत हो गयी। उन दिनों कलकत्ते में जितने भी साहित्यिक केन्द्र थे, प्रत्येक से कोई न कोई पत्रिका अवश्य निकलती थी। पत्र-पत्रिका हीन साहित्यिक केन्द्र मिट्टी में अपनी जड़ें जमा नहीं सके। उस समय इस तरह की तीन पत्रिकाएं थी। पहली पत्रिका थी 'कविता' जो दक्षिण कलकत्ते से प्रकाशित होती थी। वहां कवियों का ही ज्यादातर जमाव होता था। क्योंकि उस पत्रिका में कविता का

कविता-सम्बन्धी आलोचना के अतिरिक्त कुछ नहीं छपता था। दूसरी थी 'पूर्वाशा'। वह मध्य कलकत्ते से निकलती थी। यहाँ यशाकांक्षी कवि कहानीकार दोनों इकट्ठे होते थे। 'पूर्वाशा' के सम्पादक के हृदय में नये लेखकों के प्रति समवेदना थी। सम्पादक उन्हें अपने पास बुलाते और उनमें से प्रत्येक की व्यक्तिगत साहित्यिक समस्या के सम्बन्ध में उनसे वार्तालाप करते थे। मन लगाकर सुनने की कोशिश करते। तीसरी पत्रिका कलकत्ता के उत्तरी अंचल से निकलती थी। उसका नाम था 'परिचय'। 'परिचय' प्रतिष्ठित साहित्यकारों का मंच था। यानी जो लोग खुले तौर पर अपने को बुद्धिजीवी कहते थे, उन्हीं का प्रभाव इस पत्रिका पर रहता था। इन तीनों पत्रिकाओं में से किसी में नाम प्रकाशित होने से कवि और साहित्यकारों की आत्माभिव्यक्ति की इच्छा पूरी होती थी। लेकिन मैं जब बचपन में लिखता था तो इन पत्रिकाओं के अस्तित्व के सम्बन्ध में सचेत न था। दरअसल लेखक की दुनिया में जब मैं अन्तर्धान हो गया तो उसके बाद ही इन पत्रिकाओं की स्थापना हुई और उन्हें प्रसिद्धि प्राप्त हुई। उन दिनों मेरी आत्माभिव्यक्ति का माध्यम मात्र तीन ही पत्रिकाएँ थीं—'प्रवासी', 'भारतवर्ष' और 'विचित्रा'। मैं उन पत्रिकाओं से डाकघर के माध्यम से सम्बन्ध बनाये रखता था। घटनाचक्र के कारण 'देश' पत्रिका के सम्पादक स्थानीय से चाक्षुष परिचय हो जाने से रचना प्रकाशन के अतिरिक्त मेरा उनसे एक व्यक्तिगत सम्बन्ध सूत्र भी कायम हो गया। सुबोध घोष वहाँ पहले से ही थे। उसके बाद देश के अड्डे पर 'सत्ययुग' पत्रिका के सम्पादक नीरेन चक्रवर्ती आये। उनके अलावा 'विश्वभारती' के सुशील राय, गौर किशोर घोष, प्रभात देव सरकार, हरिनारायण चट्टोपाध्याय, नरेन्द्र मित्र, रमापद चौधुरी और विश्वनाथ मुखोपाध्याय का आगमन हुआ। हर शनिवार को शाम को 'देश' पत्रिका की पूरी अड्डेबाजी विश्वनाथ मुखोपाध्याय के सदानन्द रोड स्थित दोमंजिले के कमरे में उठकर चल आती थी। 'देश' के कार्यालय में जो सब आलोचनाएँ चलती थी, वहाँ भी वहीं सब चलती थी। वहाँ भी 'देश' का ही सन्दर्भ रहता था। उन दिनों हम दिन-रात के चौबीसों घंटे 'देश' के प्रसंग को लेकर व्यतीत करते थे। देश के सन्दर्भ में चर्चा-परिचर्चा किये बिना हम रह नहीं पाते। विश्वनाथ मुखोपाध्याय ने सम्भवतः 'देश' पत्रिका में तीन-चार कहानियाँ लिखी थीं। वह इस अड्डे पर नियमित तौर पर आते थे। कहानी सुनते थे और सुनाते थे। विश्वनाथ बाबू की कहानी सुनते-सुनते हम सबकी उपस्थिति और भी दिलचस्प हो उठती थी। हम आपस में एक अदृश्य आत्मीयता में बँध जाते और इस आत्मीयता-बोध का प्रमुख श्रेय नीरेन्द्र चक्रवर्ती, गौर किशोर घोष और सुशील राय को था। स्मरण है कि प्रधानतः नीरेन चक्रवर्ती के प्रस्ताव पर ही हमें बीच-बीच में विभिन्न मित्रों के यहाँ से बुलावा आता और वहाँ जाने पर अल्पाहार का सुयोग प्राप्त होता था। इस तरह हम कभी सुशील राय के घर जाते थे और कभी नीरेन्द्र चक्रवर्ती के घर। एक बार नारायण चौधरी के बुलावे पर उनके यहाँ हमारा अखाड़ा जमा था। और दूसरी बार गौरीशंकर भट्टाचार्य की छत पर। सुशील राय के घर पर हमारी वार्षिक अड्डेबाजी जमती थी। सुशील राय की सालगिरह मनाना

ही हमारा उद्देश्य रहता। सालगिरह आम तौर पर दुर्गापूजा के कई दिन पहले ही मनायी जाती थी। यानी पत्रिका का पूजा विशेषांक निकलने के कुछ पहले। जो लोग पत्रिका का संपादन करते थे उन लोगों को उस समय साँस लेने का मौका नहीं मिलता था। लेकिन सुशील राय के घर के हार्दिक आमन्त्रण और आकंठ भोजन का आकर्षण ही हमारे लिए लोभनीय था। हम लोगों के बीच जो लोग लेखक थे उन्हें भी तब समय का अभाव रहता था। लेकिन पूजा विशेषांक के प्रकाशन की जल्दीबाजी रहने के बावजूद सुशील राय के वार्षिक जन्मोत्सव पर हमारे लिए कार्य-व्यस्तता कोई महत्त्व नहीं रखती और हम निर्धारित समय पर उपस्थित हो ही जाते थे।

सुशील राय के घर के सामने एक लम्बा फुटबाल का मैदान था। एक बार हम लोग वहाँ उपस्थित थे। खाना-पीना खत्म हुआ। खाकर शरीर भारी हो गया। तभी देखा, मुहल्ले के लड़के फुटवाल खेल रहे हैं। सुशील राय बोले, "चलिये हम लोग मिल कर फुटवाल खेलें। यंग वर्सेस ओल्ड।"

इन मामलों में सुबोध घोष ही सबसे उत्साही थे। सबसे पहले वही उठकर खड़े हो गये। बोले, "राजी हूँ।" यह कहकर सीधे अपने घर चले गये। उन दिनों वे काकुड़िया रोड के एक मकान में रहते थे। वहाँ से खेल की वर्दी हाफ पैंट और हाफ शर्ट पहन कर चले आये।

अब हम लोग कैसे राजी न होते? मन्मथनाथ राय, सागरमय घोष, रमापद चौधुरी, विश्वनाथ मुखोपाध्याय, प्रभात देव सरकार, नीरेन चक्रवर्ती वगैरह तत्क्षण धोती कस कर मैदान में उतर गये। इस बीच सुशील राय लड़कों को हमारे साथ खेलने के लिए सहमत कर चुके थे। लेकिन मुश्किल मेरे साथ ही थी। उन दिनों मैं 'देश' पत्रिका में एक धारावाहिक उपन्यास लिख रहा था। यदि खेल की उत्तेजना में मेरा दाहिना हाथ टूट जाय तो फिर क्या होगा? लिखना बन्द करना पड़ेगा।

लेकिन उस समय हम मानसिक तौर पर बच्चे हो गये थे। बच्चे जब खेलते हैं तो क्या उनमें दायित्वबोध रहता है? तब आनन्द ही बड़ी चीज होती है और दायित्व गौण पड़ जाता है। स्मरण है, उस दिन सुशील राय के आग्रह पर हमारा एक फोटो भी खींचा गया।

वर्ष याद नहीं, सन्तोष कुमार घोष का 'किनु ग्वाला की गली' उन दिनों धारावाहिक रूप में प्रकाशित हो रहा था। हमारे पारस्परिक प्रेम और सहयोगिता की नींव जब दिन-दिन सुदृढ़ हो रही थी तो सन्तोष कुमार हमारे बीच से अनुपस्थित रहने लगे। उनकी अनुपस्थिति का कारण यही था कि तब वह एक दूसरी दैनिक पत्रिका में काम करने चले गये थे। बहुत अधिक काम करना पड़ता था। काम के दबाव के चलते नियमित तौर पर आ नहीं पाते थे। फिर भी बीच-बीच में अपने तत्कालीन प्रतापादित्य रोड स्थित मकान पर हमें भोजन पर बुलाते थे और गपशप, हँसी-मजाक से वातावरण को जीवन्त बनाये रखते थे। 'तिलांजलि' के बाद 'किनु ग्वाला की गली' ने पाठकों की दुनिया में जो हलचल मचा दी, उसकी वास्तव में कोई तुलना नहीं हो सकती। लेकिन अधिक दिनों तक उनका साहचर्य प्राप्त करना हमारे भाग्य में न था। नौकरी के सिलसिले में वहाँ दिल्ली चले गये।

एक नंबर बर्मन स्ट्रीट

उससे साहचर्य तो कम हो गया मगर सम्पर्क सूत्र कायम ही रहा। वही से लेखनी का सूत्र 'देश' पत्रिका से कायम हुआ। पहले जो शारीरिक उपस्थिति थी वह आत्मिक उपस्थिति में बदल गयी। फिर भी जब कभी कलकत्ता आते थे तो अनुपस्थिति की क्षतिपूर्ति अपनी हँसी, किस्से-कहानी और अड्डेबाजी के अमृत से कर जाते थे।

लेकिन प्रभात सरकार सबसे बाजी मार लेते। कलकत्ते में उनका किराये का मकान था। कलकत्ते के निकट ही एक गाँव में पैतृक मकान था। उस गाँव के नाम में मिठास घुली हुई है—माला। वह हमें अपने गाँव ले जाने को कटिबद्ध थे।

प्रभात देव सरकार अक्सर कहते, "तुम लोग भई एक बार मेरे देश नही चलोगे?"

हम लोग अनिच्छा क्यों जाहिर करें? हम तब यही चाहते थे कि हमारे एक नंबर बर्मन स्ट्रीट का दूर-दूर तक विस्तार हो। जिस प्रेम और मैत्री के दुर्भेद बंधन ने हमें टीन की एक चाल के नीचे की चहारदीवारी में घेर रखा था, उससे आजाद होकर बृहत् पृथिवी बृहत्तर छत के नीचे दीवारहीन मुक्त आंगन में विचरण करने को इच्छुक थे। हम बहुत दिनों से मौके की तलाश में थे। उन दिनों कलकत्ता शहर के राजनीतिक एवं सांप्रदायिक रंगमंच पर बहुत जल्दी-जल्दी पट-परिवर्तन हो रहा था। ब्लैकआउट की रातों में जब हम किसी रेस्तराँ की चारों तरफ से घिरी रोशनी में साहित्य और जीवन की दुर्भेद समस्याओं का निदान खोजते तो उसमें साथी के रूप में सुबोध घोष और पंकज दत्त ही ज्यादा से ज्यादा उपस्थित रहते थे। सुबोध घोष अपने जीवन की एक-एक रोमांचकारी कहानी सुनाते और हमें उन कहानियों में कथा-उपन्यास का प्लाट मिलता था। इसी तरह के अड्डे पर प्रभात सरकार ने अपने गाँव 'माला' का स्मरण दिला दिया।

बोला, "तुम लोग मेरे गाँव नहीं चलोगे भाई?"

सागरमय घोष ने मजाक के स्वर में कहा, "तुम्हारे गाँव चलूँ तो क्या खिलाओगे प्रभात?"

प्रभात देव सरकार ने कहा, "तुम लोग जो-जो खाना चाहोगे, वे सब चीजें खिलाऊँगा मसलन तुम लोग जितना माँस-मछली खाना चाहो, जितने डाब का पानी पीना चाहो, जितना·········"

प्रभात देव सरकार की तीव्र इच्छा थी कि वह अपने प्रेम का प्रमाण देकर ही रहे। उन दिनों की युद्ध से विध्वस्त मानसिकता में हम एक चीज पाने को लालायित थे और वह था प्रेम। हममें से कोई तब यशाकांक्षी न था, अर्थ की कामना भी तब हमारी कल्पना के बाहर की वस्तु थी। हम तब एक ऐसे अस्वाभाविक परिवेश में बड़े हुए थे जब जीवन हमारे लिए फासिल का ही दूसरा नाम था। धरती हमारे लिए 'किनु ग्वाले की गली' थी, संसार हमारे लिए मात्र 'बारह घर एक आँगन' था और आदमी हमारी दृष्टि में 'घास-भूसा' था। द्वितीय विश्वयुद्ध ने हमें अपने अस्तित्व को पूर्णतया अस्वीकार करने की शिक्षा दी थी। उन दिनों हम कलकत्ते की सड़कों पर गतिमान कंकालों की कतारें देख चुके है। लाशों को लाँघते हुए रास्ता पार किया है। 'माड दो' चीख सुन कर हमारी रात की नींद हराम हो चुकी है। और ठीक उसके पास ही मिलिटरी की ठेकेदारी

से रातों-रात ऐश्वर्य से फूलते-फलते लोगों को भी देखा है। एक नंबर बर्मन स्ट्रीट के हम कलाकारो के मन के आकाश में तब भयावह विपर्यय के मेघ छाये हुए थे। हम क्या लिखें? ईश्वर की अमेय करुणा की बात? प्रेम की परम पवित्रता की बात? वह सब बात 'प्रवासी', 'भारतवर्ष', 'कविता', 'पूर्वाशा' और 'परिचय' मे रहे। 'याज्ञवल्क्य का ब्रह्मवाद' या 'लेक का सवेरा' या 'ब्राह्मी लिपि का रहस्य उद्धार' हमारे काम के नही थे। हम इस ध्वंस स्तूप खंडहर से प्रेम के ईश्वर का उद्धार करना चाहते थे। हम जीवन का तर्पण प्रीति की तिलाजलि देकर करना चाहते थे।

इसलिए जब हमने देखा कि प्रभात के आमन्त्रण में आन्तरिकता की छाप है तो हम राजी हो गये। सूची तैयार हो गयी। मन्मथ सान्याल से लेकर वय की दृष्टि से सबसे कनिष्ठ रमापद चौधुरी तक को सम्मिलित कर लिया गया। किसको छोडा जाये? सभी प्रीतिभाजन ठहरे। प्रभात देव सरकार आश्चर्यजनक आदमी हैं। उसे किसी बात पर आपत्ति नही। इतने-इतने लोगों को अपनी जन्मभूमि ले गया। भिन्न व्यक्ति की भिन्न तालिका है। कोई डाब की फरमाईश कर रहा है तो कोई रसगुल्ले की। हम लोगों ने चौबीस घण्टे का आतिथ्य स्वीकार कर उसे जैसे कृतार्थ कर दिया है, उसने सानन्द हमारे सारे अत्याचार बरदाश्त किये। सिर्फ ठहरने और खाने का ही नही, रात मे उसे हर आदमी के लिए बिस्तर का इन्तजाम भी करना पड़ा। प्रभात, उसके भाई, उसकी गृहणी, सगे-सम्बन्धी, पड़ोसी और ग्रामवासी हमे हर तरह की सुख-सुविधा देने मे तत्पर रहे।

और एक बार ही नही, उसके बाद वाले साल भी हमें जाना पड़ा। फिर उसके बाद वाले साल भी। प्रभात देव सरकार का अपराध यही था कि वह हमारे दल का एक सदस्य था, एक नंबर बर्मन स्ट्रीट मे नियमित तौर पर उपस्थित रहनेवाला व्यक्ति।

इसी तरह हम लोगों की जीवन-यात्रा चल रही थी। सागरमय घोष निमित्त मात्र थे। दर असल हमी सब कुछ थे। 'देश' पत्रिका को जो लोग प्यार करते थे वे सबके सब अपने आदमी थे। हम हृदय से यही चाहते थे कि 'देश' पत्रिका का और अधिक प्रचार-प्रसार हो, दूर-दूर तक उसका प्रभाव फैले। लेकिन उस समय कोई ऐसा आदमी नही था जिसे 'देश' पत्रिका का बहुत बडा कार्यकर्ता कहा जाये। एक थे सागरमय घोष और उनके साथ एक सहकारी। शुरू मे सहकारी की हैसियत से अद्वैत मल्ल वर्धन थे जिनके बारे मे पहले ही बता चुका हूँ। वह जल्दी ही कार्यालय आते थे और जल्दी ही कही चले जाते थे। इसके अतिरिक्त एक और व्यक्ति थे—कवि यतीन्द्र सेन। वह शाम आठ-नौ बजे तक खटते रहते थे फिर भी काम समाप्त नहीं होता था। शरीर का वजन कुछ अधिक था इसलिए काम भी धीरे-धीरे करते थे। बहुत बार ऐसा भी हुआ है कि रात ८ बजे तक काम का सिलसिला चलता रहा है और वह थक कर चूर हो गये हैं। खास तौर से पूजा-विशेषांक के प्रकाशन के समय काम का दबाव बहुत बढ जाता था। सागरमय घोष रचना जुटाने मे व्यस्त रहते थे। बाकी काम कौन करे? अस्वीकृत रचनाओं को वापस कौन करे? पत्र को सहेज कर कौन रखे? गैली प्रूफ कौन देखे? एक दिन असमय कमरे के अन्दर प्रवेश करके देखा, उनके हाथ मे कलम

है, चेहरा प्रूफ पर झुका हुआ है और नाक से खर्राटे की आवाज आ रही है। उस दिन उनकी नींद में बिना बाधा डाले लौट कर चला आया।

कुछ दिनों के बाद यतीन सेन की सम्भवतः पदोन्नति हो गयी या स्थानान्तरित होकर वह 'आनन्द बाजार' में चले गये। उनकी जगह नया आदमी आया।

मैंने सागरमय घोष से पूछा, "आप कौन हैं? नये-नये आये हैं?"

सागरमय घोष ने बताया, "आपका नाम है ज्योतिष दास गुप्त। आप 'आनन्द बाजार' में काम करते हैं। बड़े ही उद्यमी व्यक्ति हैं। मैं अपने कार्यालय के लिए इन्हें ले आया हूँ।

कुछ दिनों के बाद समझ में आ गया कि सागरमय घोष का निर्वाचन कितना ठोस है। आदमी की पहचान में उनसे शायद ही कोई गलती होती है। देश पत्रिका में सुनिश्चित रचनाओं को प्रकाश में लाने के लिए सागरमय घोष में जितनी निष्ठा रहती थी, निर्धारित तिथि पर निर्मल आकार में उसे प्रकाशित करने के पीछे ज्योतिष दास गुप्त की निष्ठा उससे किसी भी अंश में कम न रहती थी। सागरमय घोष दफ्तर में रहें या न रहें, ज्योतिष दासगुप्त के रहने से ही काम चल जाता था। रचना में कोई गलती रहती तो वह ज्योतिष दासगुप्त की आँखों को धोखा देकर निकल नहीं पाती थी। वह सूक्ष्मदर्शी थे। बंगला के 'र' और 'व' में महज एक नुक्ते का अन्तर है। नुक्ते की गलती कम्पोजिटर की आँखों को भले ही धोखा दे दे मगर ज्योतिष दासगुप्त की निगाह से नहीं बच पाती थी। वह अकेले ही कापी-होल्डर और प्रूफ-रीडर का काम करते थे। और कोई गलती ज्योतिष दासगुप्त की आँखों को धोखा भी दे दे तो छापेखाने के अश्विनी बाबू फिर क्यों हैं? 'देश' पत्रिका का जितना भी मेकअप प्रूफ रहता था वह अश्विनी सरकार के हाथों से होकर ही आगे बढ़ता था। हम जब प्रेस में जाते, अश्विनी बाबू मुसकरा कर हमारा स्वागत करते। 'देश' पत्रिका की कर्मचारी सूची में हो सकता है वह मेकअप मैन के रूप में ही परिचित हों लेकिन लेखकों की निगाह में वह 'देश' के कर्णधार थे। हम सुरेशचन्द्र मजुमदार, अशोक कुमार सरकार या बंकिमचन्द्र सेन को नहीं पहचानते थे। हम तो बस उस अश्विनी बाबू को पहचानते थे जो तिपाई पर बैठे हमारी रचनाओं को अपने हाथ में थामे रहते थे। उनके हाथ में ही हमारा जीवन-मरण बंधा रहता था। यदि वह अपने हाथ का काम रोककर किसी पाण्डुलिपि को पढ़ते-पढ़ते ध्यान में खो जाये तो यह मान लेना होगा कि उस रचना का भविष्य उज्ज्वल है। इसलिए लेखकगण अश्विनी बाबू के पास चुपचाप जाकर पूछते, "मेरी रचना कैसी लगी अश्विनी बाबू?"

यह जरूर है कि 'देश' के प्रबन्धक गण भी 'देश' पत्रिका के सम्बन्ध में उदासीन नहीं थे। बल्कि कहना तो यह चाहिए कि पत्रिका के सम्पादन कार्य में किसी तरह की अड़चन डालने के बजाय वे सह सम्पादन और लेखकों की पूर्ण स्वाधीनता के पक्षधर ही रहे। यही वजह है कि उन दिनों 'देश' पत्रिका में प्रकाशित रचनाओं ने पाठकों की दुनिया में हलचल मचा दी थी।

एक दिन सागरमय घोष बोले, "एक साहित्य विशेषांक निकाला जाय तो कैसा रहेगा नीरेन ?"

नीरेन चक्रवर्ती ने कहा, "साहित्य विशेषांक का मतलब ?"

"पच्चीस वैशाख को रवीन्द्रनाथ की वर्षगाँठ पर एक विशेषांक निकालूंगा । नाम रखूंगा—'साहित्य विशेषांक' । नाम ठीक है न ?"

इस बात का समर्थन करनेवालों की कमी न रही । 'देश' को साहित्यिक पत्रिका के रूप में विज्ञापित किया जा रहा है, इसलिए यह प्रस्ताव सबको युक्तिसंगत प्रतीत हुआ । दरअसल रवीन्द्रनाथ बंगला साहित्य के सबसे बड़े गौरव हैं । रवीन्द्रनाथ के साहित्य में ही हम अपनी संस्कारबद्ध प्रकृति को स्वतन्त्र बनाकर उसे समस्त मानव जाति के बीच सम्यक् रूप से प्रसारित होते देख पाते हैं । हम जहां सीमित हैं, रवीन्द्रनाथ वहाँ असीम हैं । हम जहाँ संकीर्ण हैं रवीन्द्रनाथ वहाँ बाधामुक्त हैं । एक ही शब्द में यदि कहा जाये तो रवीन्द्रनाथ का अर्थ साहित्य और साहित्य का अर्थ रवीन्द्रनाथ हैं । अतः साहित्य अंक प्रकाशित करने के पीछे यही महान उद्देश्य काम कर रहा था कि रवीन्द्रनाथ के साहित्य से एकात्म-बोध स्थापित किया जाय और इस बात का अनुभव किया जाये कि उस एकात्म-बोध में ही हमारा मंगल और कल्याण निहित है । हमसे पूर्व हमारे अग्रजो ने यही घोषणा की थी—"रोक सामने पंथ रहें बैठे रवीन्द्र कवि—मेरा पथ है दूर, बहुत दूर" । लेकिन 'देश' पत्रिका का पथ उससे विपरीत था । रवीन्द्रनाथ को अस्वीकार करके नही बल्कि उन्हे आत्मसात् और अंगीकार करके और अधिक दूर पहुँचना होगा । साहित्य ही उस लम्बे सफर का वाहन होगा । विज्ञान और साहित्य मे मूलगत अन्तर है । विज्ञान और साहित्य दोनो का लक्ष्य समता-बोध है । लेकिन विज्ञान जिस समता-बोध के पास पहुँचना चाहता है वह प्रयोजन द्वारा शासित है इसलिए उसके आगे बढ़ने के मार्ग मे हिंसा की घटनाएं होती है । लेकिन साहित्य का समता-बोध प्रेम के द्वारा शासित है । इसका समता-बोध निःकलुष समता-बोध या विश्व-बोध है । 'देश' पत्रिका के सहित्य अंक के माध्यम से विश्व-बोध की ओर अग्रसर होने का प्रस्ताव निहित था ।

सुविधा उठाने वालो की कोई कमी नही रहती । कमी रहती है झंझट से मुकाबला करने वालो की । यानि लेखक तो लेख लिखकर मुक्त हो जायेंगे मगर पत्रिका के संचालन का व्यय कौन वहन करेगा ? लेखक भी इस सम्बन्ध मे निश्चिन्त नही रह सकते हैं । माना प्रदीप जलाना लेखकों का काम है मगर बत्ती बनाने का काम दूसरे के मत्थे सौंप कर क्या वे निश्चिन्तता की साँस ले सकते हैं ?

प्रस्ताव कनाईलाल सरकार के कान में पहुँचा । बाहर से कनाईलाल सरकार देखने में जैसे लगते थे वास्तव में वे वैसे थे नही । उनके अन्तर में एक शाश्वत शिशु हमेशा छिप कर बैठा रहता था । इसलिए वह एक ही क्षण में गरम और दूसरे क्षण में नरम हो जाते थे । उनके एक हाथ मे खड्ग था तो दूसरे मे अभय । उनकी सहायता के बिना कुछ करना सम्भव न था क्योंकि विज्ञापन का इन्तजाम उन्हें ही करना था । विज्ञापन का मतलब है प्रदीप के लिए तेल । तेल की व्यवस्था न हो तो प्रदीप प्रकाश कैसे देगा ?

इसके अतिरिक्त वह कोई साधारण विज्ञापन न था कि बम्बई जाकर बड़े-बड़े फर्म से मिल कर उनकी सम्मतियाँ इकट्ठी कर ली जायें। इसके लिए रसद का इन्तजाम कालेज स्ट्रीट के उन पुस्तक-प्रकाशकों से करना था जिनके पास कम पूंजी थी और जो व्यवसाय की दुनिया में निम्न मध्य वित्त श्रेणी के थे। जिस देश में सैकड़े में तिरानवे व्यक्ति निरक्षर हैं वहाँ प्रकाशन का व्यवसाय भी कोई व्यवसाय है? साहित्य अंक में उन्हीं लोगों की प्रधानता रहनी चाहिए। इसलिए उन लोगों से बातचीत करने के लिए सागरमय घोष हम लोगों को अपने साथ लेकर शुरू में कालेज स्ट्रीट के किताबों के मुहल्ले में गये। एन० सी० सरकार प्रकाशन-संस्था के सुधीर चन्द्र ने मेरे प्रथम उपन्यास का प्रकाशन किया था। शुरू में उन्हीं की दुकान में गये। सुधीर बाबू के लड़के सुप्रिय सरकार प्रस्ताव सुनकर उल्लसित हो उठे। बोले, "आपकी योजना बहुत ही अच्छी है सागर बाबू। हम आपको एक पृष्ठ के विज्ञापन की गारंटी देते हैं।"

इसके अतिरिक्त यह भी कहा, "बंगला पुस्तकों का कोई सिलसिलेवार सूचीपत्र नहीं है। इससे वह कमी दूर होगी।"

इसी तरह सागरमय घोष को साथ लिये मैं अपने कई परिचित प्रकाशकों के पास गया। उनमें न्यू एज कम्पनी भी थी। उन लोगों ने इस प्रस्ताव का स्वागत किया।

सागरमय घोष ने उन लोगों से कहा, "आप लोग कम से कम एक-एक पृष्ठ का विज्ञापन दे दें तो हमारा काम चल जाये। इससे अधिक हमें नहीं चाहिए।"

सभी सहमत हो गये। इसके बाद कनाईलाल सरकार की बारी थी। पहले ही कह चुका हूँ कि वह अथक कर्मी है। 'देश' पत्रिका में आज विज्ञापन की जो प्रचुरता देखने को मिलती है इसके पीछे कनाई बाबू का अवदान ही सर्वाधिक है। उनके बाद जिनका अवदान उल्लेखनीय है वह हैं इन्दु राय। इन्दुराय को जिन्होंने देखा है, जो उनसे परिचित हैं, उन्हें मालूम है कि इन्दु राय अपनी विद्या में कितने पारंगत हैं। इन्दु बाबू केवल कर्मठ पारदर्शी नहीं हैं, उनके पास एक और अचूक हथियार है और वही उनके चरित्र का मूल्यवान मूलधन है। वह है उनकी हंसी। आज भी सड़क, पार्क और बाजार में उनसे अक्सर भेंट हो जाती है। भेंट होने पर मन में बीच-बीच में इच्छा जगती है कि पूछूँ, यह हंसी आपने किस दुकान से खरीदी थी?

उसी समय सम्पूर्ण देश में एक दैवी विडंबना की शुरुआत हुई। भारतीय इतिहास का वह एक कलंकपूर्ण अध्याय है। वह राजनीति और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का षड्यन्त्र है, यह बात तब हमारी समझ में आ गयी थी लेकिन हम उनके सिर्फ खिलौने थे, शतरंज के मोहरे, फलस्वरूप सारे देश में साम्प्रदायिक दंगा छिड़ गया और हमारा विवेक एवं करुणा रक्त की धारा में बह गये। घर से बाहर निकलना विपत्तिजनक हो गया और बाहर से घर लौटना अनिश्चित हो गया। बहुत दिन पहले एक साहित्यकार कह गये हैं, "राजनीति एक ऐसा राज है जिसकी कोई नीति नहीं हुआ करती।" और उस दिन का दंगा मात्र राजनीति न था बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति था। राजनीति का ढोंरा साँप काट ले तो फिर भी गनीमत है मगर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का गेहुँअन काट ले

तो उसका दंश मारक साबित होता है।

याद है, इतने दिनों की 'देश' पत्रिका—जो हमेशा निर्धारित तिथि पर प्रकाशित होती थी—का पहला और आखिरी व्यतिक्रम उसी समय देखने को मिला। शुक्रवार का अंक बुधवार को प्रकाशित हुआ। पत्रिका-प्रकाशन की निर्धारित तिथि को बरकरार रखना सम्भव न हो सका। हम लोगो की इतने दिनों की अड्डेबाजी आकस्मिक तौर पर समाप्त हो गयी। एक नंबर बर्मन स्ट्रीट की भौगोलिक स्थिति एक ऐसे रास्ते के संगम पर थी जिसके दोनों ओर प्रतिपक्षी एक-दूसरे के खून के प्यासे हो गये थे। 'आनन्द बाजार पत्रिका' के कर्मचारियों की बात ही दीगर थी। उन लोगों को वहाँ किसी भी हालत मे पहुँचना ही था। वहाँ एक बार किसी तरह पहुँच जाना चाहिए, बस इतना उन लोगों के लिए रात में ठहरने और खाने का इन्तजाम प्रबन्धको की ओर से किया गया था। लेकिन हम लोग? खासकर मेरे साथ एक समस्या थी और वह यह कि अपने धारावाही उपन्यास की किस्त वहाँ कैसे भेजूँ? घर पर सारी रात जगकर लिखता था और रात-भर 'वन्दे-मातरम्' तथा 'अल्लाह ओ अकबर' की ध्वनि गूँजती रहती थी। सोचता था, रात मे जब नींद आयेगी ही नही तो लिखकर ही रात गुजार दूँ। सुबह 'देश' कार्यालय मे पहुँचना मुश्किल था। इसलिए सागरमय घोष के २० नंबर बालीगंज प्लेस वाले मकान में पाण्डुलिपि के कुछ पृष्ठ पहुँचा आता था। दिन-रात अथक परिश्रम करने और महीनों तक रात्रि-जागरण करने के कारण जो होने को था, वही हुआ। मुझे आँखो से कुछ दिखाई पड़ना बन्द हो गया। विवश होकर मुझे बीच में ही उपन्यास समाप्त करना पड़ा।

सात महीने के बाद जब आँखे खोली तो एक आँख बिल्कुल चौपट हो चुकी थी और दूसरी आँख से थोड़ा-बहुत दीख पड़ता था। सूर्यास्त के बाद लिखना-पढ़ना बिल्कुल वर्जित हो गया।

लेकिन जब एक बेधक दु:संवाद सुनायी पडा तो मुझे अपना दुर्भाग्य उसके सामने तुच्छ जैसा प्रतीत हुआ। सुनने में आया, अद्वैतमल्ल वर्मन अब इस दुनिया मे नही रहे। वही 'तितास एक नदी का नाम' के लेखक। आर्थिक दैन्य और परेशानियो के भार ने उन्हें जिन्दा न रहने दिया। हमने अनुभव किया, अद्वैत बाबू चले गये, किन्तु 'तितास एक नदी का नाम' अपने उपन्यास से बंगला साहित्य पर एक अमिट छाप छोड़कर गये हैं। साहित्य की दृष्टि से कौन गिलट है और कौन निखालिस सोना—इसकी पहचान लेखक के जीवन-काल मे पाठक नही कर पाते। पहचान होती है तो बाद मे। आज इतने दिनों के बाद पहचान मे आया कि अद्वैतमल्ल वर्मन का 'तितास एक नदी का नाम' सचमुच ही निखालिस सोना है।

बहरहाल साम्प्रदायिक दंगा-फसाद, युद्धजनित ब्लैक-आउट वगैरह का दौर जब समाप्त हो गया तो एक नंबर बर्मन स्ट्रीट मे पुन: थोड़ी-बहुत स्वाभाविकता लौट आयी। उस समय दैनिक 'सत्ययुग' समाचार पत्र का प्रकाशन बन्द हो जाने पर बहुतेरे लोग 'आनन्द बाजार' में काम करने चले आये। उनमें से नीरेन्द्र चक्रवर्ती प्रधान व्यक्ति हैं।

पहले वह हमारे अड्डे पर आंशिकरूप में सम्मिलित होते थे। अब पूरी तरह सम्मिलित होने लगे। उसके बाद गौर किशोर घोष आये। गौर किशोर घोष की रचना पहले भी पढ़ चुका था, लेकिन अब वह 'देश' पत्रिका में 'रूपदर्शी' बनकर चले आये और उनके नये रूप का साक्षात्कार हुआ। नये नाम-ग्रहण के साथ गौर किशोर घोष ने मानों नया जन्म भी ग्रहण किया। शरत्‌चन्द्र के बाद जब सस्ती भाव-विह्वलता और आँसू से बंगला-साहित्य-सरस्वती का कण्ठ अवरुद्ध हो रहा था, उस समय रूपदर्शी का आविर्भाव हुआ और उन्होंने हँसाकर, सोचने-विचारने को विवश कर और चाबुक मार कर हमें चंगा बना दिया। यहाँ तक कि व्यंग्यसम्राट 'परशुराम' तक रूपदर्शी की रचना पढ़कर चौंक पड़े। उन्होंने सोचा था 'विरिंचिबाबा' लिखकर मैंने ढकोसले का मुखौटा उतार दिया है। लेकिन यह कौन आ धमका ? 'रूपदर्शी' की रचना पढ़कर उन्हें भी स्वीकार करना पड़ा था कि जीवन के रूप का व्यंग्यात्मक दर्शन इसके पहले उनकी निगाह से नहीं गुज़रा था।

इसके बाद दिन पर दिन अड्डा फिर से गुलजार होने लगा और यह गुलजार होना केवल वंश-गौरव की दृष्टि से न था, कर्म-कुलीनता की दृष्टि से भी था। रूप, गुण, मर्यादा, रम्यता और चारुचित्रय के कारण 'देश' पत्रिका का प्रचार तब देश की सीमा में ही आबद्ध न रहा। देश की सीमा लाँघकर वह सुदूर विदेश में भी परिक्रमा करने लगा। देश तब राजनीतिक दृष्टि से स्वाधीन हो चुका था और उसके साथ ही एक नबर बर्मन स्ट्रीट का 'देश' भी मुक्ति की साँस लेने के लिए कमर कसकर खड़ा हो गया। वह संस्कार, अनाचार, ढकोसला, साम्प्रदायिकता, शठता और कूपमण्डूकता से मुक्ति पाने का प्रयास था। सुबोध घोष, नीरेन चक्रवर्ती, गौरकिशोर घोष, प्रभातदेव सरकार और सुशील राय तो पहले से ही थे, सैयद मुजतबा अली भी आकर उनके साथ शामिल हो गये। उस समय उनकी पुस्तक 'देश-विदेश' में धारावाही रूप में प्रकाशित हुई थी और उसने हलचल मचा दी थी। किसी जमाने में प्यारी चाँद मित्र उर्फ टेक चाँद ठाकुर ने बंगला साहित्य की भाषा और भाव के क्षेत्र में एक क्रान्ति ला दी थी। उसके बहुत दिनों के बाद प्रमथ चौधरी उर्फ बीरबल भी उसी तरह की क्रान्ति ले आये थे। इस इतिहास से सभी परिचित हैं। अब उनके ही परवर्त्ती सूरी सैयद मुजतबा अली साहब का आविर्भाव हुआ। मुजतबा अली को हम कभी अड्डे पर नहीं पाते थे मगर उनकी रचना देखने और पढ़ने को मिलती थी। पढ़कर लगता था, यद्यपि वह सशरीर अड्डेबाजी में शामिल नहीं हो रहे हैं, लेकिन उनकी कलम में बैठकबाजी और अड्डेबाजी की ही छाप है और उसी से उनकी अनुपस्थिति की खाई पट जाती थी।

एक नबर बर्मन स्ट्रीट के संचालक भी 'देश' पत्रिका की उत्तरोत्तर श्रीवृद्धि देखकर सचेत हो गये। हम अक्सर सागरमय घोष से कहते—"देश' के आवरण-पृष्ठ में तनिक सुधार लायें। क्या जरा मोटे और चमकीले कागज का आवरण पृष्ठ नहीं छाप सकते हैं ?"

उन दिनों आवरण पृष्ठ पर एक ब्लाक महीने-भर तक चलता रहता था—पतले न्यूज प्रिंट के ऊपर मामूली दोरंगा ब्लाक। हम लेखकों को यह बुरा लगता था। 'देश'

पत्रिका को हम अपनी पत्रिका समझते थे, इसलिए उसके बहिरंग का दारिद्रय हमारे मन में पीडा पहुँचाता था। हमने एक दिन सागरमय बाबू से कहा, "आप जरा अशोक बाबू से कहिये कि जिस पत्रिका का इतना प्रचार है उसकी शक्ल देखकर लोग क्या कहेंगे ? 'देश' की दरिद्रता हम लोगों की दरिद्रता है।"

सागरमय घोष ने कहा, "नये मकान में जाने के बाद उसकी शकल में बदलाव आ जायेगा।"

"नये मकान का मतलब ?"

सुबोध घोष ने बताया कि 'देश' पत्रिका का कार्यालय एक नम्बर बर्मन स्ट्रीट से हटकर चौरंगी मुहल्ले मे जानेवाला है।

"यहाँ से हट रहा है ?"

"हाँ, चौरंगी मुहल्ले में आनन्द बाजार का मकान बन रहा है। उसके तैयार होने में कुछ ही महीनो की देर है।"

यह बात हमे अच्छी नहीं लगी। एक नम्बर बर्मन स्ट्रीट भले ही गन्दी जगह है लेकिन इतने दिनों की स्मृति से भरे-पूरे कदंब के वृक्ष के तले इस टीन के चालघर को छोड़कर चले जाना होगा। सुनकर मन मे बहुत ही कष्ट पहुँचा। चौरंगी मुहल्ले के उस कार्यालय में मेज पर अखबार बिछाकर फरही और पकौडे खाना तथा मिट्टी के सकोरे में चाय पीना क्या शोभा देगा ? वह तो साहबों का मुहल्ला है। एक नम्बर बर्मन स्ट्रीट मे जो चीज़ शोभा पाती है वह क्या चौरंगी मुहल्ले मे शोभा पायेगी ?

लेकिन दुनिया के दैनन्दिन परिचालन में हमारी इच्छा की कीमत ही क्या है ? हम लोगों की इच्छा से न तो सूर्य का उदय होता है और न ही ग्रीष्म, वर्षा, शीत का आविर्भाव या तिरोभाव होता है। हम लोगों की इच्छा के अनुसार कुछ भी परिचालित नही होता है। हमारी इच्छा-अनिच्छा ढोने की जिम्मेदारी जब किसी पर नही है तो वैसी इच्छा न पालना ही युक्तिसंगत है। अतः एक नंबर बर्मन स्ट्रीट की सीमाबद्ध आयु का पूरे तौर पर उपभोग करने के निमित्त हमने अड्डेबाजी की सरहद को और अधिक विस्तृत कर दिया। पहले हमारी बैठकबाजी शाम सात-आठ बजे तक ही चलती थी, अन्त मे वह चाय की दुकान की झुग्गी में रात दस-ग्यारह बजे तक चलने लगी। यानी 'देश' के कार्यालय से बाहर निकल कर भी 'देश' के सन्दर्भ मे ही चर्चा चलती रहती थी। उन दिनो चाहे घर हो या बाहर, 'देश' के अतिरिक्त हमारी चर्चा का कोई दूसरा विषय नही रहता था।

ऐसे ही मे एक दिन ज्योतिरिन्द्र नन्दी से परिचित होने का मौका मिला। वह यद्यपि 'देश' मे लिखा करते थे परन्तु हमेशा नेपथ्य ही मे रहते थे। अब की उनसे साक्षात् परिचय हुआ। उसके बाद जितनी बार भेंट हुई हमारा परिचय घनिष्ठता मे बदलता गया। ज्योतिरिन्द्र नन्दी से मिलकर हमें एक विचित्र अनुभव प्राप्त हुआ था। उनकी रचना के सन्दर्भ मे पाठक वर्ग उनकी बहुत तारीफ कर चुके थे। लेकिन मनुष्य के रूप मे वह ऐसे है कि जहाँ कही भी रहते हैं वहाँ की वायु तक परिशुद्ध हो जाती है, जिस

रास्ते में चलते हैं, वहाँ की मिट्टी भी उनके पद-स्पर्श से पवित्र हो जाती है। कम से कम मुझे तो ऐसा ही अहसास हुआ है।

रमापद चौधुरी के आविर्भाव से अब हमारी जमात सोलहो कलाओं से पूर्ण हो गयी। जमात में आने के पहले ही 'दरबारी' कथा-संकलन के कारण उन्हें काफी ख्याति प्राप्त हो चुकी थी। जो आदमी देखने में इतने नीरस लगते हैं उनका हृदय इतना सरस हो सकता है—इसका परिचय उनके शारीरिक सान्निध्य से प्राप्त हुआ। इसके अलावा विमलकर का आगमन हुआ। 'देश' पत्रिका के सहकारी संपादक के रूप में वह भी चले आये। जब 'देश' पत्रिका का प्रचार और प्रभाव शिखर पर था, उसी समय उनका आगमन हुआ। वह जितने ही मृदुभाषी हैं, कलम के उतने ही धनी। रमापद चौधरी और विमलकर सीधी सडक पार कर बंगला साहित्य के अन्दर महल में पहुँचे थे। रमापद चौधुरी की जिस लेखनी से किसी दिन 'दरबारी' की छोटी-छोटी कहानियाँ निसृत हुई थीं, उसी लेखनी से एक दिन 'लाल बाई' की रचना हुई। और लाल बाई लिखने के बाद ही रमापद चौधुरी वास्तव मे रमापद चौधरी हो गये। विमलकर की प्रतिभा की छाप 'दीवार' उपन्यास के माध्यम से प्रकट हुई। एपिक उपन्यास की दुनिया में 'दीवार' ने उसी समय विमलकर के लिए एक स्वतन्त्र विशिष्ट स्थान कायम कर दिया।

यह भी जैसे एक प्रकार का प्रसूति घर ही है।

बंगला साहित्य की आत्मा नये सिरे से जन्म ग्रहण करेगी, यह सोचकर 'देश' पत्रिका के प्रसूति घर में इसी तरह नाना प्रकार के रस, स्वर और रंगो के मंगल-प्रदीप जलाये जा रहे थे। एक ओर जहाँ सुबोध घोष का 'तिलाजलि', सन्तोष घोष का 'किनु ग्वाला की गली', ज्योतिरिन्द्र नन्दी का 'सूर्यमुखी' एवं 'बारह कमरा एक आँगन', हरिनारायण चट्टोपाध्याय का 'इरावती', नरेन्द्र नाथ मित्र का 'हरिवंश', कालकूट उर्फ समरेश वसु का 'अमृत कुम्भ की खोज में' और विमलकर का 'घास-भूसा' ग्रन्थ रूप में प्रकाशित हुए थे उसी प्रकार दूसरी ओर गौर किशोर घोष का 'पानी बरसे पत्ता हिले' धारावाही रूप में प्रकाशित हुआ। इन लोगो के पदचिह्नों पर चलते हुए एक दिन एक नवर बर्मन स्ट्रीट में एक और प्रतिभा का आविर्भाव हुआ। वह है शंकर। उम्र की दृष्टि से वह बिलकुल नये थे परन्तु चिन्तन की दृष्टि से उनकी पैठ गहरी थी। चेहरा देखने पर जिनके बारे में सोचा भी नही जा सकता, पर 'देश' पत्रिका में रचना पढने के बाद उनकी गहराई का पता चला। बाद मे वह रचना 'कितने अनजाने' के नाम से प्रकाशित हुई थी। हम इसलिए अवाक् हो गये थे कि उस रचना में प्रारम्भिक रचना का कहीं कोई शैथिल्य नहीं था। बल्कि नयेपन की सशक्तता के साथ ही कुशल लेखक की प्रज्ञा थी जो उसे स्थायित्व प्रदान करती थी। शंकर को प्रकाश मे लाने का श्रेय अवश्य ही गौरकिशोर घोष यानी रूपदर्शी को है।

इस तरह एक ओर जहाँ 'देश' पत्रिका के प्रसूतिघर नवजातकों के प्राण-चेष्टा के प्रयास की क्रन्दन-ध्वनि से मुखरित हो उठा, वही दूसरी ओर पाठकवर्ग भी अपनी प्रत्याशा की पूर्ण प्राप्ति पर दिशा-दिशा में शंखघोष करने लगा। समरेश वसु तब नवागन्तुक थे।

मुझे विश्वास है

उनकी 'गुणिन' (ओझा) कहानी पहली बार 'देश' में प्रकाशित हुई और पाठकों की दुनिया में उसने अपना स्थान बना लिया। नवीन के जीवन-वेग और यौवन की उद्दाम दीप्ति मे पूर्ण उनके आविर्भाव का सबने स्वागत किया। इसके पूर्व उनके 'अमृत-कुम्भ की खोज में' का स्वागत किया जा चुका था। इन्ही के आस-पास चल रहा था शरदिन्दु बन्द्योपाध्याय का 'दुर्ग रहस्य' और बनफूल का 'स्थावर'। प्रफुल्ल राय ने साहित्य-जगत में प्रवेश करते ही अपने धारावाही उपन्यास 'पूर्व पार्वती' से चमत्कृत कर दिया। जरासंध उर्फ चारुचन्द्र चक्रवर्ती का उपन्यास 'लौह कपाट' न केवल उनके जीवन की श्रेष्ठ रचना थी और उसने न केवल उन्हें अविस्मरणीय बना दिया, बल्कि इससे बंगला साहित्य के भंडार की भी श्रीवृद्धि हुई। ताराशंकर वन्द्योपाध्याय ने 'कालान्तर', वनफूल ने 'स्थावर', विभूतिभूषण मुखोपाध्याय ने 'द्वार के निकट' एवं 'कुशी प्रागण का पत्र', प्रमथनाथ विशी ने 'केरी साहब का मुन्शी', सतीनाथ भादुड़ी ने 'ढोंढा ई चरित मानस', मनोज वसु ने 'रात का मेहमान', नारायण गंगोपाध्याय ने 'सूर्य सारथी', प्रबोधकुमार ने 'हुस्नबानू' और अचिन्त्यकुमार सेनगुप्त ने 'पहला कदंब फूल' लिखा।

नये और पुराने के समन्वय से उन दिनों सागरमय घोष ने जिस साहित्य का आयोजन किया था उसके लिए कनाईलाल सरकार, इन्दु राय, ज्योतिप दास गुप्त, प्यारी मोहन दास, अश्विनी सरकार वगैरह समिधा की व्यवस्था करने लगे। चौरंगी अचल के साहबी मुहल्ले की नवीन प्रासादपुरी मे ये ही लोग आज भी उसी उत्साह से समिधा की व्यवस्था कर रहे हैं। उन दिनों जो लोग नवीन थे अब वे प्रवीण हो चुके हैं। उन लोगों का अनुसरण कर कितनी ही नयी प्रतिभाओ का उदय हुआ है। नवीन और प्रवीण के समन्वय से 'देश' पत्रिका की जो साधना प्रारम्भ से ही चल रही थी, वह अब भी चल रही है। अब शीर्षेन्दु मुखोपाध्याय, सुनील गंगोपाध्याय, श्यामल गगोपाध्याय, वरेन गंगोपाध्याय, शरतकुमार मुखोपाध्याय जैसी नयी प्रतिभाओं का आगमन हुआ है। आज ज्योतिपदास गुप्त के बाद रवि वसु, राधाकान्त शी, पंकज दत्त और सेवाव्रत गुप्त जैसे रचनाकार आये हैं।

लेकिन यह सब चौरंगी के साहबी मुहल्ले की बात है। एक नंबर बर्मन स्ट्रीट और आज के छह नंबर सुटारकिन स्ट्रीट में आदर्शगत एवं ऐतिह्यगत सादृश्य रहने पर भी उसके भौगोलिक तारतम्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

इसीलिए इस नये भवन के प्रवेश-द्वार के नवीन परिवेश में खड़े होने पर आज भी एक नंबर बर्मन स्ट्रीट की उस आडंबरहीन आबोहवा की याद आ जाती है। साथ ही अन्तिम दिन की सारी बातें भी याद आ जाती हैं। तीसरा पहर बीत रहा है। एक-एक कर तमाम चीजे नये भवन में चली गयी। मैं भी उस दिन देखने आया था। कुरसी, मेज, आलमारी ट्रक पर लादी जा रही हैं। प्रेस के भी सरोसामान उठाये गये। जिस मेज पर बैठ हम फरही, पकौड़े खाते थे और चाय पी थी उसे भी कुली के सिर पर रखा गया। पाण्डुलिपियों से भरी दोनो आलमारियाँ भी ट्रक पर रखी गयीं। मकान खाली हो गया। दवात, कलम और रद्दी कागज की टोकरी तक को नही छोड़ा गया। थोड़ी

देर बाद शाम उतर आयी। बर्मन स्ट्रीट मे अन्धेरा रेंगने लगा। सड़क की दो-चार गैस बत्तियाँ टिमटिमाने लगी। लेकिन उससे अन्धेरा दूर नही हुआ। वह अन्धेरा था, विस्मृति का अन्धेरा, अवसन्नता का अन्धेरा, क्लान्ति और अशान्ति का अन्धेरा।

उस अन्धेरे में जब मेरी दृष्टि एक चीज पर पड़ी तो मैं चिहुँक उठा। वह था कदंब का वही पेड। 'देश' कार्यालय के टीन की चाल के ऊपर खड़े जिस कदंब के पेड ने हमारी कितनी ही क्लान्ति दूर की थी, हम लोगों को कितने दिनो तक छाह प्रदान की थी, भादों के महीने में डाल-डाल पर असंख्य फूल खिलाकर हमारे मन को उल्लसित कर दिया था, वह कदंब का पेड आज भी उसी स्थान पर उसी तरह खडा है। उस कदंब के पेड को लोग नये कार्यालय में क्यों नही ले गये? उसकी बात सब क्यों भूल गये?

लेकिन नही, लगा कि अच्छा ही हुआ। उसे नही ले गये तो अच्छा ही हुआ। सच। साहबी मुहल्ले में कदंब का पेड़ कही शोभा पाता?

●

मुझे विश्वास है

(प्रस्तुत निबन्ध 'देश' पत्रिका के संपादक के अनुरोध पर लिखा गया था। रचनाकार विमल मित्र के लेखकीय जीवन और रचना-प्रक्रिया का इसमें बड़ा ही जीवन्त और सरस विवरण मिलता है।—अनुवादक)

सेवा मे,
माननीय संपादक, देश साप्ताहिक
मान्यवर,

आपका पत्र मिला। आप मेरे लेखकीय जीवन के प्रारम्भ से आज तक के सम्पूर्ण ज्ञातव्य विषयो के सम्बन्ध में मेरी एक रचना प्रकाशित करना चाहते हैं। अपने बारे में स्वयं लिखने से बढ़कर दुरूह दूसरा कोई कार्य नही होता। बहुत दिनों तक लेखन-जगत मे वास करने के कारण इच्छा या अनिच्छा से मुझे अनेक रचनाएं लिखनी पड़ी है। जब मैं आंशिक रूप मे लेखक था उस समय जो स्थिति थी आज पूर्ण रूप से लेखन कार्य करते समय भी वही है। आजतक भला-बुरा, पठनीय-अपठनीय बहुत-कुछ लिख चुका हूँ। मेरी अनेक गौरवपूर्ण रचनाओं के साथ अनेक घटिया रचनाएँ भी छपी है। पिछले वर्ष 'देश' के साहित्य अंक के लिए 'एक नंबर वर्मन स्ट्रीट' नामक रचना लिखने में मुझे किसी तरह की असुविधा का सामना नही करना पड़ा था क्योंकि उसमें अपने बारे मे कुछ कहने का दायित्व मुझ पर नही था। वहाँ मैं मात्र एक दर्शक था। मेरी दृष्टि में मेरे साहित्यिक मित्र एवं तत्कालीन साहित्यिक वातावरण ही मेरी रचना की विषयवस्तु थे। वहाँ मेरी उपस्थिति नितान्त गौण थी।

परन्तु इस बार आपने जो जिम्मेदारी मेरे कन्धों पर थोपी है वह अत्यन्त दुरूह है। दुरूह, इस कारण कि इस रचना का नायक मैं स्वयं हूँ। मेरी व्यक्ति-सत्ता ही इस रचना की विषय-वस्तु है। अपने को अलग रखकर अपनी कथा कैसे लिखूं। स्वयं को ओट में रखकर अपनी बात कैसे कहूँ? यद्यपि स्वयं को अपनी रचना की ओट मे रखना ही सबसे बड़ा शिल्प-कर्म है। स्वयं को अदृश्य रखकर साहित्य-सृजन के कला-कौशल पर अधिकार जमाने की ही चेष्टा इतने दिनों से करता आ रहा हूँ। उसमें हमेशा मुझे सफलता ही प्राप्त हुई हो, ऐसी बात नही है, बल्कि अनेक क्षेत्रों में असफलता भी प्राप्त हुई है और यह बात इस आयु में स्वीकार करने में मुझे लज्जा नही हो रही है। अब्राहम काउले साहब ने भी कहा है कि अपने सम्बन्ध मे कुछ लिखना बड़ा ही कठिन काम है। लेखक यदि अपनी रचना में आत्म-प्रशंसा करे तो उसे पाठकों के समक्ष विरक्ति का भाजन बनना पड़ता है और यदि वह निन्दा करे तो अपनी ही दृष्टि मे अप्रीति का पात्र बनना पड़ता है। इसीलिए अधिकांश क्षेत्रों मे लेखकों के द्वारा लिखी गयी आत्मकथा निरर्थक

साबित हो जाती है। वह या तो आत्म-प्रशंसा या आत्म-प्रचार से मुखर हो उठती है या फिर घृणित परायी चर्चा में परिणत हो जाती है।

खैर, आपका आदेश विनम्रता के साथ शिरोधार्य कर रहा हूँ। शिरोधार्य करने का कारण यह है कि 'देश' पत्रिका में मेरी बहुत सी धारावाही रचनाएँ गत तीस वर्षों से प्रकाशित होती आ रही हैं और उसी सिलसिले में 'देश' के असंख्य पाठकों से भी मेरा एक अप्रत्यक्ष सम्बन्ध-सूत्र कायम हो गया है। इस प्रकार पाठकों की ओर से भी मुझपर एक परोक्ष दायित्व सौंपा गया है। अत मैंने सोचा, यह केवल आपका अप्रत्यक्ष आदेश नहीं है, इसके साथ परोक्ष रूप से मेरे पाठकों के दावे भी जुड़े हुए हैं।

उन्हीं लोगों की माँग की पूर्ति के लिए आज मैं लेखनी उठा रहा हूँ।

परन्तु अपने बारे में कुछ कहने के पूर्व एक विदेशी लेखक के बारे में ही कुछ बताना चाहूँगा। उन विदेशी लेखक के बारे में कुछ कहने का उद्देश्य यही है कि उनके लेखकीय जीवन के परिचय से भावी रचनाकार बहुत कुछ सीख सकेंगे। उनका नाम है सैमुअल बटलर।

१९०२ ई० में सैमुअल बटलर की मृत्यु हो गयी थी। अर्थात् हमारे जन्म से बहुत पहले ही। जिस समाज से साक्षात्कार किया है वह उसके बाहर के व्यक्ति थे। इसके अतिरिक्त वह एक ऐसे साम्राज्य के साहित्यकार थे जो वास्तव में स्वतन्त्र था और जहाँ उन दिनों रात या दिन किसी भी समय सूर्य अस्त नहीं होता था। उस देश के साहित्यिक होने पर भी उन्हें भीषण अवहेलना और आघात का सामना करना पड़ा था। यह सोचने पर आश्चर्य होता है और परोक्ष रूप में साहस और उत्साह की प्राप्ति भी होती है।

वह एक-एक कर पुस्तकों का प्रणयन करते और वे पुस्तकें उपेक्षित होकर प्रकाशक की दुकान में ही पड़ी सड़ती। कोई एक प्रति भी खरीद कर उनको धन्य नहीं करता। १८८० ई० में उनकी दो पुस्तकें प्रकाशित होने पर उन्होंने देखा कि वे किसी आलोचक की दृष्टि आकृष्ट नहीं कर सकी।

परिचित व्यक्ति उन्हें उपदेश देने लगे।

उन्होंने कहा, "तुमने इतनी-इतनी पुस्तकें लिखीं परन्तु तुम्हें ख्याति नाम मात्र की भी नहीं मिली—"।

बटलर ने कहा, "वह नहीं मिली तो न मिले। मैं इसके लिए और क्या कर सकता हूँ?"

उन लोगों ने कहा, "इस तरह हाथ पर हाथ धरे घर में बैठे रहने से कहीं काम चलता है? जरा इधर-उधर का चक्कर लगाओ, दो-चार लोगों से मिलो-जुलो, तभी न कुछ होगा।"

बटलर बोले, "कहाँ-कहाँ का चक्कर लगाऊँ?"

"जिनसे मिलने से तुम्हारी स्वार्थ-सिद्धि हो, उन्हीं से मिलो। जैसे किसी संपादक या आलोचक के पास जाओ। जाकर उनसे हेल-मेल बढ़ाओ। अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए सभी लेखक ऐसा करते हैं। नियम भी तो यही है। और तुम ऐसे कौन-से तीस-

मार खाँ लेखक हो कि जो पंखे के नीचे बैठकर पुस्तक लिखोगे और वे तुम्हारी वाहवाही करेंगे ?"

यह सुन कर बटलर को बडा क्रोध आया। वह बोले, "अगर मैं उन लोगों के घर जा-जा कर समस्त समय नष्ट करूं तो पुस्तक पढ कर और पुस्तक लिखूं कब, बोलो।"

उन लोगो ने कहा, "तुम्हें समय निकालना ही होगा। अन्य लेखक जिस तरह वक्त निकाल लेते हैं तुम्हें भी उसी तरह निकालना होगा। तुम क्या यही कहना चाहते हो कि एकमात्र तुम्ही लेखक हो और कोई लेखक नही है। और अगर यह नही कर सकते तो रात-रात मे जाग कर लिखो और दिन के वक्त उन लोगो के साथ अड्डेबाजी करो।"

किन्तु सेमुअल बटलर किसी और ही धातु के लेखक थे। वह इस तरह काम कर सफल लेखक होने को 'गिनी पिग सक्सेस' कहते थे। उनकी मृत्यु के बाद देखा गया कि उन्होंने अपनी नोट बुक मे लिख रखा था।*

"अवश्य ही अपने लेखन-काल के प्रारम्भ मे मैं इस कहानी से परिचित नही था। जब बड़ा हुआ तब पुस्तक पढने पर मुझे इसकी जानकारी हुई। जानकारी होने के बाद मुझे आश्चर्य हुआ और सोचा, कि हमारे इस युग मे कितने लोगों में ऐसा साहस और ऐसा आत्म-विश्वास है।"

लेखक को जीवन-काल मे जो कोई सम्मान मिलता है वह सन्देहजनक है और वह सम्मान अधिकांशतः 'गिनी पिग सक्सेस' ही है—यह बात रवीन्द्रनाथ की रचना मे भी पढी, किन्तु उस युग के सैमुअल बटलर को इसका पता कैसे चला ? रवीन्द्रनाथ ने लिखा है—जीवन-काल मे ही यदि अग्रिम परिशोध की व्यवस्था रहे तो उससे बहुत बडा सन्देह पैदा होता है। दुनिया मे बहुतेरी वस्तुएं धोखाधडी से हासिल कर उन्हें सुरक्षित रखा जा सकता है। अनेक लोग दूसरे को धोखा देकर धनी हो गये हैं, इसका दृष्टान्त न मिलता हो, ऐसी बात नही है। मगर यश ऐसी चीज है जिसमें यह सुविधा नही होती। उसके सम्बन्ध मे तमादी का कानून भी लागू नही होता। जिस दिन धोखाधड़ी पकडी जायेगी उसी दिन यश जब्त कर लिया जायेगा। महाकाल की यही विधि है। अतः जीवित काल में कवि को जो सम्मान प्राप्त होता है उसके सम्बन्ध मे निश्चित नही रहा जा सकता।

बचपन मे उपर्युक्त उद्धरण मेरी निगाह से नही गुजरा था। घर में आलमारी मे जहाँ चमडे से मढ़ी हुई पुस्तकें रखी थीं, वहाँ बंकिमचन्द्र, नवीन सेन, माइकेल, मधुसूदन दत्त और दीनबन्धु मित्र की रचनावली पर सुनहले अक्षरों में लिखे उनके नाम शीशे के बाहर से चमकते रहते थे। मगर उन्हें पढने की अनुमति नही मिलती थी। तत्कालीन शुभाकांक्षी गुरुजनो की यह धारणा थी कि उपन्यास पढ़ने से कोमलमति बालकों के नैतिक चरित्र का अधःपतन होगा। अतः पुस्तको की अन्दरुनी विषयवस्तु को हमारी

* साहित्य और विज्ञान के नेताओं के कदम से कदम न मिलाने की अपनी स्वतन्त्रता पर मुझे विश्वास है। स्वतन्त्रता तात्कालिक सफलता के लिए घातक है परन्तु स्थायी सफलता के लिए अनिवार्य है।

पहुँच के परे रखने के लिए आलमारी के दरवाजे पर हमेशा ताला लगा रहता था।

मुझे याद है कि मैट्रिक परीक्षा में शामिल होने के पूर्व उसकी ताली कभी मेरे हाथ नहीं लगी थी। जिस दिन ताली हाथ में आयी उस दिन सबसे पहले दुर्गेशनन्दिनी पढ़ा। जीवन में वह पहला महान् उपन्यास पढ़ने का अपूर्व अनुभव मुझे आज भी याद है। सोचा, पुस्तक पढ़ते-पढ़ते जो एक अपार अनुभूति होती है, उसे व्याख्यायित नहीं किया जा सकता। तो क्या इसी का नाम ब्रह्मानन्द-सहोदर है?

आदमी की उम्र जब कम रहती है तो वह बहुत थोड़े ही में अभिभूत हो जाता है। साधारण-सी उपलब्धि से ही वह प्रसन्न हो जाता है। उससे अधिक वह पाना नहीं चाहता। लेकिन दुनिया में कोई-कोई ऐसा उद्धत बालक भी होता है जो बहुत से खिलौने मिल जाने के बावजूद उनसे भी बड़े खिलौने के लिए छटपटाता रहता है। रवीन्द्रनाथ ने कहा है, "आदमी को उसी की प्राप्ति में चरम आनन्द की उपलब्धि होती है जो अप्राप्य है।" 'दुर्गेशनन्दिनी' पढ़ने के बाद मैंने पढ़ने का सिलसिला बन्द नहीं किया। एक-एक कर बंकिमचन्द्र की सारी रचनाएँ पढ़ गया। लेकिन इससे भी तृप्ति नहीं हुई। इच्छा हुई कि और पुस्तकें पढ़ूँ। मगर मिलेगी कहाँ? मेरे घर में जितनी पुस्तकें थीं, तब तक सबको पढ़ चुका था। मन में मुझे उपन्यास लिखने की एक क्षीण व्यग्रता का अनुभव हुआ। इसके पूर्व साहित्य-रचना का कोई उत्साह अथवा आग्रह मुझमें नहीं था। मुझे स्मरण है कि जब मैंने किशोरावस्था में पाँव रखा अर्थात् जब मेरी उम्र बारह या तेरह साल की रही होगी, तभी एक ऐसा सुयोग प्राप्त हुआ जो इसके पहले प्राप्त नहीं हुआ था। वह यह कि हावड़ा से मुझे बिहार के एक सुदूर गाँव में ट्रेन में अकेले जाना था। उद्देश्य यह था कि मेरे घर में होने वाले एक वैवाहिक अनुष्ठान में मुझे अपनी एक आत्मीया को साथ ले आना था। माँ, बाबूजी और सगे-सम्बन्धियों के साथ हमेशा भारतवर्ष के तीर्थों का भ्रमण करता रहता था। लेकिन स्वाधीन होकर अकेले ट्रेन से सफर करना, प्लेटफार्म के फेरीवालों से मनपसन्द चीज खरीद कर खाना, किसी की परवाह न करना और न किसी के सामने पैसे के लिए हाथ फैलाना—यह सब कोई कम स्वतन्त्रता की बात न थी।

यथासमय सूटकेस और बिस्तर लेकर टैक्सी से हावड़ा स्टेशन पहुँचा। स्वयं ही ट्रेन के डिब्बे में जा कर बैठ गया। वयस्क लोग जिस मुद्रा में गाड़ी में बैठते हैं, मैंने ठीक उसी तरह की मुद्रा बना ली। गाड़ी के बाकी तीन बर्थों पर तीन और मुसाफिर थे। मेरे पास उन दिनों के सेकेंड क्लास की टिकट थी। अतः मेरी भंगिमा भी पूरे तौर पर खानदानी व्यक्ति जैसी थी। कुली को मजदूरी दे दी। किन्तु गाड़ी खुलने में तब भी बहुत देर थी। उस समय रात के सात या साढ़े-सात बजे होंगे। रात-भर ट्रेन से सफर करने के बाद भोर के समय मोकामा घाट स्टेशन पहुँच कर स्टीमर से गंगा पार करनी थी। उसके बाद स्टीमर छोड़कर ट्रेन से सिमरियाघाट जाना था। और वहाँ से ट्रेन पकड़ कर गन्तव्य स्थान की ओर रवाना होना था। जहाँ पहुँचने में एक और रात और उसके बाद वाले दिन का आधा समय व्यतीत हो जाता। उतना समय मुझे अकेले

ही बितानी था। साथ मे यदि एक आदमी भी होता तो उससे बातचीत कर समय गुजारा जा सकता था, लेकिन बात वैसी नही थी। साथी के नाम पर केवल वे ही तीन व्यक्ति थे जो अभी विलकुल अपरिचित थे एवं आयु मे भी मुझसे बहुत बड़े थे। इसलिए समय कैसे काटूं।

ऐसी परिस्थिति मे अचानक एक ठेलागाडी पर नजर पडी जो मेरे डिब्बे के सामने प्लेटफार्म पर जा रही थी। उसमें असंख्य रंग-बिरंगी पत्रिकाएँ थी। सोचा, वयस्क लोगों की तरह मैं भी कोई एक पत्रिका खरीद लूँ। उसे पढ कर समय काटा जा सकता है।

शायद १९२४ या १९२५ ई० का जमाना रहा होगा। महीना कार्तिक। अर्थात् दुर्गापूजा और दीवाली बीत चुकी थी। अगहन आने ही वाला था। देखा, बहुत सारी पत्रिकाओ को ढोने वाली वह ठेला गाड़ी मुझे अपनी ओर आते देख रुक गयी। मैंने देखा उसमें 'वसुमती', 'भारतवर्ष', 'प्रवासी' आदि तत्कालीन नामी-गिरामी चालू पत्रिकाएं सजी हुई थी। मगर कीमत बहुत अधिक थी। एक-एक का मूल्य आठ आना। मैंने अपेक्षाकृत सस्ती पत्रिका खोज कर एक पत्रिका हाथ मे ले ली। उसका नाम था 'बाँसरी' उसके संपादक थे नरेन्द्रनाथ वसु। मूल्य था केवल चार आना। उस समय मे उस चार आने पैसे की कीमत बहुत अधिक होती थी। मैंने दाम देकर पत्रिका हाथ मे लिये अपने डिब्बे में आ कर बैठा और उसके पन्नों को उलटते-पलटते एक जगह आकर हठात् रुक गया। एक छोटी-सी कविता पत्रिका के पृष्ठ की दाहिनी ओर के रिक्त स्थान को भरने के खयाल से छापी गयी थी। उस युग की रीति के अनुसार वह एक छन्दोबद्ध कविता थी। कविता के रचयिता का नाम स्मरण नही है। यहाँ तक कि इस समय कविता की एक भी पंक्ति स्मरण नही है। तब भी इतना तो अवश्य स्मरण है कि कविता के आस-पास पर्याप्त स्थान खाली पड़ा था। कविता पढते-पढते अचानक मुझे ऐसा लगा कि यदि प्रयत्न करूं तो मैं भी इस तरह की कविताएँ लिख सकता हूँ। उस समय मेरी जेब मे न तो कागज था और न फाउन्टेनपेन का इतना प्रचलन ही था। किन्तु उन दिनो की रीति के अनुसार मेरे पास केवल एक पेंसिल थी। उसी पेंसिल से कविता के आस-पास खाली स्थान को मैंने एक कविता लिख कर भर दिया। वह एक अनाड़ी तुकबन्दी थी। किन्तु इससे क्या होता है। उस चलती रेलगाडी के तत्कालीन सेकेण्ड क्लास के एकान्त डिब्बे मे ही उस रात मेरे जीवन की पहली कविता की सृष्टि हुई।

उस समय मुझे भले-बुरे का बोध नही था। अच्छी बनी या बुरी लेकिन 'आमी' से 'स्वामी', 'खेला' से 'हेला' और 'जाय' से 'हाय' तुक मिला दी। बारह वर्ष की आयु मे इससे अधिक और क्या आशा कर सकता था? छपाने की बात अवश्य उस समय मस्तिष्क में नही आयी थी। क्योकि तब हस्तलिखित पत्रिका का युग था। लिखना यदि सम्भव हो तब भी रचना छपवाना एक कठिन समस्या थी। इसलिए मेरी वह रचना वहीं समाप्त हो गयी। इस घटना का यहाँ इसलिए उल्लेख कर रहा हूँ कि मेरे पाठक

समुदाय के बहुतेरे व्यक्ति यह जानना चाहते है कि मेरे मन में कब और कैसे लिखने की इच्छा जागृत हुई।

आपने भी लिखा है, "हम यह जानना चाहते है कि साहित्य-कर्म मे प्रथम प्रवेश की प्रेरणा आपमे किस तरह संचारित हुई थी।" आशा है, ऊपर मैंने जिस घटना का वर्णन किया है, उसमे आपके इस प्रश्न का उत्तर निहित है। तब भी साहित्य-कर्म में प्रवेश करने की प्रेरणा के सम्बन्ध में यही मेरा एकमात्र उत्तर नहीं है। प्रस्तुत प्रेरणा के उत्तर के सम्बन्ध मे बाद में और भी विशद रूप से बताऊँगा।

आपका दूसरा प्रश्न है, "आपकी रचना पहले-पहल कब और कहाँ से प्रकाशित हुई थी।"

इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए पुन: कुछ प्रारम्भिक बातें बतानी होंगी। स्मरण-शक्ति को तीव्र बनाने ही से इतने सुदूर प्रारम्भ की बातों तक पहुँचा जा सकता है। किन्तु क्या यह आज की बात है? आन्द्रे जीद की एक चमत्कारपूर्ण बात हठात् याद आ गयी। उन्होंने कही लिखा है, लेखक के जीवन में तीन स्तर होते हैं। प्रथम स्तर अर्थात् नितान्त बाल्यकाल अथवा लेखकीय जीवन के आरम्भ में वह सोचता है, मैंने जो लिखा है वह अपूर्व है और उसकी तुलना नही हो सकती। किन्तु संपादक या पाठक मुझे ठीक से समझ नही पा रहे हैं। अत उनकी निर्बोधता के कारण ही मुझे उचित सम्मान नहीं मिल रहा है। इस प्रथम स्तर मे लेखक के मन में संपादक या पाठकों के प्रति घृणा उत्पन्न होती है और इसके फलस्वरूप लेखक मानसिक अशान्ति का शिकार हो जाता है।

इसके बाद द्वितीय स्तर आता है। इसमे आने पर लेखक अपनी रचना के गुण-दोष के बारे में थोड़ी-बहुत जानकारी प्राप्त करता है और संपादक या पाठक समुदाय भी उस समय से लेखक को आंशिक रूप में स्वीकार करने लगते हैं। कहा जा सकता है कि उसी समय से लेखक में अच्छे-बुरे के विश्लेषण का प्रारम्भ होता है। यहाँ इस बात का उल्लेख करना ठीक होगा कि इस द्वितीय स्तर मे पहुँचने के पूर्व ही बहुत से लेखक अनेक कठिन संघर्षों से घबरा कर अथवा अर्थ के लोभ मे लेखन के क्षेत्र का परित्याग कर किसी सुलभ सफलता की आशा में दूसरे क्षेत्र मे चले जाते हैं अर्थात् 'लेखन की दुनिया से वे अन्तर्धान हो जाते हैं। ऐसी स्थिति मे वे किसी अच्छी नौकरी या किसी पेशे को अपना लेते हैं और अवसर मिलने पर सामान्य-सामान्य साहित्य-चर्चा करते हैं।

अब तीसरे स्तर की बात बताता हूँ।

यही स्तर लेखक के जीवन मे सबसे बड़ा जोखिम का होता है। जिनमें अथक धैर्य एवं असीम मनोबल होता है, जो विरोधियों की निन्दा या दुष्प्रचार से विचलित नहीं होते, केवल वे ही तीसरे स्तर में पहुँच पाते हैं। किन्तु उस समय भी उनके संघर्ष का अन्त नही होता। बरन् संघर्ष की तीव्रता हजारों गुना बढ़ जाती है। तब संपादक और पाठक वर्ग की माँग उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है और उन माँगों की पूर्ति मे लेखक अत्यधिक परिश्रम से टूटकर मृत्यु के मुख में समा जाना ही उसकी नियति है।

... हेमिंग्वे के इस अभिमत का सादृश्य हो सकता है, बहुत से लेखकों के जीवन मे मिल

जाय। किसी-किसी मे न भी मिले। तब भी मुझे यह बात अर्ध सत्य या अर्ध मिथ्या जैसी लगी है।

पूर्ण सत्य तो एकमात्र ब्रह्म है, अवश्य ब्रह्म नामक यदि कुछ हो तो। इसके अतिरिक्त पृथ्वी का और सब कुछ अर्ध सत्य ही तो है, सापेक्ष है। इसी कारण सदा एक लेखक के जीवन की घटना दूसरे लेखक के जीवन की घटना से नही मिल सकती। मेरे जीवन में आन्द्रे जीद की यह बात कहाँ तक घटती है, इसी पर विचार किया जाय।

जहाँ तक स्मरण है, मेरी प्रथम रचना एक ऐसी पत्रिका में प्रकाशित हुई थी जिसका नाम एवं उस लेख की विषयवस्तु के सम्बन्ध में मुझे कुछ भी स्मरण नही है। कलकत्ते के जिस अंचल मे रहता हूँ वही से एक छोटी पत्रिका प्रकाशित होती थी। आजकल की भाषा में जिसे 'लिटिल मैगज़ीन' या लघु पत्रिका कहते है। किन्तु चूंकि वह मुद्रित रूप मे प्रकाशित हुई थी इसलिए उसे प्रथम अभिव्यक्ति ही कहना चाहिए या प्रथम प्रकाशित आत्माभिव्यक्ति। किन्तु उस घटना से मैं अत्यधिक प्रसन्न न हो सका था और इसका कारण यह है कि उस पत्रिका के संपादक मेरे एक घनिष्ठ मित्र के बडे भाई थे। छोटे भाई के मित्र द्वारा लिखी गयी कविता बडे भाई के संपादन मे निकलने वाली पत्रिका में प्रकाशित होती है तो इसमें मेरे लिए गर्व की क्या बात है ? अत वह मेरी प्रथम प्रकाशित रचना के रूप में रेखांकित होने का दावा नही कर सकती।

साहित्य-क्षेत्र मे प्रवेश की प्रेरणा से प्रथम रचना के प्रकाशन का यदि कोई सम्बन्ध-सूत्र है तो मैं यही कहूँगा कि मेरे जीवन में दोनों समानार्थक थी। क्योकि प्रेरणा ही अभिव्यक्ति का उत्स हुआ करती है। और इस प्रेरणा का स्रोत था मेरे आसपास फैला हुआ संसार। यह आसपास का जो संसार था, वह सौभाग्य से मेरे प्रतिकूल था। इसके अतिरिक्त मुझे जीवन से निरुत्साहित और नीरव कर देनेवाले लोगों का भी कोई अभाव नही रहा है। इस बात का उल्लेख करने में मेरे गर्व करने का कारण भी है। यहाँ यह कह देना समीचीन होगा कि मैं बचपन से ही संगीत-प्रेमी रहा हूँ। संगीत मुझे जितना आकर्षित करता था, साहित्य उतना नही। मेरे आसपास के प्रतिकूल संसार ने जब मुझे निस्संग बना दिया, उस समय संगीत ही मेरा एकमात्र सहारा था। लेकिन गायकी आत्माभिव्यक्ति का एक ऐसा माध्यम है जिसकी चर्चा करने पर नि शब्द नही रहा जा सकता। घर के दरवाजे और खिडकियो को बन्द रखने पर भी इसके शब्दबेधी बाण पड़ोसियो के कान विद्ध करेंगे और उनके मन मे विरक्ति उत्पन्न करेगे। इसके लिए घर की छत और निर्जन स्थान ही उपयुक्त होता है और मैं जिस संगीत के बारे में कह रहा हूँ वह रवीन्द्र संगीत या ग्राम्य लोकगीत नही, बल्कि शास्त्रीय संगीत है, जो और भी विकट होता है। जिसके प्रशिक्षण-काल मे मध्यवर्गीय परिवार के नितान्त शुभैषी गुरुजन भी पुत्र के भविष्य के सम्बन्ध में सन्देहाकुल हो उठते है।

स्कूल की लिखाई-पढाई के सम्बन्ध मे मेरे बारे में यही कहा जा सकता है कि मैं उस कोटि का आदमी था जो बराबर खा-पी कर बाँसुरी टेरता रहता है। मेरे स्वभाव मे यही सब बातें शुमार थी। एक ओर गायकी थी और दूसरी ओर कविता लिखना—यह दो।

मुझे विश्वास है

तरह की बाँसुरी एक हाथ से बजाना कम करामात का काम नहीं है। फिर भी इसी में व्यस्त रहता था। उन दिनों सिनेमा या घर-घर मे रेडियो बजाने की धूम नहीं थी। श्रेष्ठ शास्त्रीय संगीत सुनने के लिए कलकत्ता नगर के किसी धनी जमींदार या बड़े आदमी की मजलिस मे जाकर रात्रि-जागरण करना पड़ता था। किन्तु कविता ? मैं अपने घर में बैठकर कविता लिख रहा हूँ या भूगोल पढ़ रहा हूँ यह कोई नहीं जान पाता था। अत: साहित्य-साधना के समान निरापद एवं निरुपद्रव कार्य मेरे स्वभाव के बहुत अनुकूल था।

एक दिन मेरे एक पड़ोसी सहपाठी ने मुझे सूचना दी कि उसके गृह-शिक्षक भी कविता लिखते हैं। यह सूचना सुसंवाद थी। घर के इतने निकट इस प्रकार एक कवि के रहते मैं क्यो एकाकीपन के रोग को भोग रहा हूँ ? तब कौन ऐसा बुरा आदमी है जो कहता है कि ईश्वर नहीं है ?

उत्साह से पागल होकर मैंने अपने स्कूल के एक समवयस्क को यह बात बतायी। वह भी बहुत उत्साहित हुआ, क्योंकि वह भी कविता लिखता था। कविता ही उसके लिए सब कुछ थी।

सोचा, शुभ कार्य मे देर क्यो ? दूसरे दिन मैं और वह मेरा समवयस्क बन्धु अजित कविता की कापी बगल मे दबाये सहपाठी के शिक्षक महोदय के पास पहुँचे। मैं और अजित दोनों ही कविता लिखते थे। अतः हम दोनो ही अपनी कविता के सम्बन्ध मे एक वयस्क कवि का मतामत जानने को आग्रहशील थे।

शिक्षक महोदय उस समय बी० ए० पास कर चुके थे। वेश भी कवि का और चेहरा भी कवि का। लम्बे-लम्बे बिखरे बाल, देह पर तत्कालीन फैशननुमा ढीला-ढाला कुरता।

हमारे साथ कविता के सम्बन्ध में उनकी काफी बातचीत हुई।

वे बोले, "कविता लिखना बड़ा ही कठिन काम है। यह सबको नहीं आता—यहाँ तक कि चेष्टा करने पर भी कोई कवि बन जायेगा, इस प्रकार की गारंटी कोई नहीं दे सकता।'

यह कहकर उन्होंने स्वयं एक कापी निकाली और बोले, 'यह देखो आज प्रात: ही यह कविता मेरे दिमाग मे आई और मैंने तत्क्षण लिख लिया। पढ़ रहा हूँ, सुनो—

वे अपनी कविता पढ़ने लगे और हम मुग्ध होकर उसे सुनने लगे।

बांश बागानेर माथार ऊपर चाँद उठेछे ओइ,
मागो, आमार शोलक-बला काजला दिदि कोइ ?
पुकुर धारे लेबुल तले,
थोकाय जोनाक जले
फूलेर गंधे घुम आसे ना, एकला जेगे रोइ,
मागो, आमार कोलेर काछे काजला दिदि कोइ ?[1]

१. बसवारी के ऊपर चाँद उगा है। माँ, कहानी कहने वाली मेरी काजला दीदी कहाँ है ? जलाशय के किनारे नीबू वृक्ष के तले जुगनुओं की जमात उड़ रही है। फूल की गन्ध से

मुझे विश्वास है

बहुत बड़ी कविता थी। पढ़ने मे बहुत समय लगा। किन्तु हमे लगा कि और भी अधिक समय लगता तो अच्छा होता। मानो, बहुत ही कम समय मे पढ़ना समाप्त हो गया हो।

उन्होंने जिज्ञासा की, "कविता कैसी लगी ?"

हम दोनों ने ही कहा, "अपूर्व"।

शिक्षक महोदय बोले, "सुना है, तुम लोग भी कविता लिखते हो। क्या लाये हो ?"

अजित तैयार ही था। तत्क्षण कापी निकाल कर पढने लगा—

ओगो कालो मेघ वातासरे बेगे
जेओ ना जेओ ना जेओ ना भेसे
नयन जुड़ानो मूरति तोमार
आरति तोमार सकल देशे[1]

शिक्षक महोदय ने आँखे बन्द कर और खूब मन लगा कर अन्त तक सुना। जब कविता-पाठ समाप्त हो गया तो अजित से बोले, "बहुत ही अच्छा, तुम सफल होगे, तब भी छन्द के सम्बन्ध मे थोडा और भी सावधान रहोगे तो बडे होने पर तुम खूब यश अर्जित करोगे—। उसके बाद मेरी ओर देखते हुए जिज्ञासा की, "और तुम" ?

मैं उस समय लज्जा से सिकुड़ा-सिमटा हुआ था। मेरी कविता यदि शिक्षक महोदय को ठीक न लगी तो ?

अन्तत. मुझे अपनी कविता पढनी ही पढी, बचने का कोई उपाय न था। एक पंक्ति पढ़ता और भय से उनके चेहरे की ओर देखने लगता। यही जानने की चेष्टा कर रहा था कि उनके मनोभावो की उनके मुख पर कोई अभिव्यक्ति होती है या नही।

किसी प्रकार कविता समाप्त कर मैंने जब शिक्षक महोदय के मुख को देखा तो समझ गया कि उन्हें पसन्द नही आयी।

अन्त में शिक्षक महोदय बोले, "तुम्हारी कविता कविता नही है।"

मेरा उत्साह ठण्डा पड़ गया। तेरह वर्ष के एक लड़के के मुंह पर ही शिक्षक महोदय ने स्पष्ट भाषा मे कह दिया कि तुम्हारी कविता कविता नही है।

क्यों नही हुई, क्यो नही होगी, क्या करने से होगी, कहाँ दोष त्रुटि है, इसके बारे मे उन्होने कुछ भी नही बताया। कोई निर्देश भी नही दिया। मानो मैं यही सुनने के लिए इतने दिनों तक जीवित हूँ कि कविता न बनी है और न बनेगी। चाहे तेरह वर्ष हो या तिरपन या कि तिहत्तर, मैं जैसे कभी कुछ कर नही पाऊँगा। चिरकाल से सबसे एक ही बात सुनते-सुनते मेरे कान पक चुके हैं कि मैं न कुछ कर सका हूँ और न कर सकूँगा।

नींद नहीं आती है, मै अकेली ही जगी रहती हूँ। माँ, मेरी गोद के पास काजला दीदी कहाँ है ?

१. अरे ओ काले बादल, वायु वेग से तिरते हुए मत जाओ। तुम्हारी मूर्ति नयनों को मुग्ध करने वाली है। सभी देशों में तुम्हारी आरती उतारी जाती है।

लेकिन जिन लोगों को कुछ होना था उन सहपाठियों से उन्हीं शिक्षक महोदय ने आगे चल कर हजारी बाग मे लकडी का व्यवसाय कर बहुत धन कमाया और मेरे उस समवयस्क मित्र ने आगे चल कर कलकत्ता कारपोरेशन के लायसेंस विभाग के हेड क्लर्की के पद पर सुशोभित होकर उस कुरसी की शोभा बढ़ायी। अच्छा ही किया। क्योंकि बाद मे पता चला कि शिक्षक महोदय ने यतीन्द्रमोहन बागची की विख्यात कविता की हूबहू नकल की थी एवं मित्र महोदय ने सत्येन्द्रनाथ दत्त की विख्यात कविता की नकल करके उस दिन शिक्षक महोदय से प्रशस्ति प्राप्त की थी। उन दोनो ने ही उस दिन दूसरे की कविता चुरा कर ख्याति अर्जित की थी और अन्त मे साहित्य मे सब प्रकार का सम्बन्ध तोडकर बच गये थे। किन्तु मैं मर रहा था। मैं इस नशे को छोड़ नही सका। इतने दिनो के बाद मैं जान गया हूँ कि इस व्याधि ने जब एक बार मुझ पर आक्रमण कर दिया है तो जब तक मेरी मृत्यु नही होगी तब तक यह मुझे छोडने वाली नही है। अवश्य मैंने इसे व्याधि कहा है किन्तु क्या सचमुच यह व्याधि है?

इसके अतिरिक्त मेरे लिए कोई दूसरा मार्ग भी न था। हमारे बचपन में उस देश-व्यापी बेकारी के युग मे जिससे कुछ नही होता था वह होमियोपैथी पढ़ता। मैं कदाचित् उससे भी अधम था। अर्थात् 'जात्रा' के संवाद की भाषा मे जिसे 'नराधम' कहा जाता है। उस समय मैं न तो किसी से आँख मिलाकर बातचीत कर सकता था और न उचित माँगकर बलात् पूर्ति करा सकता था। आज के जैसा ही चोट खाकर चुप बैठ रहना मेरा सदा का स्वभाव है। चालाकी से अपना काम निकालने की कला मे तो प्रायः प्रत्येक व्यक्ति दक्ष होता है। मगर मैं इसमें अनाडी का अनाडी ही रह गया। (परन्तु मुझे यह काम कला कभी नही आई)। मुझे उस युग मे विश्वास था और आज भी विश्वास है कि काम निकालने की चातुरी का प्रयोग करने मे केवल 'गिनी पिग सक्सेस' ही प्राप्त होती है, किन्तु स्थायी सफलता एक मात्र विशुद्ध निष्ठा और स्वतन्त्रता के मूल्य पर ही प्राप्त होती है। अतएव मेरे लिए साहित्य क्षेत्र में प्रवेश करने के अतिरिक्त दूसरी कोई गति नही थी, यानी 'नराधम' के लिए जो एकमात्र अन्तिम आश्रयस्थल होता है।

उसी समय मेरे एक मित्र ने आकर मुझे सूचना दी कि मेरी एक कविता मासिक 'वसुमती' के किसी अगले अंक मे प्रकाशित होगी।

मैं हतप्रभ रह गया। मेरी स्थिति देखकर उसने सब कुछ स्पष्ट बताया। वास्तव में वह उस समय बहू बाजार के एक कालेज मे डाक्टरी पढ़ने जाता था। मार्ग पर जाते-जाते उसने एक मकान की दीवार पर 'वसुमती साहित्य मन्दिर' के नाम से लिखा एक सूचना पट्ट झूलते हुए देखा। वह मेरी कविता का भक्त था और उसके पास मेरी अनेक कविताएँ रहती थी। उन्ही में से एक कविता वह सम्पादक को दे आया था।

मैंने कहा, "इसके बाद?"

मित्र की बात से लगा कि सम्पादक ने उस रचना को प्रकाशन के योग्य समझा है और कुछ ही महीनो के मध्य वह प्रकाशित हो जायगी।

मित्र ने कहा, "सम्पादक जी ने तुम्हें एक बार मिलने को कहा है।"

"सम्पादक कौन हैं ?"

"सरोजनाथ घोष। तुम्ही लोगों के मुहल्ले में रहते हैं। उन्होंने कहा हैं: विमल को एक बार मुझसे मिलने को कहो।"

सरोजनाथ घोष वास्तव मे उन दिनों मासिक 'वसुमती' के सम्पादक नही, सहायक सम्पादक थे; विख्यात लेखक थे, 'शत गल्प ग्रन्थावली', 'रूप का मोह' इत्यादि पुस्तकों के रचयिता। मेरे लिए यह एक आविष्कार के समान बात थी कि वे मेरे मुहल्ले में रहते हैं। स्मरण है, एक ही साथ नितान्त आग्रह और अनिच्छा लिए धडकते कलेजे से मैंने जब उनसे भेंट की थी तो वे मुझे एक घंटे तक अनेक उपदेश देते रहे। कविता छापने के प्रसंग मे उन्होने मोपासाँ के फ्लॉबेयर के पास जाकर लेखन-कला सीखने की कहानी विस्तार के साथ सुनायी थी। साहित्य के सम्पर्क में मैं उनसे अनेक स्थलो पर असहमत होने पर भी मैंने उस दिन उनसे अनेक मूल्यवान उपदेश सुने जो जीवन में मेरे काम आए। उन्होंने मुझे मासिक वसुमती के लिए कहानी लिखने को कहा था। मैं उन्हें एक कहानी दे भी आया था, किन्तु उन्होने उसे वापस कर दिया था, छापा नही। कहा था, "यह म्लेच्छ भाषा मे लिखी हुई है, यह चलेगी नही।"

मैंने पूछा, "म्लेच्छ भाषा माने ?"

वे बोले, "माने चालू भाषा। बाजारू भाषा। बाजारू भाषा में साहित्य नही रचा जा सकता। साधु भाषा में लिखो। जिस भाषा मे बंगाल के सभी महापुरुष लिख गये हैं, वही आदर्श भाषा हैं। इतने छुटपन से ही यदि तुम म्लेच्छ भाषा में लिखना आरम्भ करोगे तो बड़े होने पर लेखन मे परिपक्वता नही आयेगी। जैसे आधुनिक गायन। सुगम संगीत से ही यदि कोई संगीत साधना आरम्भ करे तो बडे होने पर क्या वह कभी बड़ा गायक हो सकता है ? बडा संगीतज्ञ होने के लिए प्रारम्भ मे उसे शास्त्रीय संगीत की चर्चा करनी होगी। उसके बाद सुगम संगीत—"

मैंने कहा, "किन्तु आपकी पत्रिका मे केदारनाथ बन्दोपाध्याय और रवीन्द्रनाथ ठाकुर जो लिखते हैं वह सभी तो चालू भाषा मे होता है।"

सरोजनाथ घोष मेरी बात सुन कर गुस्से में आ गये और बोले, "पहले उन लोगो की तरह बड़े लेखक बन जाओ, तब उस भाषा मे लिखी गयी तुम्हारी रचना भी छापूंगा।"

उस दिन उनकी बात मान कर मैं चला आया। उन्होंने ठीक ही कहा था। उस समय मेरी आयु सत्रह-अठारह वर्ष की थी। तब मुझमें समझदारी ही कितनी थी। लेकिन चूंकि मेरे शुभैषी की हैसियत से बात कर रहे थे, इसलिए निश्चय किया कि उनकी बात मानूँगा। 'मासिक वसुमती' के बंगाब्द १३३६ के ज्येष्ठ अंक मे प्रकाशित मेरी उस कविता को मेरी प्रथम प्रकाशित रचना के रूप मे रेखांकित किया जा सकता है।

परन्तु कविता से मेरा मन सन्तुष्ट नही था। इसका कारण यह था कि मेरा मन सीमाहीन निराकार व्याप्ति मे एक साकार रूप का ध्यान करना चाहता था। संगीत से भी सम्भवतः इसी कारण मैं धीरे-धीरे कहानी एवं उपन्यास के संसार मे चला आना

गवाही देकर खून के मुजरिम को भी निर्दोष सिद्ध कराने की घटना भी घटती रहती है। अचानक लाटरी का रुपया पाकर बड़ा आदमी बनने की घटना भी अक्सर देखने में आती है; विशेष कर आजकल। लेकिन साहित्य के बाजार में प्रत्याख्यान के माने ही है स्थायित्व, उपेक्षा माने ही है संघर्ष की तीव्रता मे वृद्धि और निन्दा-कुत्सा माने ही है ख्याति-प्रतिष्ठा-प्राप्ति का प्रसार। साहित्य के इस स्थायित्व, इस संघर्ष-शक्ति, इस ख्याति, प्रतिष्ठा और प्रभाव को अनेक प्रत्याख्यान, अनेक उपेक्षा और अनेक निन्दा-कुत्सा के विनिमय-मूल्य में खरीदना पड़ता है। यहाँ सुगमता से कुछ नही मिलता, किसी वस्तु को पाना ठीक नही होता क्योंकि सुगमता से पाने से वह सुगमता से खो भी जाती है। दूसरी बात यह है कि जीवित-काल में अगर कुछ प्राप्ति हो भी जाता है तो उस पर अहंकार नही करना चाहिए। साधारणतः सभी श्रेणी के कर्मचारियों के पेंशन का अन्त मृत्यु के दिन होता है परन्तु साहित्यकार की पेंशन आरम्भ ही होती है मृत्यु के दूसरे दिन से और मृत्यु के पहले साहित्यकार को जो कुछ प्राप्त होता है वह मात्र भत्ता है। कर्मचारियों के खजाचीखाने की भाषा मे जिसका अंग्रेजी नाम टी० डी० ए० है। यह भत्ता ही साहित्यकारों के जीवन-निर्वाह के लिए पर्याप्त होता है। यह बात हमारे देश के बंकिमचन्द्र, रवीन्द्रनाथ या शरतचन्द्र के लिए ही नही, विदेश के किसी महान् साहित्यकार के लिए भी प्रयोजनीय है। निन्दा, उपेक्षा, कुत्सा और प्रत्याख्यान ने उनके संघर्ष को तीव्रतर बना कर उनकी ख्याति, प्रतिष्ठा और प्रभाव की नीव दृढ ही की है।

जहाँ एक ओर मेरा संघर्ष चल रहा था, वही दूसरी ओर मेरे और मेरे भविष्य के बारे में मेरे गुरुजन अत्यन्त ही चिन्तित थे। अर्थ का प्रयोजन उस समय मुझे था तो अवश्य किन्तु मैं उसके लिए चिन्तित नही था। हमारी पारिवारिक स्थिति कभी अभावपूर्ण नही रही। इसके अतिरिक्त मैं भी कुछ अनिर्दिष्ट राशि का उपार्जन कर लेता था। अर्थ मेरे जीवन मे कभी समस्या बन कर नही आया। उन दिनों, बीस-इक्कीस वर्ष की अवस्था मे, गीत लिखकर मैं जो पैसा कमा लेता था वह मुझे अधःपतन की ओर ले जाने के लिए पर्याप्त था। सामान्य कालेज या विश्वविद्यालय की फीस तो मैं एक कहानी लिख कर ही निकाल लेता था। 'प्रवासी' या 'भारतवर्ष' मे कहानी लिखने पर जो मिलता था उससे कालेज को पूरे वर्ष की फीस सहज ही दी जा सकती थी। बाकी रह जाती है विलासिता। उसकी पूर्ति मैं गीत लिखकर कर लेता था। उससे चाप-कटलेट-चाय और ट्राम-बस का किराया बिना किसी कष्ट के निकल आता था।

ऐसे ही समय मे एक दिन हठात् मैं आत्मान्वेषण करने बैठा। साहित्य-चर्चा के माध्यम से सहसा आत्मान्वेषण कर मैं आनन्द से विभोर हो उठा। मनुष्य के जीवन मे जब आत्मान्वेषण की घड़ी आती है तब सम्भवतः इसी तरह हठात् ही आती है। इस बात का उल्लेख पहले कर चुका हूँ कि मेरे गुरुजन मेरे भविष्य के विषय मे सदैव चिन्तित रहते थे। मैंने छात्र जीवन मे ही अपने लिए एक ऐसा मार्ग चुन लिया था जिसकी कोई अर्थकारी उपयोगिता नही थी। केवल आई० ए०, बी० ए० और एम० ए० पढने से किसी प्रकार की अर्थकारी योग्यता प्राप्त नही होती है। डिग्री प्राप्त करने पर भी वैसे ऐसे लोगों के

लिए उस समय स्कूल या कालेज की अध्यापकी के अतिरिक्त और कोई मार्ग खुला नहीं रहता था। अत उनकी दृष्टि मे मेरा भविष्य उस समय अंधकारपूर्ण था। उस पर तुर्रा यह कि मैं साहित्य लिखता हूँ और गीत गाता हूँ। अर्थात् मैंने ऐसे दो काम अपनाये थे जो किसी निकम्मे युवक को और अधिक निकम्मा बनाने के लिए पर्याप्त थे। अतः उन लोगो के मेरे लिए दुश्चिन्ता मे रहने पर भी मेरी दृष्टि में मेरा एक भविष्य निश्चित हो गया था। छुटपन में जो सपना देखता आ रहा था वह उस समय और भी वास्तविकता मे परिणत हो गया। अपरिचितों से मुझे मधुर वाहवाही मिलती थी। विश्वविद्यालय से घर न जाकर मैं सीधे अक्रूर दत्त लेन चला जाता था। वहाँ चन्डी बाबू की रेकार्डिंग कंपनी के गाने का अड्डा था। मैं वहाँ जाकर बैठता था। उन दिनों वहाँ सहगल, रामकिशन मिश्र, निताई मतिलाल, शचिनदेव बर्मन, रवीन्द्र संगीत विशारद सफीत देह, हरिपद चट्टोपाध्याय, बेहला-वादकमोम्बलदा, अनिल बागची, प्रफुल्ल मित्र, सजनी मतिलाल, अनिल बिश्वास, पन्ना घोष और प्रशान्त महलानबिश के भाई बुला महलानबिश के साथ मिल कर मैं संगीत संसार के साथ एकाकार हो जाता था। उस समय उनमें से किसी की भी ख्याति राष्ट्रीय स्तर तक की नहीं थी। वे सभी उदीयमान कलाकार थे। अनुपम घटक मेरा मित्र था। उसके कारण ही मुझे वहाँ एक स्थायी ठौर मिल गया था। उन दिनों उनकी तरह गायकी मेरा पेशा नहीं था फिर भी मैं गीत लिखा करता था। गीत लिखना भी गीत के रेकार्डिंग के कारोबार का ही एक विशेष अंग था। अतः वहाँ गायकों के बीच मेरी स्थायी बैठक जमती थी।

वहाँ मैं गीत सुनता था और उसके स्वर में तन्मय होकर डूबता जाता था। स्वर सत्य ही ब्रह्म है, इसकी उपलब्धि होती थी। यह कोई टिकट खरीद कर संगीत-सम्मेलन मे गीत सुनने या लुंगी पहन कर सिगरेट पीते-पीते रेडियो के सामने बैठ कर शास्त्रीय संगीत सुनने जैसी बात न थी। वह तो संगीत के कारोबार मे एकदम सम्मिलित होने जैसी बात थी। संगीतज्ञों के साथ एकात्म हो गया था। रामकली मे कौन-सा परदा लगाने से स्वर की कितनी क्षति-वृद्धि होती है, भैरव से भैरवी का मूलगत क्या पार्थक्य है, दरबारी कान्हड़ा में उदारा के कोमल निषाद में आकर कितनी देर रुकने पर स्वर से माधुर्य में वृद्धि होती है—यह सब देख कर मैं चकित हो जाता। इसके बाद ख्याल और ठुमरी थी। ख्याल के ताल-विस्तार और लयकारी तथा ठुमरी के ताल विस्तार में नियम का अतिक्रमण कर बेपरदे मे आना, उसके बाद संगीत की सही बंदिश की ओर लौट आने के तौर तरीके को देखकर मुझे अपने मन में साहित्य के नये अंग का आभास मिलता था। मुझे लगता कि उत्कृष्ट उपन्यास एवं ठुमरी की बंदिश के कौशल में कोई विशेष अन्तर नहीं है यह तो ठीक हमारे उपन्यास के जैसा तकनीक है—दो कदम आगे बढ़ कर एक कदम पीछे हट जाना। स्वर की सीढ़ियाँ चढ़ते-चढ़ते कभी लड़खड़ा जाना और फिर उसी क्षण उठ कर खड़े हो जाना। अवरोह मे आते-आते लूप लाइन मे चले जाना और तान का विस्तार कर ताल-लय को ठीक रखते हुए सहज एवं जीवन्त गति से सम पर चले आना—ठीक उसी तरह जिस तरह तॉलस्ताय ने 'वार एण्ड पीस', रोमा रोला ने 'ज्या

क्रिस्तोफर' और डिकेन्स ने 'ए टेल आफ टू सिटीज' मे लिखा है।

उसी समय कलकत्ता मे दो विख्यात उस्तादों का आगमन हुआ। एक थे ठुमरी-विशारद उस्ताद अब्दुल करीम खाँ और दूसरे थे फैयाज खाँ साहब। हम सदल-बल उस्ताद अब्दुल करीम खाँ का गायन सुनने युनिवर्सिटी इंस्टीट्यूट गये। उस्ताद जी ने गायन आरम्भ किया। स्वर बहुत ही महीन, मीठा और क्षीण था। शुरू करने के पहले आलाप लिया, उसके बाद गायन। 'यमुना के तीर' (भैरवी) मन्दर बाजे (शुद्ध कल्याण) 'प्यारा नजर नही' (बिलावल), 'पिया के मिलन की आस' (जोगिया) और बहुत सारे। 'यमुना के तीर' मे कितने शब्द ही थे। गीत था—

यमुना के तीर
गोकुल ढूंढा, बिनदावन ढूंढा
कौन कैसे लागे तीर।

पूरे गीत की यही कथा थी। किन्तु इस साधारण तीन पंक्ति की रचना को लेकर तबले की आठ मात्रा के ठेके के साथ ताल रख कर उस दिन उन्होंने कितना अलौकिक कार्य करके दिखाया। तीन घटे तक उनकी वह क्या कसरत थी। एक ही कथा का हजार बार उच्चारण कर, एक ही परदे पर बार-बार आकर, कथा को तोड़-मरोड़ और घुमा-फिरा कर, भैरवी रागिनी के समस्त रस को निचोड़ कर हम सबको एक शाश्वत ध्रुव, एक वैराग्य की ओर ले गये और हम उस ध्रुव और वैराग्य का स्पर्श पाकर परिशुद्ध हो गए, पवित्र हो गये। उस्ताद गीत गाने लगे और मैं स्वयं का अन्वेषण करने लगा। लगा, यह गायन नही है, अपितु मैं कोई उपन्यास पढ़ रहा हूँ। पढ़ते-पढते क्षण, दिन, मास और वर्ष बीतते जा रहे है। पुस्तक, हजार, दो हजार, तीन हजार पृष्ठों की है। मन मे हो रहा है, सिलसिला चलता रहे और चलता रहे। इस अच्छा लगने के भाव का अन्त न हो। मूल कहानी से हट कर लेखक जिस प्रकार एक छोटे चरित्र को लेकर अन्य प्रयोग सुनाने लगता है और पुन: चुपके से मूल कहानी की धारा मे लौट आता है, ठीक उसी तरह खाँ साहब भी एक मूल स्वर को तोड-मरोड़ कर तिरछे चलकर उसे किसी विषय पर लिए चले आते हैं और फिर ठीक समय पर मूल स्वर मे लौट आते है। एक बार भय लगता है कि लो सब बंटाधार हो गया, सारा हिसाब गड़बड़ा गया, किन्तु नही, अनायास ही सबके विपदा जाल को काट कर निरापद और निर्विघ्न ठौर पर आकर रुक जाते हैं और हम श्रोताओं के स्थान से प्रशंसा में वाह-वाह का शोर सुनाई देता है। हमे शान्ति मिलती है, सुख मिलता है, हम निश्चिन्तता की सांस लेते है। और हम सब ध्यान से गायन सुन रहे थे, गायन सुनकर मुग्ध हो रहे थे, मैं उस समय कुछ सीख रहा था। गायन की आंगिकी नही सीख रहा था बल्कि उपन्यास लिखने की तकनीक सीख रहा था। इतने दिनों से संसार के बड़े-बड़े एपिक उपन्यासों को पढ़ता आ रहा हूँ। हजार-हजार पृष्ठ की पुस्तकों को रात-दिन पढते-पढते गल्प के जाल में फंस कर उन्ही में डुबकियाँ लगा रहा हूँ। जब वे सब पुस्तकें समाप्त होती तो सोचता, ये पुस्तकें और भी बड़ी होती तो अच्छा होता।। किन्तु उन दिनो उन सब बड़े-बड़े लेखको ने कहानी लिखने के

मुझे विश्वास है

कौशल पर ध्यान नहीं दिया था, पाठकों को मुग्ध करने का जादू कहाँ है, उसको खोजने की चेष्टा की ओर उनका मन नहीं गया। इस बार मेरा मन उस ओर गया। तब शिक्षार्थी की तरह ध्यानपूर्वक गायन सुनने पर मुझे ज्ञात हो गया कि वह जादू कहाँ है, वह रहस्य कहाँ है। मेरी समझ में आ गया कि ग्रहण और वर्जन के समन्वय में ही समस्त कलाओं का मूल स्वर निहित है। वह चाहे संगीत हो या साहित्य। तथ्य यही है कि कौन-सी बात कब कितनी कहनी है और कितनी नहीं कहनी है। यह कहने और न कहने का वजन अगर ठीक है तो कोई भी कहानी कितनी ही लंबी बना कर कही जाये, वह पाठकों को अन्त तक विरमाये रखेगी। ऐसा होने पर ही हम पाठक को उसका काम भुला सकेंगे। उसकी गाड़ी छुड़ा सकेंगे, उसकी भूख-प्यास, रोग-यातना सब कुछ दूर कर सकेंगे। और उसी के अन्तराल में मैं उसे इन्द्रिय जगत से ऊपर उठा कर अतीन्द्रिय लोक में पहुँचा सकूँगा। मैंने दूसरे का लिखा उपन्यास पढ़ कर जो अमृत-अनुभूति पाई है, उसे भी मैं उस अनुभूति का अपार्थिव आस्वाद दे पाऊंगा।

यह बात मैंने जितनी सहजता और संक्षिप्तता के साथ बताई है उस समय मेरे लिए यह चीज इतनी सहज न थी। और आज, इतने दिनों के बाद भी, इस चीज को ठीक-ठीक समझ गया हूँ, यह भी नहीं कह सकता। क्योंकि यह कोई गणित का सत्य नहीं, रस का सत्य है। रस के सत्य को कभी भी लकीर खींचे हुए रास्ते की दोनों सीमाओं में आबद्ध करके रखना सम्भव नहीं है। रखने पर वह रस नहीं रह जाएगा, गणित में परिणत हो जाएगा।

उस्ताद के संगीत के सरूर से मस्त होकर जब मैं स्वर के सागर में अवगाहन कर रहा था, ठीक उसी समय कलकत्ते से एक और उस्ताद का आगमन हुआ—उस्ताद फैयाज खाँ साहब। हिन्दुस्तान रेकार्डिंग कंपनी में उनके संगीत की रेकार्डिंग की गई। उसी सिलसिले में सबके अनुरोध पर उन्होंने एक दिन अपना गायन सुनाया—झन-झन-झन-झन पायल बाजे (नट बिहाग)। उन्होंने इसे अन्य प्रकार से गाया। अब्दुल करीम खाँ साहब की तरह महीन, मीठा और क्षीण गला नहीं, वरन् उदात्त, गम्भीर और जोरदार कण्ठ। बंगला भाषा में 'बाजखाँई' (कर्कश एवं जोरदार) शब्द का व्यवहार करने पर वह निन्दा सूचक लगता है, लेकिन वही 'बाजखाँई' गले की आवाज कर्कश क्यों नहीं लगी, यह आश्चर्य है। इसका एकमात्र कारण उस्ताद जी का असाधारण रूप से जोरदार गला था। जोरदार होने के कारण ही उनका आलापचारी इतना मीठा लगा, विशेष रूप से उनके बोल-तान का छन्द भाग। इसका भी एक भिन्न प्रकार का सौन्दर्य है—विशेष करके सुबोध घोष के 'भारत प्रेम-कथा' की भाषा के गांभीर्य की तरह। कर्कश होने पर भी जोरदार। उस समय विशेष रूप से रूस के एलेक्सी तॉल्स्तॉय के 'फेडरिक द ग्रेट' उपन्यास की भाषा के सादृश्य की बात मेरे मन में आयी। विषयवस्तु के साथ बहिरंग का सामंजस्य होना चाहिए—मानो फैयाज खाँ साहब ने मेरी आँखों में उँगली डाल कर यह बात बता दी और आज निष्कपट भाव से इस बात को स्वीकार करने में मैं गौरव का अनुभव कर रहा हूँ कि उस दिन उन दोनों उस्तादों का संगीत सुनते-सुनते मैंने उनका अपने

मुझे विश्वास है

साहित्यिक जीवन के गुरु के रूप में मन ही मन वरण कर लिया। उन्हीं के पास मैंने साहित्य का इजारबन्द बाँधना सीखा। आज कोई-कोई अनभिज्ञ बंगाली पाठक मेरे लेखन में रेपिटीशन या पुनरुक्ति एवं घुमा-फिरा कर कहानी कहने के अभियोग में मुझे अभियुक्त बनाते हैं किन्तु इस विधा की नक्काशी और व्याकरण को सरल करने की शिक्षा मैंने उन्ही लोगों से ली है। मनुष्य का जीवन जिस तरह सीधे पथ पर चलने को तैयार नहीं होता, भारत के शास्त्रीय संगीत एवं एपिक उपन्यास की भी ठीक यही दशा है। जीवन-क्षेत्र समतल भूमि तो नही है, चढाई-उतराई और जाने-आने के नियम में वह विचरण करता है, इसी कारण उसे घुमावदार पथ पर परिक्रमा करनी पड़ती है। बहुत समय तक घुमावदार पथ पर चक्कर लगाने के बाद पुनः वह प्रारम्भ से साक्षात्कार करता है तब उसकी भूल दूर होती है। उस समय वह फिर आगे बढ कर दूसरे की ओट में खड़ा हो कर जरा सुस्ता लेता है। लेकिन इस मार्ग पर चलते हुए कलाकार को एक बात का सदा ध्यान रखना चाहिए कि गन्तव्य बिन्दु तक पहुँचने का उसका लक्ष्य स्थिर है। अवश्य ही कलाकार को स्वय अत्यन्त विपत्ति का जाल बुनना होगा और उसे स्वयं ही विपत्ति के उस जाल को काटने के लिए मारक अस्त्र का आविष्कार करना होगा। किन्तु यह विपत्ति की सृष्टि एवं संहार का समन्वय जितना ही सुष्ठु और जितना ही निर्दोष होगा, कलाकार की प्रतिष्ठा और सफलता उतनी ही अधिक होगी। किन्तु इन सबके भी ऊपर सम या क्लाइमेक्स का स्थान है। और वह एक ऐसा क्लाइमेक्स है जिसका संकेत उस ध्रुव और वैराग्य की ओर होता है जो चित्र को विशुद्ध और प्राण को बनाता है।

प्रारम्भिक जीवन मे मैंने एपिक उपन्यास पढे थे। किन्तु केवल पढने से ही तो उनका अर्थ समझ मे नही आ सका। इन दो उस्तादों की गायकी सुन कर उनका अर्थ समझ में आया। कहा जा सकता है कि उन्ही लोगों ने पहले-पहल मेरी आँखें खोली।

लेकिन यह सब जानते हुए भी रातों-रात मुझे कोई अर्थ-लाभ न हुआ। यह तो केवल तकनीक या आंगिक है। या फिर कला-कौशल। लेकिन विषय वस्तु को कहाँ खोजूँ? अर्थात् किस पर लिखूं?

एकाकीपन बहुत कष्टदायक होता है। अकेले रहने की यातना को वही समझता है जो अकेला होता है। असंख्य साथियों से घिरे रहने पर भी एकाकीपन या जिस प्रकार की निस्संगता का बोध होता था, वह मुझे बीच-बीच में विकल कर देता था। लेकिन जिस प्रकार प्रत्येक वस्तु का एक अच्छा पक्ष है उसी प्रकार एकाकीपन का भी एक अच्छा पक्ष है और वह यह कि एकाकीपन आदमी को सोचने को बाध्य करता है। आस-पास का संसार उसे प्रसन्न नही कर पाता। वह इसका संस्कार करना चाहता है, वह इसमे परि-वर्तन चाहता है। वह इस संसार को नये चेहरे मे देखना चाहता है। जो लोग उसके आस-पास चक्कर काटते रहते हैं। उनके दोष और उनकी त्रुटियाँ उसको दृष्टिगोचर होती है। उसे लगता है कि यदि ये लोग अन्य प्रकार के होते तो अच्छा होता। वह सोचता है मनुष्य सुखी कैसे हो, मनुष्य का समाज, उसका राष्ट्र और प्रत्येक मनुष्य का चरित्र और शृङ्खलाबद्ध कैसे हो। यदि इसकी इच्छा के अनुरूप मनुष्य या समाज या

राष्ट्र न हो तो उस दशा से वह विद्रोह करता है या फिर और भी निस्संग हो जाता है।

उन दिनों मुझमें विद्रोह करने की क्षमता नहीं थी। अत. मेरे स्वभाव ने मुझे और भी निस्संग बना दिया। कोई मनोनुकूल विषयवस्तु भी नहीं मिली कि जिसके बारे में एकाग्र चिन्तन करूँ। विषयवस्तु की खोज में पूरा कलकत्ता छान डाला। विद्यासागर कालेज में बी० ए० में पढ़ते समय एक दिन सहसा नाटकीय ढंग पर एक छात्र से मेरा परिचय हो गया। वह मुझसे एक श्रेणी आगे का छात्र था। शंकर घोष लेन के मुहाने पर बस में उतरते ही आमना-सामना हो गया।

छात्र ने सामने आ कर कहा, "आज एक बार मेरे घर पर आइयेगा ?"

मैं अवाक् रह गया। पहरावा था मूँगे की सुनहले रंग की एक शर्ट और उसमें मीनाकारी वाले हीरे के बटन लगे थे। जरी किनारी की चुन्नटदार धोती। पाँवों में हरिण के चमड़े का पंप-शू। शरीर थुलथुल मोटा और उस पर दूध में महावर मिलाया हुआ जैसे देह का रंग। अर्थात् परिचित जगत के मनुष्यों से एकदम भिन्न।

मैंने कहा, "आपका मकान कहाँ है ?"

उसने कहा, "निकट ही, तेरह नंबर कार्नवालिस स्ट्रीट में। मैं फोर्थ इयर में पढ़ता हूँ। मेरा नाम सुत है, सुत लाहा—"

वास्तव में सुत का पूरा नाम था सतीन्द्रनाथ। विद्यासागर कालेज के ठीक पीछे लाल रंग के मकान में रहता था। मुझे उस दिन अपने घर ले जाने की इच्छा के पीछे एक घटना थी। उस घटना को यहाँ बताने की आवश्यकता है और वह इसलिए कि मेरे भावी लेखकीय जीवन और मेरी साहित्य-रचना के साथ इस मकान की एक कड़ी जुड़ती है। इसके एक दिन पूर्व विद्यासागर कालेज के छात्र यूनियन की संगीत-प्रतियोगिता के किसी एक विभाग में मैं प्रथम आया था। उसके लिए मुझे एक स्वर्ण-पदक भी मिलने वाला था। यह घटना लगभग वैसी ही थी जैसी वन में सियार का राजा होना। कुछ सहपाठियों ने, जिन्हें मेरे संगीत के नशे की जानकारी थी, उन्होंने जबरन, मेरे अनजाने ही, मेरा नाम प्रतियोगियों की सूची में घुसेड़ दिया था। और अन्त में जैसा होता है, 'नाचने ही चले तो घूँघट की क्या आवश्यकता'। यह सोचकर मैं भी ईश्वर का नाम स्मरण करते हुए सम्मिलित हो गया था। विचारक निर्णायक थे मेरे मित्र अनिल बागची और उस्ताद रामकिसन मिश्र। साहित्य के क्षेत्र में किसी स्थानीय घनिष्ठ बन्धु के निर्णायक होने पर स्वदेशी पुरस्कार तो साधारण बात विदेशी नोबेल पुरस्कार भी प्राप्त हो जाता है। इस क्षेत्र में भी वही हुआ। लेकिन वह सुदूर फलप्रद होगा इसकी उस दिन मैं कल्पना भी नहीं कर सका था। 'सुदूर फलप्रद' इसलिए कह रहा हूँ कि मेरा विद्यासागर कालेज में पढ़ने जाना, वहाँ संगीत-प्रतियोगिता में प्रथम होना तथा उस तेरह नंबर कार्नवालिस स्ट्रीट भवन में जाना—इन सबको यदि मैं अपने साहित्यिक जीवन का सोपान कहूँ तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

सुत लाहा एक ऐसे परिवार का वंशधर था जो वंश ब्रिटिश शासन के सामंतशाही शोषण का अन्यतम पुराना भागीदार था। चारों ओर से घिरा हुआ अन्दर महल था,

चौकोर आँगन के बाहर पूजा का दालान था। फाटक के अन्दर जाते ही दरबान मिलता था। अस्तबलों में अनेक गाड़ी खड़ी थी और उसके साथ ही अनुपार्जित अर्थ-कुलीनता का श्रमहीन कृपणता-मिश्रित विलास-व्यसन दिखता था। यह बात केवल उसी मकान के साथ नहीं थी, कलकत्ते के लाल रंग के समस्त पुराने अभिजात मकानों का यही एक इतिहास था।

स्मरण है, मेरा उस मकान के भीतर प्रथम बार का प्रवेश, यह उनके भवन के भीतर चरण रखना ही न था, बल्कि प्राचीन इतिहास का संरक्षी अन्दर-महल मे चरण रखने के समान ही रोमांचकारी था। पुरानी ईंटों की मोटी-मोटी दीवारें, लकड़ी की सीढ़ी। गृहपति बाबुओं के झक्की स्वभाव के चिह्न से संवलित संगमरमर के फर्श की स्वच्छता और दो मंजिले पर गावतकिया और जाजिम से सजा नाचघर। सब कुछ जैसे उन्नीसवी शताब्दी के ब्रिटिश-शासन के मुतसद्दी बनिया लोगों का लुप्त अवशेष—इतिहास में पढ़े ऐश्वर्य की कल्प-प्रतिमा। और मैं उस समय विद्यासागर कालेज के तृतीय वर्ष का केवल एक अख्यात और मध्यवित्त का छात्र ही न था, बीसवीं सदी का अनुसन्धानी गवेषक भी था। वहाँ प्रवेश करने के बाद मेरे मस्तिष्क में सबसे पहले जो प्रश्न उठा वह यह कि ये कौन हैं? इतिहास की किस शताब्दी के गह्वर मे इनकी जड़ है? हमारी जीवन-यात्रा प्रणाली से इनकी जीवन-यात्रा-प्रणाली में इतना अन्तर क्यों है?

घर में प्रवेश करते ही देखा कि कालेज के बंगला के अध्यापक पूर्णचन्द्र विश्वास जाजिम पर बैठे हुए है। मुझे देखकर अभ्यर्थना की और बोले, 'कल तुम्हारा संगीत सुनकर मुझे बहुत आनन्द आया। इसीलिए तुमसे बातचीत करने के अभिप्राय से सूत को तुम्हें बुला लाने को भेजा था। जिस विमल मित्र की रचना पढ़ने को मिलती है क्या तुम्ही वह हो ?"

उसके बाद बोले, "तुम और एक गीत गाओ, मैं सुनूं"।

मैंने सविनय कहा, "सर, मैं गा न सकूंगा।"

"क्यो?" पूर्ण बाबू को मेरी बात पर विश्वास नहीं हुआ। बोले, "निश्चय ही गा सकोगे। दूसरे सब लोगों का संगीत सुनते-सुनते मुझे नीद आ रही थी, ऐसे समय में तुम्हारा संगीत आरम्भ हुआ और जाग उठा।"

सूत बोला, "सर, एक गीत का रेकार्ड है।"

मैंने कुण्ठा भरे स्वर में कहा, "सर, वह कुछ नही है। उस रेकार्ड की नाम मात्र की भी बिक्री नही हुई है।"

पूर्ण बाबू बोले, "इससे क्या होता है? अभी तुम्हारी आयु कम है। अभी से इतने निराश क्यो हो रहे हो?"

आयु के कम होने से योग्यता का किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नही है, इस बात को जिस तरह उन दिनो कोई समझना नही चाहता था, आज भी उसी तरह समझना नहीं चाहता। याद है, 'प्रवासी' पत्रिका के कार्यालय में जा कर जब मैं ब्रजेन्द्रनाथ बन्द्यो-

पाध्याय के सामने खड़ा होता था तब उन्हें भी विश्वास नहीं होता था। प्रत्येक बार ही भूल कर बैठते। पूछते थे, "किसकी रचना है। तुम्हारे बड़े भाई की ?"

उसके बाद जब उन्हें पता चलता कि प्रकाशित रचना का लेखक मैं स्वयं हूँ तब उनका गम्भीर चेहरा गम्भीरतर हो जाता और वे एक पैड खींचकर उस पर कहानी का नाम, पृष्ठसंख्या लिखकर हस्ताक्षर कर देते थे। मैं उसे लेकर पहले तल्ले पर केदार चट्टोपाध्याय के पास जाता था। वे उसे देखते ही मुझे रुपया दे दिया करते थे। पारिश्रमिक की दर तीन रुपया प्रति पृष्ठ थी। प्रत्येक प्रकाशित रचना पर पारिश्रमिक देने के नियम का प्रथम सूत्रपात सम्भवतः रामानन्द चट्टोपाध्याय महाशय ने ही किया था। और रचना का चुनाव उनकी दो कन्याएँ— सीता देवी एवं शान्ता देवी—करती थी। इसी कारण से चुनाव के सम्बन्ध में 'प्रवासी' की ओर से किसी प्रकार की राजनीति या दलबन्दी या किसी प्रकार की दुर्नीति को प्रश्रय पाने का अवसर नहीं मिलता था।

एक ओर लेखन का वही क्रम चल रहा था, दूसरी ओर अक्रूरदत्त लेन का संगीत का अड्डा और उसके साथ ही कालेज के बी० ए० कक्षा के बीच-बीच में सूत लाहा के घर की कहानी सुनना। वह ठीक कहानी तो नहीं है बल्कि इतिहास की परिक्रमा है। मुगल-शासन पर प्रभुत्व स्थापित कर पाश्चात्य जगत के यन्त्र-युग के वाणिज्य विधाताओं ने उस समय हिन्दुस्तान के सिंहासन पर बैठकर शासन करना आरम्भ कर दिया था। यहाँ से उन्हें कच्चा माल चाहिए था। उस कच्चे माल को खरीद कर मैनचेस्टर, बर्मिघम या डॉनकार्क भेजना होता था। यहाँ से नील, सोरा, पाट, तीसी तम्बाकू और भी अनेक चीजें भेजनी हैं। इन सब कच्चे मालों से दैनिक उपयोग की वस्तुएं तैयार होंगी।! उसके बाद उन्हें अफ्रीका-एशिया के बाजार में उपयोगी वस्तु के रूप में महँगी कीमत में बेच कर ब्रिटिश साम्राज्य की ऐश्वर्य-वृद्धि करनी होगी। उसके लिए एजेण्ट और दलाल चाहिए। किन्तु दलाली करेगा कौन? तभी इन शील, मेठ, मल्लिक, लाहा वंश के पुरखे आये। रातों-रात दलाली के मोटे कमीशन से फूल-फल कर वे मोटा गए। अर्थ-कुलीनता का मुकुट पहन कर वे समाज के सिर-मौर हो गये। "और वह जो हमारे तेरह नंबर कॉर्नवालिस स्ट्रीट के मकान के सामने गोल-गोल खम्भे वाला भवन है, वह साधारण ब्राह्म समाज है—ब्राह्म समाज का मन्दिर।" सूत की कहानी सुनकर मन में होता जैसे दोनों ओर के दो मकान एक साथ ही खड़े हुए हैं—उनमें से एक था ब्रिटिश सामन्तवादी युग के शोषण, शासन की ठोस नींव और दूसरा था उसके ठीक विपरीत, सामन्तवाद की जड़ के विरुद्ध पहला विद्रोह, प्रथम वज्राघात करने वाले राम मोहन राय का प्रतीक। ईसा-मसीह जिस प्रकार स्वयं ईसाई नहीं थे, पर ईसाई धर्म के उत्स थे, उसी प्रकार राम-मोहन राय भी स्वयं ब्राह्म नहीं थे, परन्तु ब्राह्म धर्म के प्रवर्त्तक थे। संस्कार-मुक्ति के प्रथम उपासक।

कॉर्नवालिस स्ट्रीट के एक ही मार्ग पर आमने-सामने खड़े दो विपरीत धर्मी भवन विद्यासागर कालेज के एक तुच्छ मध्यवित्त छात्र के मन में एक अन्य युग की प्रतिध्वनि जगा रहे थे। वह छात्र और कोई नहीं, स्वयं मैं था। मानो मैंने उन्नीस वर्ष बाद

'भूतनाथ' बन कर जन्म लिया था।

किन्तु उस कथा को यही छोड़ता हूँ।

कलाकार के जीवन मे एक ऐसा समय आता है जब यातना सहते-सहते यातना फिर यातना नही रह जाती है। यातना का प्रलेप चढते-चढते उसकी अनुभूति-शक्ति या तो भोथरी हो जाती है या फिर यातना के ऊपर उठकर वह एक रूप ग्रहण कर लेती है। उसका नाम है आनन्द। अनुभूति के जगत् मे भी एक स्तर होता है जहाँ पहुँच कर चरम यातना और चरम आनन्द एक ही रूप धारण कर लेते हैं। तब दोनो में कोई भी अन्तर नही रह जाता। यातना होने पर उससे ऊपर उठने की जो यह प्रक्रिया है उसके लिए उन्नीस वर्ष के समय की परिधि कुछ अधिक नही है किन्तु मेरे लिए वह क्रमशः असह्य हो उठी थी। यातना की नही वह आनन्द की असहनीयता थी। उस्ताद अब्दुल करीम और फैयाज खाँ साहब से आंगिक की मोटे तौर पर एक रूपरेखा पहले ही पा चुका था। उसके बाद विषयवस्तु की भी एक पृष्ठभूमि तेरह नम्बर कॉर्नवालिस स्ट्रीट के वातावरण से प्राप्त कर चुका था किन्तु लिखने मे भय लगने लगा। ऐसा लगता जैसे अभी कुछ और सामग्री का अभाव है। अभी कुछ और माल-मसाला चाहिए। वह यह कि ब्रिटिश शासन मे सडक और मकान मे किस प्रकार की रोशनी जलती थी, ट्राम-बस के स्थान पर किस प्रकार की सवारियाँ थीं। यही सब 'आनन्द बाजार' के मन्मथ सान्याल महाशय से पूछा। वे बोले—रामसुन्दरी दासी की रचना 'मेरा जीवन', शिवनाथ शास्त्री का 'आत्मचरित' एवं 'रामतनु लाहिडी और तत्कालीन बंग समाज' का अध्ययन कीजिए। अथवा प्रमथनाथ मल्लिक की 'कलकत्ते की कथा' पढिये। उन्होने और अनेक पुस्तको का नाम बताया।

जब इस प्रकार की छटपटाहट मे मरने लगता तब सन्ध्या को मैं अक्रूरदत्त लेन के अड्डे पर जाकर बैठ जाता। अनुपम घटक और प्रफुल्ल मित्र को लेकर रात्रि डेढ़-दो बजे तक कर्जन पार्क की घास पर बैठे-बैठे बेकार की गपशप करते और समय व्यतीत कर देता। प्रफुल्ल मित्र अत्यन्त रसिक व्यक्ति था। हिन्दुस्तान के समस्त स्टूडियों मे प्रफुल्ल की ख्याति फैली हुई थी। एक ओर वह बहुत अच्छा मूवी-कैमरामैन था, दूसरी ओर चण्डी बाबू का रेफ्रिजरेटर खराब हो जाता तो उसकी मरम्मत भी कर देता था। कभी वह पियानो लेकर बैठ जाता, दूसरे ही क्षण 'नूपुर बजे जाय रिनिझिनि' या 'बंधु हे चलो, चलो', गीत रेकार्ड करने लगता।

एक दिन अड्डे से घर लौट रहा था। उस समय वह रात अडडेबाजी करते-करते कब बीत चुकी थी, इसका पता ही न चला। घडी की ओर देखा, प्रातःकाल के पाँच बजे हैं। मैं भी घर के भीतर जा रहा था और उधर से पिता जी भी प्रातः भ्रमण का वस्त्र धारण कर बाहर निकल रहे थे। मुझे सामने देख वे चौंक उठे। पूछा, क्या अभी लौट रहे हो?

मैंने बस इतना ही कहा, 'हाँ'।

यह कह कर सिर झुकाये घर के भीतर चला गया। पीछे से पिताजी का दूसरा

प्रश्न कानों में आया—इतनी रात तक कहाँ रहते हो ?

मैंने उनके इस प्रश्न का उत्तर देना आवश्यक नहीं समझा। सीढ़ियाँ पार कर सीधे दोमंजिले पर अपने कमरे में चला गया। किन्तु नींद नहीं आ रही थी। मैं जानता था कि मेरे लिए बरामदे की मेज पर एक थाली में कुछ रोटियाँ, थोड़ी-सी तरकारी और मछली और उसके साथ एक कटोरी दूध बिल्ली के पी जाने के भय से भारी ढक्कन से ढँक कर रखा हुआ है।

मैंने धीरे से उन चीजों को पड़ोसी के भवन के एक तल्ले की खुली छत पर फेंक दिया। उसके बाद निश्चिन्त होकर खाट पर अपनी देह निढाल छोड़ दी। मुझे ज्ञात था कि खाने की इन वस्तुओं को लोगों की नींद टूटने के पहले ही अन्धेरा जैसे ही थोड़ा-बहुत छँटने लगेगा वैसे ही कौए आकर सब समाप्त कर डालेंगे और घर के लोग समझेंगे कि मैंने भर-पेट सब खाया है। खाकर निश्चिन्त होकर सुख की नींद सो रहा हूँ।

प्रायः प्रतिदिन यही क्रम चल रहा था। आज यदि कोई मुझसे पूछे कि तुम, इस प्रकार का आचरण क्यों करते थे ? सामान्य जीवन क्यों नहीं जी पाते थे ? और-और लोग जिस प्रकार का आचरण संसार में करते हैं उसी प्रकार तुम सहज-स्वच्छन्द क्यों नहीं हो पाते थे ? तो इन प्रश्नों के उस दिन मैं क्या उत्तर देता, नहीं जानता। परन्तु आज बता सकता हूँ कि इसका एकमात्र कारण तेरह नम्बर कॉर्नवालिस स्ट्रीट का वह भवन और उसके ठीक सामने खड़ा ब्राह्म समाज का वह साधारण सा मन्दिर था—संस्कार और संस्कार-मुक्ति के प्रतीक स्वरूप। वे दोनों मुझे केवल विकल करते थे। वे दोनों भवन आज इतने ही दिनों के बाद अब उस स्थिति में नहीं हैं। हो सकता है उनके वास्तविक रूप आमूल बदल गए हों। परन्तु चालीस वर्ष पूर्व देखी हुई वह स्थिति आज भी मेरे मन में सत्य बनी हुई है। उनके सही चेहरे उस अल्प आयु की दृष्टि में जिस रूप में अंकित हो गए थे, आज भी वह धूमिल नहीं हुआ है।

जब निर्धारित पाठ्य पुस्तकों में अपने मन को तल्लीन रखना अत्यावश्यक और अनिवार्य था उस समय मैं उनसे उदासीन होकर कलकत्ते के अग्रज प्रतिष्ठित लेखकों से पूछता था—आप लोग उपन्यास किस प्रकार लिखते हैं ? सभी कुछ क्या पहले से ही सोचकर लिखना आरम्भ करते हैं ?

इसी प्रकार के अनेक प्रश्न उन दिनों मुझे बेचैन करते रहते थे। छोटी कहानियाँ तो पर्याप्त संख्या में लिख चुका हूँ। अनेक प्रसिद्ध पत्रिकाओं में वे छप भी चुकी हैं लेकिन उपन्यास नहीं लिखूँगा तो लेखकों में मेरी गिनती नहीं होगी।

परन्तु किसी से भी कोई सदुत्तर प्राप्त नहीं होता था। अथवा जो उत्तर मिलता था वह मेरे मन को सन्तुष्ट नहीं करता था। संसार के किसी भी सरल मनुष्य को जिस प्रकार किसी दूसरे मनुष्य के स्वभाव चरित्र में कोई साम्य नहीं मिलता, उसी प्रकार एक लेखन-पद्धति का दूसरे लेखक की लेखन-पद्धति में कोई साम्य मिलेगा, इसका भी कोई विधिवत नियम नहीं है।

उद्वेग और चिन्ता से मेरी उच्छृंखलता और बढ़ गयी। उस समय नियम-पूर्वक मैं

कुछ कर नहीं पाता था । घर अथवा बाहर सर्वत्र प्रतिकूल परिवेश था। वास्तव में मेरी ही अक्षमता ने बाह्य जगत को मेरे प्रतिकूल बना दिया था और इस तथ्य को मैं उन दिनो हृदयंगम नही कर सका था ।

उन दिनों जो मेरे जीवन के एकमात्र शुभाकांक्षी थे, उन्होंने एक दिन मुझे पकड़ कर अपने पास बैठाया और बोले, "तुमने अब क्या करने का विचार किया है ? किस लाइन मे जाओगे ?"

पुत्र के भविष्य की सुरक्षा प्रत्येक स्नेहशील पिता चाहता है। इसमें कोई नवीनता नही है। तब प्राक्युद्ध-काल था। संसार भर के लोग बेकारी के अभिशाप से ग्रस्त थे। लेकिन मेरे पितृदेव की क्षमता असीम थी। बेकारी के उस युग मे भी वे इच्छामात्र से अपने लड़के के लिए एक सरकारी नौकरी का प्रबन्ध कर दे सकते थे । क्योकि वे स्वयं उस समय एक अवकाश प्राप्त उच्च पदस्थ सरकारी कर्मचारी थे। और सरकारी-नौकरी मे उन दिनो एक ऐसा गुण था जिसके कारण जीवन-भर के लिए इस प्रकार का एक स्थायित्व प्राप्त हो जाता था जो कही दूसरी जगह प्राप्त नही हो सकता था। "मैं एम० ए० पढ़ूंगा।" मैंने कहा।

पिता जी बोले, "एम० ए० पढ कर क्या होगा ? स्कूल-कालेज में मास्टरी करोगे ?"

मेरा उत्तर पा कर वे फिर बोले, "तुम्हारा एक भाई डाक्टर है और एक भाई इंजीनियर। मेरी इच्छा है तुम एकाउण्टेण्ट बनो, उससे बहुत आय होगी।"

मुझे क्रोध आ गया। बोला, "मुझे बहुत धन की आवश्यकता नही है। धन तो सब चाहते हैं, उनमे से यदि एक आदमी धन न चाहे तो हर्ज ही क्या है ?

"धन नही चाहते हो ? धन न रहेगा तो काम कैसे चलेगा ?" एक दिन विवाह करोगे, गृहस्थी बसाओगे। चिरकाल तक तो मैं भी जीवित नही रहूँगा। मेरी आयु भी अधिक हो गयी है। तुम्हारा कोई हीला-हवाला हो जायगा तो मैं निश्चिन्तता के साथ दुनिया से विदा हो सकूँगा।

हाय रे मनुष्य की शुभाकाक्षा। मानो मनुष्य की सभी शुभाकाक्षाएं सफल हो जाती है, "मानो मनुष्य की सभी इच्छाएं पूर्ण हो जाती हैं।"

मेरा मित्र सूत लाहा जब मेरे घर आता, मेरे पिता जी उसे एकान्त मे बुलाकर कहते, "सूत बताओ तो वह क्या करेगा ? बी० ए० तो पास कर चुका है, अब तो किसी लाइन में घुस जाना ही उचित है। नौकरी मे तो मैं उसे अभी लगा सकता हूँ। लेकिन उसमें कम तनख्वाह मिलेगी। वह तुमसे कुछ कहता है ? मुझसे तो बात ही नही करता।"

सूत कहता, "अभी तो वह पढ रहा है, पढने दीजिए।"

पिता जी कहते, "देखो, मै चाहता हूँ कि वह विलायत जाय। वहां जाकर चार्टर्ड-एकाउण्टेण्टशिप पढकर आये। अन्त में वह मुझे ही दोष देगा। कहेगा उसके बड़े भाइयो की शिक्षा-दीक्षा के लिए मैंने कितना धन खर्च किया परन्तु उसके लिए कुछ नही किया।"

सूत आकर पिता जी की बातें मुझसे कहता। हम दोनो ही इस पर हँसते थे।

बूढ़ों की बात सुनकर हम कम आयु वालों का उसे हँसी में उड़ा देने का ही तो नियम है। हाँ! इस समय होता तो अवश्य भिन्न होता। काश, इस समय यदि वैसा कोई शुभाकांक्षी मिल जाता जो मेरे लिए सोचे, जो मेरे लिए उद्वेग प्रकट करे, जो मेरी दुर्भावना में सम्मिलित हो, जो मेरे यात्रा-पथ की समस्त बाधाओं को दूर कर उसे निष्कंटक कर दे, लेकिन अब मेरी इस इच्छा-पूर्ति का और कोई उपाय नहीं है। इच्छा-पूर्ति के जो स्वामी है, मेरे लिए उनके भंडार का समस्त उपहार इस समय रिक्त हो गया है। तभी से देख रहा हूँ कि इस समय मैं एकदम निःस्व, असहाय और बेसहारा हो गया हूँ।

स्मरण है कि पितृदेव की इच्छा-पूर्ति के निमित्त अन्ततः मैंने अपनी इच्छा के विरुद्ध एक दिन एकाउन्टेन्सी की कक्षा में प्रविष्ट हो गया। बंगला में लेखा-विधि कहा जायेगा। किसका हिसाब? रुपये पैसे का हिसाब। पाप-पुण्य का हिसाब नहीं — केवल रुपये-आने-पाई का हिसाब। सत्य-असत्य का हिसाब नहीं, अवश्य साहित्य के रस का भी एक हिसाब होता है। उसी प्रकार संगीत के रस का भी हिसाब होता है। संगीत में जिस प्रकार स्वर का एक कठिन हिसाब है, ताल का हिसाब उसमे कुछ कम कठिन नहीं है। तीन ताल और एक खाली के अलावा गीत गाते-गाते गायक को ताल की मात्रा का भी ध्यान रखना पड़ता है। सम यदि दूसरे ताल में न पड़ कर कहीं अन्यत्र पड़ जाय तो गायक के बेसुरे के रूप में बदनाम होने की आशंका बनी रहती है। साधारण धारावाही उपन्यास के सामयिक पत्रिका में प्रकाशित होने के समय भी कलाकार को एक असाधारण हिसाब रखना पड़ता है, एक ऐसी जगह आकर 'क्रमशः' बिठाना पड़ता है, जहाँ पाठक के कौतूहल के थर्मामीटर के पारे का चिह्न ऊंची डिग्री तक पहुँच जाय—और ऐसी डिग्री तक पहुँचे कि बाद वाला अंक पाने के लिए पाठक छटपटाहट से मरने लगे। दक्षिण कलकत्ते में ऐसे दो-एक दक्षिण भारतीय परिवारों को मैं जानता हूँ जो केरल की पत्रिकाओं के ग्राहक हैं। जिस दिन डाक की गड़बड़ी से पत्रिका देर से हाथ में पहुँचती है, उस दिन अपने घर में तैयार किये गये भोजन में उन्हें स्वाद ही नहीं लगता। उनका मन काम में नहीं लगता। यह भी एक हिसाब ही है—रस का हिसाब। यह हिसाब सीखने के लिए कलाकारों को साधना अनिवार्य है। किन्तु रुपये-आने-पैसे का हिसाब तो बहुत गड़बड़-झाला है। यह मेरी परिपाक शक्ति के प्रतिकूल है। रस के हिसाब की थोड़ी-बहुत शिक्षा मुझे अपने गुरु दो उस्तादों से प्राप्त हुई थी। परन्तु गणित की यह विद्या मेरे मस्तिष्क में नहीं घुसी। प्रत्येक दिन मैं क्लास जाता था। पहले पहल जिस हिसाब से मेरी शिक्षा आरम्भ हुई उसका नाम है 'बैलेंस शीट' या 'डेबिट-क्रेडिट'। अंग्रेजी के इन शब्दों से बहुत लोग परिचित हैं। अनेक व्यक्ति दिन-भर के काम-काज के बाद जब तक डेबिट-क्रेडिट कर बैलेन्स-शीट तैयार नहीं कर लेते हैं, तब तक उन्हें सोने के लिए जाने का सुयोग नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त जीवन का डेबिट-क्रेडिट भी है। रवीन्द्रनाथ तो कह गये हैं—"क्या नहीं पाया। इसका हिसाब मिलाने को मेरा मन राजी नहीं है।" जो लोग हिसाब करके जीवन जीते हैं एवं हिसाब के साथ आचार-विचार करते हैं, वे ही लोग संसार में बुद्धिमान और विचक्षण व्यक्ति के रूप में प्रशंसित होते हैं।

किन्तु मैंने व्यक्तिगत जीवन में एकमात्र साहित्य के अतिरिक्त किसी भी प्रकार का हिसाब करके कुछ किया हो, ऐसा स्मरण नही आता। किससे हेल-मेल वढाऊं, किसके सामने क्या बोलूं और कितना बोलूं, किस समाज मे किस प्रकार की पोशाक पहनूं या किस प्रकार का आचरण करूं कि जिससे मेरी कार्य सिद्धि होगी यह सब हिसाब करने को मैं स्वाधीनता का परपंथी समझता रहा हूँ। लेकिन पितृदेव की इच्छा-पूर्ति के लिए मुझे उसी हिसाब-किताब की विद्या में दक्षता प्राप्त करनी होगी। यह कैसी आत्म-ग्लानि है, कैसी आत्म-अनुताप की बात है, इसका अनुमान वही कर सकता है जो मुझे पहचानता है। रामप्रसाद आरम्भिक जीवन मे किसी जमीदारी सिरस्ते के एक सामान्य लेखपाल मात्र थे। लेकिन वे महापुरुष थे इसीलिए हिसाब के खाते मे माँ का नाम लिख कर मुक्ति पा ली। और मै? मैं रामप्रसाद तो नही ही हूँ—यहां तक कि मेरे इस नाचीज़ मूंह से माँ का नाम भी उस प्रकार से नही निकलता। क्या करूं, समझ में नही आता था, यद्यपि छह महीने का अग्रिम शुल्क चुका दिया था। मेरे सहपाठीगण जब लेखा के गणित के कूट-तर्क में विभोर रहते थे, मैं उस समय हठात् एक दिन कक्षा मे नही गया और बिना किसी को बताये सीधे कलकत्ता विश्वविद्यालय के सबसे निन्दित एवं सबसे अवहेलित 'बंगला'-विभाग के कार्यालय में चला गया।

विभागीय लिपिक ने कहा, "अब तो तुम्हारा प्रवेश नही हो सकेगा। तारीख बीत चुकी है।"

बहुत अनुनय-विनय और जोर दबाव के बाद कहा, "आप यदि सेक्रेटरी की विशेष अनुमति ले आयें तभी प्रवेश सम्भव है।"

जहाँ तक मुझे स्मरण है, उन दिनों शैलेन मित्र महाशय सेक्रेटरी थे। विशेष अनुमति प्राप्त करने में परेशान नही होना पडा। आजकल की तरह उन दिनों विश्वविद्यालय मे इतनी भीड़ भी नही रहती थी। अत. पंचम-वार्षिक श्रेणी के उपस्थिति खाते में मेरा नाम लिख गया लेकिन लिखा गया सबसे अन्त मे एवं मेरी क्रमसंख्या सबसे अन्त में थी।

एक बार स्कूल की प्रथम श्रेणी मे जो कुछ हुआ, आशुतोष कालेज में आई० ए० में पढने के समय जो कुछ हुआ और विद्यासागर कालेज में बी० ए० क्लास में जो हुआ उसी प्रकार जीवन एवं साहित्य क्षेत्र मे भी इस समय जो हो रहा है—वही एम० ए० क्लास मे भी घटित हुआ। मुझे सबसे पिछली बेंच पर स्थान मिला।

इस दुर्घटना से घर में मुर्दनी जैसी स्थिति छा गयी। हमारे वंश मे इतना बड़ा सर्वनाश और कभी घटित हुआ हो, ऐसा स्मरण किसी को भी नही आता था। आगे चलकर जिसको एक दिन सब लोगों की कुत्सा, कलंक, अवहेलना, उपेक्षा और अप्रशंसा की गठरी सिर पर लेकर घूमना होगा, उसकी सहनशीलता का श्रीगणेश उसी दिन से हो गया—समझ गया कि संसार मे सहनशक्ति ही सबसे कठिन शक्ति है। जो इस शक्ति पर आधिपत्य स्थापित नही कर सकता है उसे साहित्यक क्षेत्र मे स्वाधीनता पूर्वक आविर्भूत होने का कोई भी अधिकार नही है। मैंने उसी समय से मान लिया था कि आराम नाम की कोई वस्तु मेरे सृष्टिकर्त्ता ने मेरे लिए अपने भण्डार में संचित नही रखी है। और

केवल आराम ही नही शान्ति, स्नेह, प्यार, सहयोग, सहानुभूति आदि शब्द ,मेरे जैसे अयोग्य आदमी के लिए नही बने है। कहा जा सकता हैं कि मेरे लिए कोई दल नही है, मैं निस्संग पदातिक हूँ, मेरे सुख-दुःख का साथी कोई कभी नही होगा—केवल इसी शर्त पर एक निर्धारित अन्तिम क्षण तक मुझे जीवन जीने के निमित्त कठोर संघर्ष करते रहना पड़ेगा। मैंने मान लिया था कि यह निस्संग यात्रा ही मेरी भाग्यलिपि है।

परन्तु भविष्य जिस प्रकार किसी को भी दृष्टिगोचर नही होता, उसी प्रकार मुझे भी अपना भविष्य दृष्टिगोचर नही हुआ। आसपास के वातावरण को देखकर यदि भविष्य का कोई संकेत मिलना सम्भव होता तो वह मेरी मुक्ति के लिए अत्यन्त पीडक सिद्ध होता। मैं नियमित रूप से विश्वविद्यालय की कक्षा मे किसी प्रकार अपनी उपस्थिति बनाये रखता था। लेकिन अधिकाश दिन मेरी उपस्थिति उपस्थिति खाते में लिखी नही जाती थी। कारण रोल संख्या की पुकार होने के बहुत देर बाद मैं कक्षा में उपस्थित होता था। उस समय तक नाम पुकारने का काम समाप्त हो चुका था। कक्षा का द्वार भीतर से बन्द हो गया था। मैं यथारीति प्रतिदिन बन्द दरवाजे को खटखटाता हूँ। कोई भी छात्र या छात्रा कदाचित दया के वशीभूत होकर अथवा तंग आकर द्वार खोल देता है। मनोयोग पूर्वक पढनेवाले छात्र मुझ पर क्रोध करते है। देर से आकर मैंने उनकी पढाई-लिखाई में बाधा पहुँचाई है—मेरा यह अपराध उनके लिए अक्षम्य है। वे सब मेरी ओर क्रोध भरी दृष्टि से देखते है। मैं कुण्ठित चित्त सबसे पीछे की बेंच पर बैठकर अनिच्छा से किये गये अपने अपराध को पचाने का व्यर्थ प्रयास करता हूँ।

दो वर्ष तक इसी प्रकार सिलसिला चलने के बाद जब परीक्षा देने का समय आया तब मैं परीक्षा की फीस का रुपया जमा करने गया तो पता चला कि मुझे परीक्षा देने का अधिकार नही है।

मैंने पूछा, "क्यों ?"

भले आदमी ने कहा, "आप तो नियमित रूप से कक्षा में नही आये हैं। हमारा नियम है कि कक्षा मे कम से कम सत्तर प्रतिशत उपस्थिति होनी चाहिए। आपकी उपस्थिति केवल इकतालिस प्रतिशत है। यह कलकत्ता यूनिवर्सिटी का रेकार्ड है, इससे पहले हमारी यूनिवर्सिटी मे इतनी कम उपस्थिति और किसी की नही हुई है।"

मैंने पूछा, "तब क्या होगा ? क्या मैं परीक्षा नही दे सकूँगा ?"

भले आदमी ने कहा, "दे सकते है, यदि आप वाइसचासलर की विशेष अनुमति ला सकते हो तो।"

जब मेरे जीवन मे सहज भाव से कुछ भी नही हो पाता है तब सहज भाव से परीक्षा देकर सहजता से पास करना, यह मेरे जीवन में सहज कैसे होगा ? मेरे सृष्टिकर्त्ता ने मुझे धरती पर भेजने के समय सम्भवतः मेरे ललाट पर हस्ताक्षर से यह बात लिख दी है कि यदि यह आदमी रक्तपात करके जीवन का सारा ऋण चुका देना चाहेगा तब भी इसका समस्त रक्तपात व्यर्थ प्रयास मे परिणत हो जायेगा। फ्रांसिस बेकन कह गये हैं : If a man will begin with certainties he shall end in doubts but if he

will be content to begin with doubts, he shall end in certainties.*
किन्तु मेरे सम्बन्ध मे उपर्युक्त शब्द भी संपूर्णतया निरर्थक सिद्ध हो चुके हैं। निरर्थक इस माने मे कि मै तो अपना आरम्भ देख चुका हूँ और अब अन्त भी देख रहा हूँ। आरम्भ मे मेरा जो संघर्ष था, जीवन के अन्तिम अध्याय मे भी मेरा वही एक संघर्ष अव्याहत रहा। वह संघर्ष है अन्याय के साथ, अशुभ शक्ति के साथ। आश्चर्य की बात तो यह है कि वह अन्याय मेरी प्रकृति मे ही निहित है, वह अशुभ शक्ति मेरे प्रतिदिन के आचार और आचरण मे ही छिपी हुई है। मेरे भीतर की वही अलस प्रकृति केवल समझौता करने को कहती है, वह केवल संघर्ष को अनदेखा कर आगे बढने को कहती है, वह केवल सबसे ताल-मेल बिठाकर चलने को कहती है। वह बहुत गोपन है, बहुत गहरे वास करती है, इसलिए वह मेरी पहुँच के परे रहकर मेरे 'मैं' के विरुद्ध शत्रुता का आचरण करती है। इसी से मेरा संघर्ष इतना तीव्र और कष्ट-दायक है। शत्रु यदि बाहर का होता तो उससे या तो समझौता कर लेता या फिर उसका सामना करता। लेकिन अपने 'मैं' से लडना क्या इतना सहज है ?

तब उस भले आदमी के निर्देशानुसार एक दिन वाइस-चांसलर श्यामाप्रसाद मुखोपाध्याय के पास गया। संसार में नाना कारणों से जो लोग सुविख्यात एवं उच्चपदस्थ हैं, साधारणतया मैं उन्हें अनदेखा कर चलता हूँ। स्वगोत्रीय साधारण लोगों के साथ मैं अधिक सहज एवं स्वच्छ रहता हूँ। राहगीर मुझे अधिक आकृष्ट करते है। उनके सुख-दुःख एवं आनन्द-विषाद में मैं अपने 'स्व' को पाता हूँ और आत्मीयता का अनुभव करता हूँ किन्तु उस दिन वह आवेदन-पत्र लेकर जाने में मुझे आपत्ति थी।

किसी विख्यात व्यक्ति के बैठकखाने मे वही मेरा पहला एवं अन्तिम जाना था। किन्तु वहाँ की स्थिति देखकर मैं दंग रह गया। सुना, प्रायः सवेरे से ही वहाँ कुछ लोगों की उपस्थिति प्रत्येक दिन का एक नियम-सा है। उन्हे क्या काम रहता है ? उत्तर मिला, उनका काम है श्यामाप्रसाद को प्रातः प्रणाम निवेदित करना। वे कैसे है, यही विनीत प्रश्न उनसे करना। एक निर्दिष्ट समय पर श्यामाप्रसाद तीन मजिले से दो मंजिले के बैठकखाने मे उतरेगे और उसी समय उन्हे प्रातः प्रणाम निवेदित करने के लिए लगभग पचास व्यक्ति नीद टूटते ही वहाँ उसी सीढी के सामने जाकर खडे-खडे प्रात-कालीन दाँत माँजने का पवित्र कार्य समाप्त करेगे। उससे एक पंथ दो काज होगा।

फिर भी बात मेरी समझ में नहीं आयी।

मैंने पूछा, "ये लोग कौन है ? इनका उद्देश्य क्या है ?"

उत्तर मिला, "ये प्रवेशिका परीक्षा की कापी जाँचते है—पेपर एक्जामिनर है।"

"मैट्रिक की कापी देखते है तो यहाँ क्यों आये है ? हेड एक्जामिनर के घर पर जा सकते है।'

"वहाँ तो जाते ही हैं, साथ ही साथ यहाँ प्रतिदिन एक बार श्यामाप्रसाद बाबू को

* यदि कोई आदमी निश्चय के साथ प्रारम्भ करेगा तो उसका अन्त संशय में होगा। लेकिन यदि वह संशय के साथ प्रारम्भ करके सन्तुष्ट होता है तो उसका अन्त निश्चयता में होगा।

चेहरा दिखा जाते हैं जिससे कि अगले वर्ष परीक्षकों की सूची में उनका नाम काट न दिया जाय। वर्ष में पाँच-छह सौ रुपये की आय क्या साधारण बात है ?"

परीक्षा और परीक्षा के भीतर के व्यापार के सम्बन्ध में यही मेरी पहली जानकारी थी। विश्वविद्यालय की परीक्षा के सम्बन्ध में यह जो मेरी भक्ति समाप्त हुई तो मेरा वह अनुभव परवर्त्ती और भी कितने ही प्रकार के अनुभवों के बीच अन्तर्निहित हो गया। वह सब प्रसंग यहाँ अवान्तर है। तब भी, मेरा काम होने में उस दिन एक सेकेण्ड का समय भी न लगा। सामने जाते ही उन्होंने एक कागज पर हस्ताक्षर कर दिया। उसके बाद मैंने परीक्षा दी और उत्तीर्ण हुआ।

लेकिन परीक्षा देने और पास करने से होगा क्या ? परीक्षकों के स्वरूप को उस दिन जिस दृष्टि से देखा था, इतने दिनों बाद वह दृष्टि और भी तिर्यक् हो गयी। और केवल परीक्षा ही क्यों, विख्यात व्यक्तियों के बैठकखाने का जो रूप उस दिन देखा था, जिस खुशामद एवं जिस निम्नता, हीनता एवं संकीर्णता का प्रत्यक्ष अनुभव मुझे उस दिन प्राप्त हुआ था, उससे लाख गुना अधिक निम्नता, हीनता एवं संकीर्णता आज देश में, समाज में, पृथ्वी पर सर्वत्र परिव्याप्त हो गयी है। आज सारा देश ही श्यामाप्रसाद के बैठक-खाने में रूपान्तरित हो गया है। लेकिन मैं तो उसके सहस्रांश का एकांश भी अपने लेखन में प्रकट नहीं कर सका हूँ। शिक्षक-समाज के प्रति मेरी जो श्रद्धा है उसे मैंने परवर्ती काल में अपनी अनेक रचनाओं में प्रकट करने की चेष्टा की है। उसकी चरम अभिव्यक्ति मेरे 'राजा-बदल' उपन्यास के पन्नों में हुई है। यह सब कुछ उन शिक्षकों के कारण सम्भव हो सका है जिन्होंने चाहा था कि मैं इस नीचता, हीनता और संकीर्णता से ऊपर उठ कर सम्पूर्ण मानव बन सकूँ। उनमें से एक व्यक्ति थे हमारे स्कूल के देवेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय, जो मेरी कविता की कापी लेकर दूसरे-दूसरे क्लासों में उसे पढ़ कर सुनाते थे। एक और थे मेरे बाल्यकाल के गृहशिक्षक कालिपद चक्रवर्ती—जिन्होंने मेरी कविता पढ़ कर निरुत्साहित करने की जगह अपने पैसों से 'गीताञ्जलि' की एक प्रति खरीद कर मुझे उपहार स्वरूप दी थी। उस समय मेरी आयु मात्र बारह या तेरह वर्ष रही होगी। एक और शिक्षक थे आशुतोष कालेज के अमलकुमार राय चौधुरी। वे सोचते थे कि मुझे उत्साहित किया जाय तो भविष्य में मैं एक अच्छा लेखक हो सकूँगा। और एक थे विद्यासागर कालेज के बंगला के अध्यापक पूर्णचन्द्र विश्वास। अपने चित्त की उदारता प्रदान कर उन्होंने प्रथम दिन ही मुझे अपना बना लिया था, इस बात को मैं भूल जाऊँ, यह सम्भव नहीं है। एक और व्यक्ति के बारे में मैं अपने एक निबन्ध में पहले ही लिख चुका हूँ—वे थे हमारे स्कूल के हेडमास्टर श्रीयुत सुरेशचन्द्र चक्रवर्ती। उस अल्पावस्था में मेरे चारों ओर फैले निष्ठुर और विरूप जगत् में ये ही मेरी एकमात्र स्नेह-च्छाया थे। इसमें से एक को छोड़ कर शेष सब का देहान्त हो चुका है। और जो अब भी जीवित और कर्मठ हैं वे संप्रति विद्यासागर कालेज के अंग्रेजी साहित्य के विभागाध्यक्ष श्रीयुत क्षेत्रगोपाल चट्टोपाध्याय हैं।

और सबके अन्त में जिनका नाम श्रद्धा के साथ स्मरण कर रहा हूँ वे हैं इन्दिरादेवी

चौधरानी, विश्वभारती विश्व विद्यालय की भूतपूर्व उपाचार्य एवं स्वर्गीय प्रमथ चौधुरी की पत्नी। लेकिन अभी उनकी बात यही छोड़ता हूँ। आगे चलकर यथासमय उनके बारे मे न कहूँगा तो सच्चाई को झुठलाना होगा। इसलिए उनके बारे मे मुझे यथास्थान कहना ही होगा।

एम० ए० पास करने के बाद मैंने सोचा, अब मुक्ति मिल गयी—परीक्षा पास करने की दुश्चिन्ता से मुक्ति, नियमित रूप से क्लास मे उपस्थित होने से मुक्ति। विश्वविद्यालय की अन्तिम परीक्षा के बाद जो चिन्ता साधारणतः समस्त छात्रो को दुर्वह प्रतीत होती है वह है अर्थोपार्जन की दुश्चिन्ता। वह दुश्चिन्ता मेरी उस आयु मे भी नही थी। लेकिन मुझे आत्माभिव्यक्ति की दुश्चिन्ता थी। परमार्थ-लाभ की दुश्चिन्ता थी। लेखको के जीवन में समस्त बाधाओं को दूर कर आत्माभिव्यक्ति अथवा परमार्थ-लाभ की समस्या सबसे भयावह होती है। वह चिन्ता अर्थोपार्जन की चिन्ता से भी दुर्वह होती है। तब उनकी जीवन-यात्रा दुर्वह होती है, और उनका अस्तित्व असह्य हो जाता है। अस्तित्व की यही असहनीयता मुझे समस्त रात-दिन चारों ओर चक्कर लगाने को मजबूर करती रहती थी। चक्कर काटने की मजबूरी के कारण कभी मैं तेरह नंबर कॉर्नवालिस स्ट्रीट जाता था, कभी अक्रूरदत्त लेन के स्टूडियो मे और कभी किसी पुस्तक को लेकर उसमे डूब जाता था, वह भी एक प्रकार का चक्कर ही था। डिकेन्स की 'ए टेल आफ टू सिटीज' एक इस प्रकार की पुस्तक है जिसे पढने से शताब्दी के विस्तृत मैदान मे चक्कर लगाया जा सकता है। एक सहपाठी बन्धु से उस पुस्तक को ले आया और फिर उसे वापस नही किया। स्मरण है कि उस पुस्तक को मैंने सात बार पढा, उसके बाद भी विच्छिन्न रूप में उसे कितनी बार पढा होगा, उसकी कोई गिनती नही। पढते-पढते मैंने सोचा है, फ्रांसीस क्रांति पर यदि एक व्यक्ति उपन्यास लिख सकता है तो हमारे देश के अठारहवी शताब्दी के पलासी युद्ध पर उपन्यास क्यो नही लिखा जा सकता? कार्लाइल जैसे डिकेन्स के लिए फ्रासीसी क्रान्ति के बारे में पहले ही पुस्तक लिख चुका था, प्लासी के युद्ध के बारे में क्या वैसी पुस्तक है? और होने पर भी मिलेगी कहाँ? कौन मुझे इसका पता बतायेगा? विद्यासागर कालेज से लौटने के मार्ग में फुटपाथ की पुरानी पुस्तकों की दुकानों में घुम-घूम कर प्लासी से सम्बन्धित पुस्तक खोजता हूँ। सारी पुस्तकें गर्द से भरी और दीमक से कटी हैं। अपनी आवश्यकता के अतिरिक्त भी कुछ पुस्तकें मिल जाती हैं—कालीप्रसन्न वन्द्योपाध्याय 'बंगाल का इतिहास' (नवाबों का शासन-काल), 'सहज हकीमी चिकित्सा', 'जमींदारी दर्पण', 'रोचक पहेलियाँ', 'पत्र-लेखन-प्रणाली', 'उर्दू-बंगला शब्दकोश', 'कलकत्ते की कहानी' (प्रमथनाथ मल्लिक), 'कलकत्ते की राहगीरी', और भी कितने ही प्रकार की पुस्तकें। युद्ध के पहले इन सब पुस्तकों की कोई विशेष माँग न थी। पाँच रुपये की पुस्तक चार आने मे मिल जाती थी। यदुनाथ सरकार की 'हिस्ट्री आफ बंगाल' का जुगाड़ करने के लिए पुरानी पुस्तको का व्यापार करनेवाले युसूफ से कहा था, किन्तु वह उक्त पुस्तक दे नही सका। युसूफ पुरानी पुस्तकों के व्यापार में दुर्लभ पुस्तकें भी सुलभ कराने में समर्थ था। उसने मुझे कितनी दुष्प्राप्य पुस्तकें दी थीं,

उसकी कोई सीमा नही। लेकिन उसकी भी क्षमता की एक सीमा थी। बाद में अवश्य उक्त पुस्तक मैंने नेशनल लायब्रेरी से प्राप्त कर ली थी।

एक एपिक उपन्यास लिखने के लिए कितने और क्या-क्या उपकरणों की आवश्यकता पड़ती है और क्यों पड़ती है, यहाँ एक छोटी कहानी के माध्यम से समझाने की चेष्टा करूँगा। कहानी मोपासा के जीवन की है। यह कहानी मेरे लेखकीय जीवन में बहुत काम आई है।

तत्कालीन फ्रांस के विख्यात उपन्यासकार 'मादाम बोवरी' के रचयिता फ्लावेयर मोपासां की माँ के विशेष मित्र थे। पुत्र माँ से बहुत तकरीर करता था कि वह लेखक होगा। उस समय मोपासा कोई नौकरी कर रहा था परन्तु वह साधारण नौकरी थी। उससे पेट भरने पर भी उसका मन नहीं भरता था।

बहुत दबाव पड़ने के बाद माँ पुत्र को फ्लावेयर के पास ले गयी और कहा, "मेरे लड़के को लेखक बनने का शौक है। आप इसे लिखना सीखने की कुछ शिक्षा दें।"

फ्लावेयर ने निवेदन सुना। मोपासा को देखकर कहा, "ठीक है, तुम और किसी दिन समय निकाल कर मेरे पास आओ। मैं तुम्हे कहानी लिखना सिखा दूँगा।"

कुछ दिनों बाद मोपासा फ्लावेयर के कथनानुसार उसके घर गया। फ्लावेयर उसे पहचान नही सका। माँ का परिचय देने पर उसे सारी बातें याद आ गयी। उस समय अधिक बातें करने का उसके पास समय नही था। सामने की मेज पर से एक पुस्तक उठा कर कहा, "इसे ले जाकर घर पर पढो। इसे अच्छी तरह पढ कर कंठस्थ करने पर तुम अच्छी कहानी लिखना सीख जाओगे।"

मोपासा ने बेझिझक पुस्तक ले ली और घर चला आया। दो-तीन महीने बाद फ्लावेयर एक दिन अपने घर मे बैठा था कि तभी एक अनजान युवक आकर उपस्थित हुआ।

फ्लावेयर उसे पहचान नही सका। पूछा, "तुम कौन हो? क्या चाहते हो?"

मोपासा ने कहा, "मेरा नाम मोपासा है। एक दिन मैं अपनी माँ के साथ आपके पास आया था। आपने मुझे यह पुस्तक देकर कहा था कि इसे कंठस्थ करने पर मैं अच्छी कहानी लिखना सीख जाऊँगा।"

"देखूँ, कौन-सी पुस्तक दी थी?"

यह कहकर उसने हाथ बढ़ाकर पुस्तक ले ली और देखा कि वह तो शब्दकोश था। यह सोचकर कि किसी प्रकार इस लड़के को शीघ्र बिदा कर देना है, किसी बहाने इस युवक के अनुरोध का पालन किया था। युवक की ओर देखते हुए उसने पूछा, "तुमने इस पुस्तक को कंठस्थ कर लिया है?"

मोपासा ने कहा, "हाँ। आपने कहा था न इसे कंठस्थ कर लेने से मैं अच्छी कहानी लिख सकूँगा।"

उसकी बात सुनकर फ्लावेयर दंग रह गया। बोला, "तुम यहाँ बैठो।"

मोपासा बैठ गया। फ्लावेयर ने खिड़की के बाहर दूर एक वस्तु की ओर इशारा कर

मोपासा से पूछा, "बताओ तो, वह क्या है ?" (बोलो तो वहाँ क्या देख रहे हो ?)

मोपासा ने फ्लावेयर द्वारा निर्देशित स्थान को देख कर कहा, "वह एक पाइन का वृक्ष है।"

फ्लावेयर ने कहा, "नही, तुम ठीक-ठीक नहीं बता सके। और एक बार अच्छी तरह से देख कर बताओ।"

मोपासा ने कहा, 'किन्तु मैं तो स्पष्ट देख रहा हूँ कि वह पाइन का वृक्ष है।"

फ्लावेयर ने कहा, "नही, वह केवल पाइन का वृक्ष नही है। उसके पीछे एक अटारी है। उसकी खुली खिडकी से घर के भीतर का आदमी दीख रहा है। अटारी के पीछे आकाश है, आकाश मे सफेद बादल का एक टुकडा, बादल के ऊपर एक चील उड़ रही है। इन सबको मिला कर ही वह पाइन का वृक्ष है। उन चीजो को छोड़ पाइन के वृक्ष का कोई अलग अस्तित्व नही है। वह वृक्ष तो उन सब वस्तुओं का एक अविभाज्य अंग है।

मोपासा की कहानी लिखने की शिक्षा के पीछे इसी घटना का हाथ है। 'मासिक वसुमति' के सहसम्पादक सरोजनाथ घोष महाशय ने आज से पचास वर्ष पूर्व मुझे पहले यह कहानी सुनायी थी। सच है या झूठ मैं नही जानता। हो सकता है यह किंवदन्ती हो, साहित्य के परिप्रेक्ष्य मे यह असत्य नही है। संगीत के परिप्रेक्ष्य में भी यह असत्य नही है। यह बहुत कुछ रवीन्द्र संगीत गायक हरिपद चट्टोपाध्याय के आर्गन-वादन जैसा है। जब वे अपने दोनों हाथों की दसों अंगुलियों से आर्गेन बजाते थे, उनकी उंगलियाँ कभी भी ऊंचाई पर नही पहुँचती थी, सदा रीडो का स्पर्श करती जाती थी। जब वह 'सा' का परदा दबाते उस समय और-और उंगलियाँ ऊपर-नीचे के गाधार और साथ-साथ पंचम की स्पर्श किये रहती थी। क्योंकि वे भी उस 'सा' का अविभाज्य अंग हैं। सिराजुद्दौला की कल्पना करते ही अलीवर्दी खाँ, मरियम बेगम, चेहल-सुतून, क्लाइव, मीरजाफर सब याद आ जाते हैं। कत्था, चूना, सुपारी को छोड कर क्या पान का कोई अस्तित्व है ? यह बहुत कुछ वैसा ही है जैसे गुलाब के साथ कॉंटा, प्रतिमा के साथ उसके पीछे की ओर अंकित पट। उपन्यास की कहानी को सत्य बनाने के लिए उसे एक पार्श्वभूमि का पट चाहिए—उसके आसपास का उपकरण। 'पत्र-लेखन-प्रणाली', 'कलकत्ते की राहगीरी', 'जमीदारी दर्पण', 'दिलचस्प पहेलियाँ', 'सहज हकीमी चिकित्सा' इत्यादि पुस्तकें उसी प्रकार मेरे उपन्यास के अविभाज्य अगविशेष हैं। इसीलिए उन दिनों मैं वे सब उपकरण एकत्र कर घर मे गन्दे कूडे-कचरे का ढेर लगाता था और अवसर मिलते ही भागा-भागा अक्रूर दत्त लेन के स्टूडियो मे पहुच जाता। किसी-किसी दिन ऐसा होता कि सायंकाल पन्ना घोष को साथ ले कर बालीगंज लेक चला जाता। उन दिनों लेक में इतनी भीड़ नही होती थी। अनुपम सबको भाँग की बरफी खिला देता। और उसके बाद पन्ना घोष की बाँसुरी आरम्भ हो जाती। पन्ना घोष का बासुरीवादन जिसने नही सुना है वह यह नही जानता कि स्वर का जादू किसे कहते हैं। यह स्वर मनुष्य को किस सीमा तक अभिभूत कर सकता है, पन्ना घोष ही

इसका प्रमाण था। सायंकाल से उसकी बाँसुरी सुनते-सुनते कब रात के दस-बारह बज जाते, इस बात का हमें स्मरण ही नही रहता। घर लौटने मे यथारीति वही आधी रात हो जाती। उस समय लगता कि जीवन इसी तरह बीत जायेगा। साथ ही यह भी लगता कि साहित्य से ही मैं जीविका उपार्जन कर लूंगा। डाक्टरों की जिस प्रकार डाक्टरी ही जीविका है और जिस प्रकार इंजीनियरो की इंजीनियरिंग विद्या ही जीविका है उसी प्रकार लेखको के लिए रचना ही उनकी उचित जीविका है। उसे जीविका के लिए क्यो किसी अन्य प्रतिष्ठान मे दासता करनी होगी ?

नही, मैं जिससे डर रहा था, एक दिन वही हुआ। एक दिन नियमानुसार मैं प्रात कालीन अड्डेबाजी के बाद दोपहर मे डेढ बजे घर लौट रहा था तो देखा पिता जी आकुलता से मेरी प्रतीक्षा कर रहे है। क्या बात है ? तो ज्ञात हुआ कि वे मुझे साथ ले कर उसी दिन अपने कार्यालय जाएंगे। वहाँ मुझे नौकरी मिल जायेगी। भोजन बाद में होगा और एक दिन न खाने से कोई बडी क्षति नही होगी। बाद में तुम जीवन भर खाते ही तो रहोगे। प्रत्येक मास की पहली तारीख को तुम्हारे हाथ में वेतन मिल जाने के कर्तव्य का मैं पालन कर रहा हूं। उसके बाद जैसा तुम्हारा भाग्य। भाग्य अच्छा होगा तो तुम एक बार यदि इस प्रतिष्ठान के शीर्षस्थान पर नही तो कम से कम कन्धे तक पहुँच ही जाओगे। इसके बाद यदि तुम मन लगा कर काम करोगे और अपने ऊपर वाले अधिकारियो को प्रसन्न रख सकोगे तो फिर कहना ही क्या। फिर तुम आलमगीर बादशाह का मुकाबला कर सकते हो। तुम जिस दिन नौकरी से अवकाश ग्रहण करोगे उस दिन से जीवन के शेष समय तक कार्यालय तुम्हारी पेंशन का पक्का प्रबन्ध कर देगा। उस समय जितनी अड्डेबाजी करनी हो करना, मन भर के अड्डेबाजी करना। और साहित्य ? दिन-भर नौकरी करने के बाद क्या साहित्यिक कार्य नही किया जा सकता ? मैं क्या तुम्हें साहित्यिक कार्य करने से रोक रहा हूं ? आफिस तो दस बजे से पाँच बजे तक रहेगा। पाँच बजे बाद बाहर अड्डबाजी न करके घर लौट कर साहित्यिक कार्य करो। बंकिम चाटुर्ज्या, शरत् चाटुर्ज्या तो यही किया करते थे।

वास्तव में पिता जी बाहर-बाहर मुझे निरुत्साहित तो अवश्य करते थे परन्तु अन्तर्मन से वे भी एक कलाकार थे। पिता जी गायक थे। शौकिया थियेटरों मे अभिनय करने का उन्हें नशा था। विशेष कर जिन भूमिकाओं में गीत गाना पडता था, वही सब भूमिकाएँ उन्हे दी जाती थी। जीवन के अन्तिम काल में जब घर पर अकेले रहते थे, मैंने उन्हें गीत गाते देखा है। किन्तु संसार से समझौता करने के कारण वह कुछ भी नही कर सके। गृहस्थी के जुए को ढोते-ढोते ही वे समाप्त हो गये थे। वे जानते थे कि जिस युवक को एक बार गायकी या साहित्य का नशा घर दबाता है, उसका भविष्य अन्धकारमय हो जाता है। कही मेरा भी भविष्य उसी प्रकार अन्धकारमय न हो जाय, यही सोच कर उन्होंने मुझे नौकरी मे लगा कर निश्चिन्त होना चाहा था।

वह गाड़ी जब कार्यालय के सामने आ कर रुकी तब उसके सामने की फुलवारी और भवन की स्थापत्यकला को देख कर मैं मुग्ध हो गया। जो बाहर से इतनी सुन्दर हैं, न

जाने उसके भीतर कितनी सुन्दरता होगी।

पितृदेव उस समय भी मेरे कानों में कह रहे थे, "नौकरी मिलनी ही कठिन है। वह मैंने तुम्हारे लिए ठीक कर दी। अब यह नौकरी रखना या छोड़ना तुम्हारे हाथ में है। छोड़ने में एक मिनट भी न लगेगा। मिलना ही कठिन है। यदि छोड़ने की इच्छा हो तो छोड़ देना।"

मेरी इस चिट्ठी के पाठकों में यदि कोई ऐसा व्यक्ति है जिसने अपने जीवन के सबसे उज्ज्वल और सबसे श्रेष्ठ वर्षों को बन्दी-निवास की चहार-दीवारी के भीतर बिताया है, लगातार वर्षों तक प्रकाश और वायुविहीन कमरे में शृंखलाबद्ध अवस्था में जीवन जिया है तो वही मेरी उस नौकरी के दिनों की दुर्दशाग्रस्त अवस्था को समझ सकेगा। मेरी लेखनी के पास ऐसी भाषा नहीं है जो उसका विशद वर्णन करे। जिन्होंने चार्ल्स लैम्ब का Super-annuated Man (सेवा-निवृत्त आदमी) शीर्षक निबन्ध पढ़ा होगा, केवल वे ही मेरी तत्कालीन अवस्था को हृदयंगम कर सकते हैं। उसी शब्दों में सुनिये—

I had perpetually a dread of some crisis, to which I should be found unequal. Besides my daylight servitude, I served over again all night in my sleep, and would awake with terrors of imaginary false entries, errors in my accounts, and the like. I was fifty years of age and no prospect of emancipation persented itself. I had grown to my desk as it were, and the wood had entered into my soul.*

तब हाँ, लैम्ब और मुझमें एक बड़ा अन्तर था। अन्तर यही था कि नौकरी में मुझे कभी अधिक दिनों तक एक घर की चहारदीवारी में आबद्ध नहीं रहना पड़ा। स्मरण होता है कि नौकरी के जीवन में मुझे सात-आठ बार विभिन्न प्रदेशों, विभिन्न परिवेशों एवं विभिन्न कार्यालयों में स्थानान्तरित होना पड़ा है। कभी उड़ीसा, कभी बिहार, कभी मध्यप्रदेश और कभी कलकत्ते में मेरा स्थानान्तरण हुआ है। वर्ष के तीन-चार महीनों में, सत्ताईस दिन ट्रेन में ही बिताए हैं। नौकरी करते-करते मुझे लगा है कि हमारी इस यथार्थ धरती की तरह प्रत्येक मनुष्य के मन के अन्तर में एक और इच्छा धरती की भी है। उस इच्छा की धरती में भी ऋतु-परिवर्तन होता है, सूर्योदय और सूर्यास्त होता है। वहाँ भी प्राकृतिक प्रकोप होता है, प्रत्याशा का प्रकाश और हताशा की अमावस्या रहती है। इच्छा की वह धरती किसी के लिए विशाल आकार और किसी के लिए लघु आकार धारण करती है। किसी-किसी के जीवन में उस इच्छा की धरती

* मैं निरन्तर किसी संकट की आशंका से सन्त्रस्त था जिसका निवारण मैं नहीं कर सकता था। दिन की दासता के अलावा मैं रात-भर नींद में काम करता रहता था और मेरी नींद काल्पनिक भय से इसलिए टूट जाती कि मुझे लगता, खाते की प्रविष्टियों में कहीं कोई गड़बड़ी रह गयी है मेरी उम्र पचास साल थी और मुझे मुक्ति का कोई मार्ग दिखायी नहीं पड़ता था। मैं मेज बन गया था और उसकी काष्ठशीलता मेरी आत्मा में प्रवेश कर गयी थी।

के साथ उसकी यथार्थ धरती का संघर्ष भी छिड़ जाता हैं। अधिकतर आदमी उस संघर्ष में यथार्थ धरती से समझौता कर लेते हैं और समझौता करके इच्छा की धरती को तिलाञ्जलि देकर सघर्ष मे मुक्ति पाने की चेष्टा करते है। अन्य अनेक शान्तशिष्ट भद्र मनुष्यो की भाँति वे भी उस तथाकथित शान्ति को ही परमार्थ मान कर और दूध की साध छाछ से पूरी कर लेते हैं। लेकिन संसार में ऐसे लोग भी जन्म लेते हैं जो हजारो अभाव में भी दूध ही पीना चाहेंगे, दूध के अभाव में छाछ को कभी भी भ्रम से दूध नहीं समझेंगे। संसार में ऐसे ही लोग स्वतन्त्र होते हैं और ऐसे ही लोग विद्रोही होते हैं। अत देखने में आता है कि कोई तव सन्यास ग्रहण कर परित्राण-लाभ करता है और कोई किसी महान् उद्देश्य के तकाजे से आत्म-विसर्जन कर मुक्ति पाता हैं।

कैसे क्या घटित हो गया, उसका मुझे उस समय स्मरण ही न रहा। लेखन के जगत से मैं एक दिन कलकत्ता छोड कर बहुत दूर प्रवास में चला गया। कर्म से कर्मान्तर में भेज कर मेरा भाग्यदेवता सम्भवत मेरे मन की परीक्षा लेने लगा। मनुष्य का कर्म एक ओर जहाँ उसका बन्धन है उसी प्रकार उसकी मुक्ति भी है। कर्म तभी बन्धन होता है जब वह प्रयोजन द्वारा शासित होता है। प्रयोजन के तकाजे से मनुष्य जो कर्म करता है वह कर्म ही उसकी शृंखला है। किन्तु प्रेम की प्रेरणा से हम जो कार्य करते है उसी को मुक्ति कहा जाता है। मेरा दुर्भाग्य था कि उस दिन प्रेम नहीं, प्रयोजन-साधन ही मेरे जीवन में अपरिहार्य हो उठा था। काम करते समय मुझे रुलाई आती थी। सोचता था, तो क्या दासता की वृत्ति के लिए ही एक दिन मैंने इस धरती पर जन्म-ग्रहण किया था ?

यह मनुष्य का मन भी कितनी अद्भुत वस्तु है। यह अब भी मुझे याद आता है। हमारी इस धरती की तरह मनुष्य का मन भी सम्भवतः सब कुछ सहने वाला होता है। आश्चर्य है। उसमें प्रत्येक मास की पहली तारीख को हाथ फैला कर वेतन लेने में मुझे कुण्ठा नहीं होती थी। धीरे-धीरे मेरा मन जैसे जड़ होने लगा। आरम्भ में मुझे लज्जा और अपमान का बोध होता था। नौकरी मिलने पर अन्य सबको आनन्दित होते देखा है परन्तु मेरी स्थिति ठीक इसके विपरीत थी। बचपन से ही कार्यालय में आने जाने वालों को देख कर ही मैं पहचान लेता था। मैं अपने घर के सामने से होकर प्रात नौ बजे उन लोगों को कर्म-स्थल की ओर जाते हुए देखता था। जाने के समय उनकी पोशाक, उनके चलने की भंगिमा, उनका पान खाना तथा उनकी व्यस्तता का भाव मुझे कंठस्थ हो गया था। साढ़े-पाँच बजे के बाद से थका-माँदा शरीर लिये, पसीने से तर-बतर उनके लौटने का दृश्य देखने के लिए मैं खिड़की में खड़ा हो जाता था। वे लोग मेरे घर के पीछे एक मेस में रहते थे और हमारे घर के सामने की गली से होकर अपने कर्मस्थल बंगाल गवर्नमेंट प्रेस की ओर जाते थे। उन्हें देखते-देखते मेरा मन उदास हो जाता। सोचता मुझे कभी भी उनके दल में नाम न लिखाना पड़े। लेकिन अन्ततः वही हुआ। अन्त में उन्ही के दल में तो मैंने नाम लिखवाया।

किन्तु कुछ महीने तक काम करने के बाद ही पृथ्वी पर द्वितीय महाविश्वयुद्ध छिड़

गया और साथ ही साथ मेरा स्थानान्तरण बिहार मे हो गया, जिससे मैंने परित्राण पाया। अब कुछ ही महीनों मे मेरी आशातीत पदोन्नति हो गयी। जो एक दिन मेरी घृणा की वस्तु थी, धीरे-धीरे मैं उसी का आदमी हो गया। पैसा ऐसी ही वस्तु है। मैं जानता था नौकरी की अवधि मे यदि उसमे पदोन्नति होती है तो वह मेरे लेखकीय जीवन की मृत्युसूचक होगी। युद्ध की गति जितनी तीव्र होती गई, धीरे-धीरे मेरी उतनी ही पदोन्नति होने लगी। मेरे जिस 'मैं' ने साहित्य को ही एकमात्र आधार बना कर जीवन जीने का संकल्प किया था, मेरा वही 'मैं' नियमित रूप से कर्मस्थल मे उपस्थित होने लगा एवं एक-एक कर चार परीक्षाओं मे उत्तीर्ण हो और ऊंचे पद पर अधिकार जमाने लगा। यह भी भाग्यविधाता का एक परिहास ही कहा जायेगा। मैं जितना ही बन्धन काटना चाहता हूँ, वह बन्धन उतना ही नागपाश की तरह और भी कस कर मुझे बाँधता है। मेरी साँस बन्द होने की स्थिति आ गयी। लेकिन जीविका। जो मैं एक दिन अक्रूरदत्त लेन के स्टूडियो मे भविष्य की चिन्ता से रहित होकर दिन व्यतीत करता था, जो मैं एक दिन बंगाल के श्रेष्ठ मासिक पत्र-पत्रिकाओं में नियमित रूप से कहानी लिखता था, वही मैं एक दिन कर्मस्थल के वन्दीनिवास मे कुछ रजत-मुद्राओं के विनिमय में किराये पर खटने लगा—इस बात का स्मरण आते ही अपने ऊपर घृणा से ग्लानि होने लगती थी।

एक दिन एक घटना घटित हुई। कर्मस्थल में जो मेरे सबसे बड़े अधिकारी थे वे काम करते-करते विरक्त होकर बोल उठे, "रास्ते मे भीख माँगता तो भी इससे अधिक सुखी होता विमल बाबू। यह घृणित नौकरी अब अच्छी नही लगती।"

हो सकता है, यह उनका क्षणिक वैराग्य रहा हो। हो सकता है यह उनके विशुद्ध मानसिक अभिमान की सामयिक स्पष्टोक्ति के अतिरिक्त और कुछ न हो। लेकिन उन शब्दों ने कुछ क्षणों के लिए मुझे विमूढ बना दिया। सबसे शीर्षस्थान पर पहुँचने के बाद भी यदि उनमें इस तरह का वैराग्य है तो मेरी क्या दशा होगी? यदि मैं कभी उनके पद पर पहुँच जाऊंगा तो क्या मेरी भी यही दशा होगी? फिर मैं यह दासता क्यो कर रहा हूँ? तब क्या नौकरी के क्षेत्र मे ऊंची-नीची मे कोई अन्तर नहीं है? आज्ञा पालन करने की यातना की क्षतिपूर्ति क्या रजत मुद्रा से नही होती है? वेतन और पद, जो भी हो, लेकिन दासता क्या दासता ही हैं? क्या उसकी दूसरी व्यवस्था नही है? दासता के स्टीमरोलर के दबाव से क्या वेतन, मर्यादा, मनुष्यता, पद सब कुछ चूर-चूर हो कर एकाकार हो जाते हैं?

इसके बाद एक और घटना घटित हुई।

नौकरी के काम से खड़गपुर से ट्रेन द्वारा चक्रधरपुर आ रहा था। डब्बे में मैं अकेला ही था। घाटशिला मैं जैसे ही ट्रेन रुकी एक सज्जन मेरे डब्बे में आये। उनका पहरावा था कमीज और पैण्ट। हाथ मे स्टेथीस्कोप था। समझ गया कि ये सज्जन डाक्टर हैं। वे आगे बढ कर मुझसे बातचीत करने लगे। घर कहाँ है, नाम क्या है—इसी प्रकार के प्रश्नोत्तरो का आदान-प्रदान हुआ। उन्होंने बताया कि वे घाटशिला में

डाक्टरी की प्रेक्टिस करते हैं। एक आवश्यक बुलाहट पर गिडनी जा रहे हैं। वहाँ उनका एक रोगी है।

मैंने उनके प्रश्न करने पर जब अपना नाम बताया तो उन्होंने कहा कि उनका नाम नुटबिहारी वन्द्योपाध्याय है।

उसके बाद अपने आप कहा, "अपने बड़े भाई का नाम बताने पर सम्भव है आप उन्हे पहचान ले। वे एक लेखक है।"

लेखक ? मैं चौंक पड़ा। "नाम क्या है बताइए तो ?"

"विभूतिभूषण वन्द्योपाध्याय।"

मुझे ऐसा लगा जैसे मेरी आँखो के सामने कोई भूत अथवा मानो मेरी प्रेतात्मा ही मेरे सामने खड़ी हो कर मुझ पर व्यंग्य कर रही है। उस आयु में ही मैं विभूतिभूषण वन्द्यापाध्याय को अच्छी तरह पहचानता था। एक बार हम साथ-साथ एक ही ट्रेन के एक ही डब्बे मे स्वर्गीय शरतचन्द्र की स्मृति-सभा में देवानन्दपुर गये थे। उनकी रचना तो मीठी थी ही किन्तु वे अपनी रचना से भी अधिक मीठे थे, और यह मैं जानता था। किन्तु कथ्य यहाँ नही है। कथ्य तो यह है कि उनके भाई के सम्बन्ध में सुनते मेरे मन के भीतर अशान्ति की जो बारूद छिपी थी, वह हठात् जल उठी और उन नुटबिहारी वन्द्योपाध्याय ने स्वयं उसमे आग लगाई। मेरी सम्पूर्ण सत्ता उस आग की लपटो में जलने लगी। मेरी आँखो के सामने मेरे 'मैं' का जैसे शव-दाह होने लगा।

जहाँ तक स्मरण आता है, वह १९४१ ई० का शेषांश था। उस समय युद्ध के दमामे की आवाज से संसार-भर के लोगो के कानों में कुछ सुनाई नही पड़ता था। उन दिनो चक्रधरपुर में एंग्लो इंडियनों का एकछत्र राज्य था। उस समय ब्रिटिश गवर्नमेंट के प्रताप का बोलबाला था। अंग्रेजो का जितना तेज था, एंग्लो इंडियनों का उससे सौ गुना अधिक था। उनके साथ हम काम करते थे। उनका मनोभाव ऐसा था जैसे वे हमारे शासको के वर्ग के है और हम उनके भृत्य हैं—हम चाहे जिस पद पर क्यो न हो और चाहे जितना वेतन क्यो न पाते हों, वे सभी भारतीयों पर कड़ी निगाह रखते थे। छिप-छिप कर पता लगाते थे कि हम हिटलर की, जर्मनी के रेडियो की खबर सुनते है या नही और सुभाषचन्द्र बोस का भाषण सुनते हैं कि नही।

एक तो ऐसा वातावरण, उस पर अपनी दासता की लज्जा और उस पर मेरा अतीत। सबसे बढ कर आघात मुझे उस समय लगा जब चलती रेलगाड़ी के डब्बे में विभूतिभूषण के भाई नुटबिहारी वन्द्योपाध्याय से भेंट हुई। उन्होंने जैसे तीव्र स्वर मे मेरी भर्त्सना की—छि: छि, तू साहित्यिक होकर दासता कर रहा है ?

मध्यवित्त बंगाली परिवार के युवको के लिए अन्न ही प्राण है, यह सत्य तो इतिहास-विदित है। बंकिमचन्द्र की तो दूर की बात है, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने भी तो कुछ दिनो तक नौकरी की थी और तुम ऐसे कौन से धनकुबेर हो कि नौकरी से तुम्हे इतनी घृणा है। परन्तु उस समय मै सैमुअल बटलर को कहाँ पाता जो मेरी दुःख-गाथा को समझते। उनका देहान्त तो १९०२ मे ही हो गया था। अर्थात् मेरे जन्म से भी कुछ

समय पहले ही। तब फिर क्या करूँ ?

उस समय चारों ओर लड़ाई में लोगों को भर्ती करने की धूम मची हुई थी। और सेना चाहिए और मनुष्य चाहिए। ऐसे मनुष्य चाहिए जो जापानियो के हवाई जहाज के बमों के आघात से मरने को प्रस्तुत हों। जो जापानियों की कमान के गोले के सामने प्राणों का विसर्जन कर सकें। वैसे अनुगत भारतीय जहाँ भी और जितने भी हो, वे आगे आयें।

मैंने और देर नही की। घर आ कर सोचा, दासत्व और नही। जो जीवन दासता के ऊपर न उठ सके, उस जीवन के अस्तित्व का कोई प्रयोजन नही है। उस जीवन का समाधान एकमात्र युद्ध-क्षेत्र मे मृत्यु है, उन दिनो चक्रधरपुर का स्टेशन-मास्टर स्माले था—एंग्लो इंडियन समाज मे विशेष गणमान्य व्यक्ति। मुझसे उसका यथेष्ट परिचय था। तब वह युद्ध का किंग्स कमीशन पाकर और मेजर स्माले होकर आर्मी हेड-क्वार्टर का चार्ज लेकर चला गया था। युद्ध में नये अफसरों को प्रविष्ट करने का भार उस पर था। घर आ कर उसी रात को मैंने एक पत्र लिखा।

इतने दिनो बाद इस कहानी को लिखने के क्रम में सोचता हूँ कि मेरे जीवन मे कितनी ही अलौकिक घटनाएं घट चुकी है। अन्यथा इतने दिनों तक यदि मैं अपने उस कर्मक्षेत्र से जुड़ा रहता तो कितनी निश्चिन्तता के साथ जीवन व्यतीत कर सकता था। मोटी पेंशन पाता। जीवन-भर पूरे भारतवर्ष में बिना पैसों के भ्रमण कर सुख प्राप्त होता। इसके अतिरिक्त विधवा पेंशन की ठोस व्यवस्था रहती। अपने कर्मक्षेत्र मे अपने नाबालिग पुत्र को भी किसी नौकरी मे भर्ती करा कर जीवन के अन्तिम दिनों में यदि सुख-सुविधा न होती तो इस लिखने की यातना से तो निश्चय ही मुक्ति पा जाता। कर्मस्थल मे चार परीक्षाएं दे कर मैंने अपने स्थान को सुदृढ बना लिया था। किन्तु सम्प्रति प्रति दिन एवं प्रतिक्षण जो यह परीक्षा दे रहा हूँ, नौकरी में रहने से इससे तो परित्राण मिल जाता।

लेकिन ऐसा होना नही था। सदैव 'यहाँ नही, यहाँ नही, और कही' की इच्छा मुझे एक प्रान्त से दूसरे- प्रान्त में -खदेडती आयी है और इसी कारण एक दिन मुझे चक्रधर पुर भी छोडना पड़ा। प्रात.काल मैं पत्र डाक मे डालने जा रहा था कि मार्ग में ही सूचना मिली कि मुझे कलकत्ते बुलाया गया है वहां मेरी नितान्त आवश्यकता है। पहले तो विश्वास ही नही हुआ परन्तु अपनी आँखों मे उस पत्र को देखने पर विश्वास करना पड़ा। बोरिया-बिस्तरा बांध कर मैं एक दिन कलकत्ते चला आया। अगस्त १९४१ ई० मे रवीन्द्रनाथ का तिरोधान हुआ था। वह मैं देख नही सका था। केवल इतना देखा कि मेरी अनुपस्थिति मे कलकत्ते की समस्त पृष्ठभूमि आमूल परिवर्तित हो कर एक दूसरा रूप ले चुकी है। कई पुराने बन्धु-बान्धवो से भेंट हुई। कलकत्ते लौटने के बाद काम से मुझे अनेक अंचलों मे जाना पड़ता था। विशेषकर एक प्रेस मे जाना मेरा प्राय दैनन्दिन कार्य था। मार्ग मे एक मित्र से भेंट हुई तो मुझे पहचान कर पूछा, "इतने दिनों तक कहाँ थे ? क्या लिखना-पढना सब बन्द कर दिया ?"

अनेक वर्षों के बाद साहित्य-जगत के एक मित्र से भेंट हुई मानो किसी आत्मीय से मिलन हुआ हो।

मैंने कहा, "साहित्य-रचना अब भी चल रही है ?"

"खूब चल रही है। लड़ाई के आरम्भ में कुछ सुस्त पड़ गया था तो जरूर किन्तु अब वह जोर-शोर से चल रहा है। सभी लिख रहे हैं। केवल आप ही बाहर चले गये थे। अब कलकत्ते लौट आये हैं, अब आप भी लिखिए न।"

मित्र ने पुनः लिखने के लिए उत्साहित किया। पैदल ही एक दिन मैं उसी तरह नबर कॉर्नवालिस स्ट्रीट वाले भवन के सामने पहुँच गया। "मैंने वहाँ के साधारण ब्राह्मसमाज मन्दिर की ओर पलट कर देखा। देखकर अवाक् रह गया। देखा कि मन्दिर की मरम्मत आरम्भ हो गयी है, मिस्त्री खट रहे हैं, चूना हो रहा है, रंग हो रहा है। मानो, सस्कार-मुक्ति का संग्राम अब नये सिरे से प्रारम्भ हुआ हो। देख कर बडा अच्छा लगा। चारों ओर संस्कार मुक्ति का इतना आयोजन चल रहा है और मैं निष्क्रिय हो कर बैठा हूँ। मेरा भी तो इस संग्राम मे भूमिका ग्रहण करने का एक अधिकार है। मैं इस संग्राम मे चाहे सेनापति न बन सकूँ, मन्त्री न बन सकूँ, फिर भी पदातिक की भूमिका तो निभा ही सकता हूँ। अनायास ही घर लौट कर मैं पुनः समस्त पुराने जंजाल के स्तूप में अवगाहन करने लगा। वह बंगाल के पुराने इतिहास से सम्बन्धित, वही पुराना कागज-पत्तर है किन्तु उसमे मेरा मन पूर्ण रूप से नही लग रहा है। कर्मस्थल मेरा समस्त समय और मन सब कुछ अपनी ओर खीच लेता है। आवश्यकता मुझ पर अपना आधिपत्य जमा रही है। प्रेम के लिए उँगली-भर भी स्थान छोड़ने को वह प्रस्तुत नही है। प्रयोजन अपने स्वार्थ से मेरा पीछा कर रहा है। आवश्यकतावश मैं जो कुछ लिखता हूँ, वह आवेदन पत्र के अतिरिक्त और कुछ नही है। उससे उदर-पूर्ति हो जाती है, उससे समाज मे बेकारी के नाम से छुटकारा मिल जाता है। लेकिन जिसके मन की वला बडी है, जिसका मन बुभुक्षु है, जिसका मन बेकार होने से समाज से उपेक्षित है, उस मन को खाने के लिए क्या दूँ ? क्या खिलाने से उस मन का पेट भरे।

इस समय मेरे मन के साथ मेरी देही का विरोध चलने लगा। मन के साथ देह की लड़ाई छिड गयी। प्रयोजन के साथ प्रीति की पहले बताए हुए संस्कार के साथ संस्कार-मुक्ति का संग्राम आरम्भ हो गया।

मैं पुन एक दिन कागज-कलम ले कर बैठ गया।

ठीक इसी समय आपसे घटनाचक्र से मेरी जान-पहचान हुई। सम्भवतः आपकी वह बात मुझे याद है। आप तब नये थे और मैं पुराना होने पर भी नये सिरे से उस समय पुराने संसार में लौट आया था। वह कथा गत वर्ष के साहित्य अंक (१९७४) में एक नंबर बर्मन स्ट्रीट शीर्षक से लिख चुका हूँ। मैं अपनी वह 'असीर और उर्वशी' कहानी छपाने को राजी नही था परन्तु आपने बलात् उसे छाप दिया था। उस कहानी को यहाँ नये सिरे से कहने की आवश्यकता नही है। तब इतना कहना ही यथेष्ट होगा कि 'देश' पत्रिका में वह मेरी पहली आत्माभिव्यक्ति थी। और केवल 'देश' साप्ताहिक में

ही नही, उस वर्ष एक साथ सभी पत्रिकाओं के विशेषांकों मे मेरी एक-एक रचना प्रकाशित हुई। सभी संस्कार-मुक्ति की कहानियाँ थी। बहुत दिनों तक उपयोग मे न लाने से मनुष्य के मन मे भी सम्भवतः जंग लग जाता है। केवल अव्यवहार से नही, अपव्यवहार से भी मन मे जंग लगने की आशंका रहती है। इतने दिनों तक मै मन का वह अपव्यवहार ही करता आ रहा था। उस दिन मैं वही जो रुका नही, उसके कारण आप है। आप पुन. तकादा करने लगे। आप ही तकादे कर-कर के मुझमे और भी रचनाए लिखाने लगे। अन्त में एक दिन आपने कहा, "अब कोई धारावाही उपन्यास लिखिए।"

उपन्यास! और धारावाही उपन्यास। वह तो भारतीय शास्त्रीय संगीत की तरह बहुत कठिन वस्तु है। उसमें ताल-लय-मूर्च्छना है, उसमें आलाप, तान, सपाट तान है। वह क्या इतना सरल है? क्या मैं उसे कर सकूँगा? वह तो केवल उस्ताद अब्दुल करीम खाँ और उस्ताद फैयाज खाँ साहब के द्वारा ही सम्भव है। सचमुच, क्या मैं उसमे सकूँगा? यदि बेसुरा हो जाय, यदि ताल कट जाय, यदि तान देते-देते गला रुँध जाय। उसके ऊपर है तीसरा आयाम। अर्थात् जिसको कहा जाय कहानी का अतिक्रमण कर, कहानी के ऊपर उठ कर, एक तीसरी वस्तु का संकेत करना। इसे तो टॉल्स्टॉय, दास्तोव्स्की, बालजक, डिकेन्स और रोमा रोला ने किया है। किन्तु वह क्या मेरी लेखनी से निःसृत हो सकेगा? जिस उपन्यास के समाप्त होने पर भी लगे कि समाप्त नही हुआ, जिस उपन्यास को पूरा पढने पर भी लगे कि उपन्यास के पात्र-पात्री के जगत् के ऊपर एक और ध्रुवलोक मे पहुँच गया हूँ—इन्द्रियग्राह्य पृथ्वी के ऊपर, जहाँ पाठक का पात्र और पात्री से कोई विच्छेद नही रह जाता, न रह जाने पर एक अनाविल आत्मोपलब्धि की सृष्टि होती है—उसी आनन्द-स्रोत में मैं तैरने लगता हूँ। जिस उपन्यास को पढते-पढते लगे कि इतने दिनों के बाद मैंने स्वयं को पहचाना, लेखक ने मेरी ही कहानी छद्म नाम से लिखी है। ऐसा उपन्यास लिखना किस लेखक के लिए सम्भव है? उस श्रेणी का लेखक होने के लिए जिस यातना को भोगना अनिवार्य है, क्या मैंने उस यातना को भोगा है? मैं तो केन्द्रीय सरकार का महीने की पहली तारीख को निर्धारित वेतन पाने वाला एक कर्मचारी हूँ। मैं तो 'स्लेव' हूँ, मैं तो दास हूँ। मै प्रयोजन की रुचि का अचूक शिकार हूँ। और प्रयोजन तो संसार की सबसे बड़ी बला है। उसी बला को अनदेखी कर जितना कुछ समय पाता हूँ वह क्या मेरे उपन्यास-लेखन के लिए पर्याप्त है?

मुझे स्मरण है कि तब भी मैंने चेष्टा की। दिन मे नौकरी करता था और प्रायः रात मे जागता था। यह आज से प्रायः तीस वर्ष पहले की बात है। १९४६ ई० के जुलाई महीने की घटना। युद्ध एक वर्ष पहले रुक गया था। लेकिन हम लोगो के जीवन मे युद्ध का आनुषंगिक उपद्रव आरम्भ हो गया है। बंगाली मध्यवित्त परिवार टूट कर तहस-नहस हो गया है। पिता यदि बडे नगर मे रहता है तो माता कदाचित् खिदिरपुर मे रहती है। बडा लडका कस्बे में और छोटा लडका यादवपुर मे या टालीगंज में। एक ही संसार में एक ही छत्त के नीचे के जन है लेकिन उस समय अचानक सभी एक दूसरे से बिछुड गये है। द्वितीय विश्व-महायुद्ध की इसी सामाजिक पृष्ठभूमि में मेरा

विभाग का नाम था सेन्ट्रल ब्यूरो आफ इनवेस्टिगेशन। हिन्दी में अनुवाद करने से केन्द्रीय अनुसन्धान संस्थान कहा जायेगा। उन दिनों उसका नाम स्पेशल पुलिस इस्टैबलिशमेंट था। उसका मुख्य कार्य गुप्त-चर-वृत्ति था। कौन कहां घूस ले रहा है, उसकी खोज करो। उसके बाद यथासमय फन्दा डालकर उसे गिरफ्तार करो। और उसके बाद उसके नाम मे मुकदमा दायर करो, अभियुक्त को कचहरी से चालान करो।

इसका केन्द्रीय कार्यालय दिल्ली मे था। अब भी वही है। वहा विभाग के बडे अधिकारी रहते हैं। लेकिन कलकत्ता-कार्यालय के उस समय जो सर्वेसर्वा थे, उनका नाम रायबहादुर खगेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय था। यह सूचना मेरे एक भावी प्रकाशक ने दी। प्रकाशक महोदय स्वयं मुझे एक दिन उनके घर ले गये। मेरी आग की दशा उन्हें विस्तार से बताई। मुझे तत्क्षण एक पत्र मिला और उसी एक पत्र मे मेरा काम बन गया। उसी दिन से मेरा स्थानान्तरण नये विभाग में भ्रष्टाचार निरोधक अधिकारी के पद पर हो गया। वहां लिखने-पढने का कुछ काम नही था। आकाश-पाताल का चक्कर लगाना और सप्ताहान्त में अपने उच्च अधिकारी को लिखित रूप में यह सूचना देना कि सात दिनो मे क्या किया है, कहाँ-कहाँ गया और भ्रष्टाचार-निरोध के लिए क्या-क्या चेष्टा की है। कलकत्ता मे कुछ दिनो तक यह काम करने के बाद मेरा स्थानान्तरण पुराने स्थान मध्यप्रदेश के बिलासपुर में हो गया।

यदि मेरी रचना में सत्य-असत्य, पाप-पुण्य और अच्छाई-बुराई को प्रमुखता मिली है तो इस नये विभाग के कार्य को ही इसका श्रेय मिलना चाहिए। बिलासपुर जाने पर मुझे पता चला कि मनुष्य के एक तबके के बीच मैं बहुत ही लोकप्रिय हूँ किन्तु एक और तबके के बीच अत्यन्त अप्रीतिभाजन भी हूँ। मार्ग मे भेंट होने पर एक दल मेरा सादर स्वागत-सत्कार करता। तरह-तरह की मीठी बातें करता। मेरे सुख-दुःख के विषय में पूछता और दूसरा दल मुझे दूर से ही देख कर आँखों से ओझल हो जाता। मानो, मैं उनके लिए अछूत हूँ।

इस काम को ले कर मुझे कितने प्रकार के लोगो के घनिष्ठ सम्पर्क में आना पडा, वह कहूँ तो विचित्र लगेगा। चोर, गुण्डा, जुआरी, नशेबाज, पागल, लम्पट, घूसखोर, वेश्या—कौन नही ? वास्तव में मेरा उद्देश्य अधिक वेतन भोगी कर्मचारियों को गिरफ्तार करना था। उन कई बरसो की अभिज्ञता से मैंने देखा कि जिनके पास अधिक है, उन्हें, अधिक लोभ है। तब देश कुल मिला कर स्वतन्त्र हुआ था। मुझे ट्रेन से घूम-घूम कर लगभग सम्पूर्ण देश के समस्त गाँवों, बाजारों में जाना पडता था। मेरा मुख्यालय बिलासपुर था। और मुझसे जो बडे पदाधिकारी थे, उनका कार्यालय जबलपुर में था। दो या तीन मास के अन्तर मे यदि कभी आवश्यकता जान पडती तो उनके कार्यालय में जा कर उनसे परामर्श करता था। उनसे उपदेश लेता था। नेपियर टाउन मे एक एकान्त डाक बंगले में मैं रहता था। साथ में एक अर्दली था। उस समय वह मेरी एक अद्भुत जीवन-यात्रा थी। मैं शाहंशाह आलमगीर का मुकाबला कर रहा था। जब जहाँ और जितनी दूर चाहूँ, घूमने-फिरने का मुझे अधिकार था। अब चहारदीवारी में निर्धारित

समय का कैदी नहीं था। चाहने से चार-दिन चार-रात विस्तर पर सोया रह सकता था। मेरे पास एक ऐसा पारपत्र था जिसे दिखाकर मैं किसी भी ट्रेन के किसी भी डिब्बे में चढ़ सकता था। कोई बाधक नही था। मेरी गतिविधि अनवरुद्ध थी।

बहुत दिनो बाद एक दिन घर लौटने पर देखा, कोई एक अव्यवहृत नयी साइकिल रख गया है। किसकी साइकिल है, उसे कौन मुझे दे गया। उसका क्या प्रयोजन है ? यह नहीं समझ पाया। बाहर शहर मे अनेक लोगों से पूछताछ की, लेकिन कोई भी उसका ठीक उत्तर न दे सका। स्टेशन के रिफ्रेशमेंट रूम के मैनेजर मिस्टर बोस ने कहा, "आप इसे काम में लीजिए, आपके व्यवहार के लिए ही यह आपको दे गया है।"

किन्तु मैं जानता था यह च हे जिसने दी हो, इसके देने का अर्थ मुझे प्रसन्न करने की चेष्टा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। एक सामान्य साइकिल ले मैं प्रसन्न हो जाऊँगा, जिसकी धारणा ऐसी है, वह आदमी या तो चोर है कि घूसखोर—यह अनुमान करने मे मुझे विशेष कठिनाई नही हुई।

फूड-अफसर मिस्टर अंसारी ने कहा, "ले लीजिये मित्र साहब, वह आपकी है।"

एक ठेकेदार के उन्नीस हजार रुपये के सरसो का मिलावटी तेल होने के कारण मैंने जब्त कर लिया था। उसी ठेकेदार का आदमी प्रति दिन मेरे घर के सामने चक्कर लगाता था। वह चाहता था कि मैं उसे बुलाऊँ और उससे बातचीत करूँ। एक दिन उसे बुलाकर मैंने धमका दिया।

बोला, "तुम क्या चाहते हो ? मेरे घर के सामने चक्कर क्यों लगाते हो ?"

वह बडा शैतान था। दाँत निपोर कर हँसने लगा। बोला, "हुजूर, आपके घर मे फर्नीचर नहीं है। आप शनिचरी बाजार मे आर्डर देकर फर्नीचर बनवा लें, कीमत मैं चुका दूँगा।"

मेरे जीवन मे सब विचित्र घटनाएँ घटने लगीं। अन्त मे एक दिन एक आदमी सोने की एक ईंट लेकर मेरे घर आया। उस समय बहुत रात हो चुकी थी। मैं तो देखकर अवाक् रह गया। क्या अन्ततः मेरे ही हाथों हथकड़ी डाली जायेगी ?

बहुत दिनो के बाद एक दिन घर आने पर सुना कि कोई आकर साइकिल उठा ले गया है। हो सकता है वह समझ गया हो कि मुझे देने से उसका कोई लाभ नही होना है। कारण उसके दो दिन पूर्व ही सरकारी ग्रेन-शाप के पन्द्रह कर्मचारी चोरी के अपराध मे मेरे द्वारा गिरफ्तार हो चुके थे। 'नहला' गाँव के एक वकील साहब को एक दिन पकड़ा। वह बलात् सरकारी कर्मचारियों को घूस लेने के लिए बाध्य करता था और सरकार को धोखा देता था। स्मरण है, इस कार्य के कारण राष्ट्रपति की ओर से मुझे एक प्रशंसात्मक सम्मान-पत्र भी दिया गया था।

पेंड्रा रोड स्टेशन के एक पी० डब्ल्यू० आई० (परमेनेंट वे इन्स्पेक्टर) को जब रंगे हाथों पकड़ा तो वह मेरे पैरों पर गिरकर रो पड़ा। कहा, "आपने बंगाली होकर बंगाली को पकडा ? अब मैं समाज के सामने कैसे मुँह दिखाऊँगा ?"

इसी प्रकार की असंख्य घटनाएँ घटित होती थीं। आपको इन सबकी सूची बताने

से अन्त ही नहीं होगा। बताने में रात बीत जायगी। कैसे रात-दिन कटता उसका उस समय कोई हिसाब ही नहीं था। मैं तब संगीत और साहित्य के जगत् से बहुत दूर चला गया था। मेरी आँखों पर एक धूप का चश्मा रहता था और कोट-पैंट पहनता था, सिर पर एक टोपी। मध्यप्रदेश की जलवायु से मेरे चेहरे का रूप बदल गया था। मैं पुलिस था, मैं प्रहरी था। मनुष्य के भ्रष्टाचार को दूर करने के व्रत में आँखों के कष्ट की पीड़ा भूल चुका था।

तभी एक दिन एक बंगाली सज्जन ने मुझे अचानक मार्ग मे कहा—"देश साप्ताहिक मे आपकी एक कविता पढी विमल बाबू। बहुत अच्छी है।"

मैं अवाक् हो गया। मैंने 'देश' पत्रिका मे कविता लिखी है? कहानी नहीं, निबन्ध नहीं, उपन्यास नहीं, कविता। मैं किसी भी प्रकार स्मरण नहीं कर सका कि कभी मैंने आपके पास कविता भेजी है। शीघ्रता से प्लेटफार्म पर व्हीलर की दुकान में जाने पर देखा जो भ्रम है, वह सत्य है, हाँ कविता ही छपी है।

मेरा मन दर्द से छटपटा उठा। उसी रात जबलपुर के नेपियर टाउन के डाक बंगले मे बैठकर आपको एक पत्र लिखा कि आपने मेरे साथ यह क्या किया? मेरे नाम से कविता क्यों छापी? किसी समय मैं एक लेखक था। लोगों को ज्ञात है कि उस लेखक की मृत्यु हो चुकी है। यही तो अच्छा था। सचमुच आपने मेरे साथ यह क्या किया? मेरी प्रेतात्मा से यह प्रहसन क्यों कराया?

आपने बड़ा ही अद्भुत उत्तर दिया। आपने उत्तर मे मुझे बिताया कि यदि मैं रचना नहीं भेजूंगा तो आप उस घटना को दुहरायेंगे। अतः मुझे लिखना ही पड़ा। कविता के उत्तर मे कविता ही लिखी। नेपियर टाउन के उस डाक बंगले मे रहते हुए बहुत दिन होने के बाद अब यही कविता लिखी और, कविता को डाक से भेजकर आपको सूचित किया कि अगली डाक से कहानी भी भेजूंगा।

उस अवधि मे मैं भ्रष्टाचार निवारण के लिए क्या कुछ कर सका उसे यहाँ बताना समीचीन होगा। स्मरण है, मेरे कौशल के फलस्वरूप अन्ततः तेंतीस से भी अधिक व्यक्ति गिरफ्तार हुए। यह सब उस स्वतन्त्रता के प्रथम युग की घटना है। अपने अनुभव से देखा कि केन्द्रीय सरकारी कर्मचारियों की दैनन्दिन जीवन-यात्रा मे भ्रष्टाचार इस प्रकार घुलमिल गया है कि उसे दूर करना मेरे सामर्थ्य के बाहर की बात है। यहाँ तक कि मेरे कार्यालय मे भी भ्रष्टाचार था। अर्थात् सभी जगह भूत-लीला चल रही है। स्वाधीनता के पूर्व का युग भी देख चुका था और उसके बाद के युग का मुझे उस समय कटु अनुभव हुआ। देखा, सत्य-पथ पर अचल रहकर इस नौकरी को बनाए रखना मेरे लिए असम्भव है। क्योंकि उच्च पदस्थ अधिकारियों में ही भ्रष्टाचार का अधिक प्राबल्य था। अर्थोपार्जन के अनेक मार्गों का आविष्कार कर उच्च पदस्थ अधिकारियों की गृहणियाँ तक पारस्परिक प्रतियोगिता के मैदान मे उतर चुकी थीं। कोई अधीनस्थ कर्मचारी यदि किसी सरकारी काम से कलकत्ता [illegible] तो उसे लौटते

समय बड़े साहब की गृहणी के लिए गोभी, उड़द दी छीमी, गडरा-झींगा मछली या खजूर के गुड़ का ढेला अपने साथ लाना पड़ता था। उसका मूल्य ? अभी मूल्य तुम अपनी जेब से चुकाओ, इससे भविष्य मे तुम नौकरी मे उन्नति करोगे। मालगाडी के एक वैगन के लिए उन दिनो घूस की बाजार दर आठ सौ रुपया थी। तुम उस वैगन को शालीमार भेजकर। मँहगी दर मे माल वेचो। इससे यदि जनता मरती हैं तो कोई क्षति नहीं होगी, किन्तु मुझे घूस चाहिए। और घूस लेने की पद्धति भी बड़ी अद्भुत थी। किस दलाल के हाथ मे देने से किस कौशल से वह बड़े साहब के हाथ में पहुँच जाती थी, उसकी सूचना मुझे थी। किन्तु हमारा भ्रष्टाचार उन्मूलन का कानून उस समय इतना दुर्बल था कि उन्हें पकडना मेरे सामर्थ्य के बाहर था। और आज यह कहने मे कोई बाधा नहीं कि उन दिनों वे बडे अधिकारी ही भ्रष्टाचार के सबसे बड़े पृष्ठपोषक और सहयोगी थे। वे मेरा सहयोग तो करते ही नहीं थे, वरन् मेरे मुंह पर ही कहते थे, "आप यह नौकरी क्यों कर रहे हैं? दूसरे के सर्वनाश मे आपका क्या लाभ होता है ?"

जो मुझे यह सब उपदेश देते थे, बाद में देखा, उन्हीं की और पदोन्नति हुई। किसी-किसी ने तो पद्मश्री उपाधि भी प्राप्त कर ली है। मुझे स्मरण है कि युद्ध के समय जो लोग कार्यालय मे ही हम लोगों की उपस्थिति मे नेता जी सुभाषचन्द्र बोस को गालियाँ देकर हमारे मन मे कष्ट पहुँचाते थे, वही उच्चाधिकारी बाद मे नेता जी के जन्मोत्सव के दिन खादी का धोती-कुरता और टोपी पहन कर तथा सभा मे खड़े होकर सब श्रोताओं को नेता जी का आदर्श ग्रहण करने की लेक्चरबाजी करते थे।

जो हो, मुझे इन सब अनुभवों की आवश्यकता थी। बाद में जब मुझे पलासी के युद्ध के समय से आरम्भ कर आधुनिक काल तक के दो-तीन सौ वरसों के इतिहास पर कई खण्डों मे धारावाही उपन्यास लिखना पड़ा तब आँखों देखी इन घटनाओ ने मेरे लिए प्रचुर सामग्री का जुगाड़ कर दिया। इसलिए उन दिनों के उस व्यावहारिक जीवन का मैं बहुत ऋणी हूँ।

जबलपुर के मुख्य कार्यालय से मेरे पास बहुधा इस आशय का पत्र आता था कि मैं प्रत्येक नये नगर, प्रत्येक गाँव और बाजार मे जाकर वहाँ के मण्डल काग्रेस या जिला काग्रेस के अध्यक्ष से मिलकर वहाँ के सन्देहजनक व्यक्तियों का पता लगाऊँ। लेकिन आज इतने दिनों बाद मुझे यह स्वीकार करने मे लज्जा का अनुभव होता है कि तब उन लोगों से मुझे किसी प्रकार का सहयोग नही मिला। लेकिन ऐसा होने पर भी क्या उस समय भले आदमी नहीं थे ? अवश्य ही थे। उन्हीं भले आदमियों की बात भी मैं लिखने जा रहा हूँ। लेकिन उनकी संख्या मुट्ठी-भर थी। समय का इतिहास उन्हीं मुट्ठी-भर व्यक्तियों के कारण चिर स्मरणीय रहता है।

उस समय आँख में पीड़ा नहीं थी। ऊपर से चिट्ठी पर चिट्ठी। आपने लिखा : बिलासपुर जाकर क्या विलासी हो गये ?

वास्तव मे समझा कि उपन्यास लिखने की एक उपयुक्त वय होती है। चालीस के

पूर्व मनुष्य की लेखनी मे साधारणतया उच्छ्वास की ही प्रबलता रहती है। उच्छ्वास अच्छा है किन्तु उपन्यास-लेखक के लिए उसका प्राबल्य घातक है। संसार के उपन्यास-साहित्य का इतिहास उच्छ्वासहीनता का ही इतिहास है। लेखक के व्यक्तिगत जीवन के दुःख, यातना और भोग चालीस के बाद उस उच्छ्वास को निश्चल बनाने मे सहायता करते हैं, विद्वानो ने यही मत व्यक्त किया है। मेरे निजी जीवन में वह दुःख, यातना और भोग का पात्र तब इतना लबालब भर चुका था कि बचपन में जो निराशा थी, वह उस समय वीतराग मे परिणत हो गयी थी। जीवन के प्रति वीतराग, कर्म-जीवन के प्रति वीतराग, कर्तव्य के प्रति वीतराग—यहाँ तक कि अपने सबसे प्रिय संगीत और साहित्य के प्रति भी मैं वीतराग हो गया था। जीवन मे मैं क्या करना चाहता था और क्या कर रहा हूँ—इसी चिन्ता मे दिन बीतते थे।

किन्तु आपकी उस प्रकार की चिट्ठियाँ पाकर मुझमे आशा का संचार हुआ। आपकी चिट्ठियो ने मेरे जीवन मे संजीवनी मंत्र के समान कार्य किया।

मैं पुनः साहित्य रचना प्रारम्भ करूँगा अतः चेष्टा करके एक दिन स्थानान्तरित होकर कलकत्ते आ गया। नौकरी के जीवन में यह भी एक प्रकार से बहुत असाध्य साधन के समान था। तब भी कहूँगा कि मेरे धैर्य, कार्यक्षमता और सहनशीलता ने सम्भवतः मेरे भाग्य-देवता को प्रसन्न ही किया था या यह भी सम्भव है कि घोर यातना देने पर भी जब उन्होंने देखा कि यह मनुष्य किसी प्रकार भी वश में होने वाला नहीं है, राग-भोग से भी जब यह म्रियप्राण नहीं हुआ, इतना लोभ दिखाने पर भी जब इसे वश में नहीं किया जा सका तब निरुपाय होकर उन्होंने स्वयं ही पराजय स्वीकार कर ली। या फिर मुझे अन्य कठिनतर परीक्षा मे डालने के लिए एक नया जाल बिछाया।

मैं १९४९ ई० के शेषांश मे कलकत्ते लौट आया। आपको पहले ही बता चुका हूँ कि बचपन से ही सारे भारतवर्ष के समस्त प्रान्तों मे घूमते-घूमते मेरे पावों मे पंख लग गये थे। हिन्दी में एक कहावत है—"चरण मे नारद है।" लगता है कि नारद ऋषि की सम्भवतः मेरे चरणों पर भी दया आयी। अन्यथा किसने मुझे इतना घुमाया? इस बार निश्चय किया कि 'कलकत्ता' परित्यज्य पादमेकं न गच्छामि। भले ही उससे अर्थ प्राप्त न हो परन्तु परमार्थ की प्राप्ति होगी।

कलकत्ता आते ही क्या जाने क्यो, मेरे मस्तिष्क में ढेरो कहानियों का कच्चा माल जमा होने लगा। आपको बताते ही आपने कहा कि वह सब का सब साप्ताहिक 'देश' के लिए सुरक्षित रखें। एक-एक कर बाहर निकालिएगा।

मैं यही करने लगा। घटनाचक्र से कलकत्ते आने पर देखा, पुराने जमाने की इंपीरियल लायब्रेरी का नया नाम नेशनल लायब्रेरी हो गया है और वह मेरे घर के निकट ही बड़े लाट साहब के भवन मे स्थित है। यह मुहम्मद से पर्वत की आशा करने जैसा था। अन्धेरे प्रासाद के भीतर इतना प्रकाश हो सकता है, यह मैं पहले नहीं जानता था। वहाँ बहुत ही अच्छी व्यवस्था थी। उस समय वहाँ न तो समय का कोई बँधा-बँधाया नियम था और न किसी प्रकार की पाबन्दी ही थी। तुम्हारे वहाँ जाकर

मुझे विश्वास है

पुस्तक पढ़ने से ही तो अधिकारी प्रसन्न होंगे। अधिकारी भी चाहते थे कि सभी वहाँ आयें। उससे उनकी भी नौकरी बनी रहेगी। उन दिनों नेशनल लायब्रेरी प्रातः छह-सात बजे खुलती थी और रात्रि के ग्यारह बजे तक खुली रहती थी। बाद में अवश्य वह नियम बदल गया।

'आनन्द मठ' के प्रारम्भ मे ही एक उपक्रमणिका है। गम्भीर अरण्य मे अन्धेरी आधी रात के समय एक आदमी का कण्ठस्वर सुनायी पड़ा—क्या मेरी मनोकामना पूर्ण नहीं होगी?

प्रश्न हुआ : तुम्हारी क्या प्रतिज्ञा है?

"जीवन सर्वस्व।"

"जीवन तो तुच्छ है। और क्या दे सकते हो?"

उत्तर मिला : भक्ति।

बंकिमचन्द्र की उपक्रमणिका यहीं समाप्त हो जाती है। किन्तु मुझे भी ऐसा लगा कि इतने दिनों तक साहित्य के लिए सब कुछ दिया किन्तु तब भी कुछ नहीं दिया है। जीवन के श्रेष्ठ समय को दासता में ही बिताया है। एक ऐसे प्रतिष्ठान में काम करता हूँ जिसके हजार-हजार, लाख-लाख अंग-प्रत्यंग हैं। मेरी अनुपस्थिति से वहाँ कुछ रुकने को नहीं है। वहाँ मेरी उपस्थिति भी अनिवार्य नहीं है। मेरी उपस्थिति के व्यतिरेक में भी कर्मस्थल के पहिये नियमपूर्वक लुढ़कते रहेंगे। सरकारी कार्यालय सहस्रपदी होता है। यदि यही सत्य है तो मैं वहाँ नियमपूर्वक क्यों जाता हूँ? यह सोचने पर मुझे भी जैसे एक मानसिक निष्कृति की स्वच्छन्दता का अनुभव हुआ। केवल यही कहने लगा कि मैं जहाँ अनिवार्य नहीं हूँ वहाँ मेरी अनुपस्थिति भी निश्चय ही क्षम्य है।

इस स्थिति मे आपने एक दिन कहा, "आप एक और धारावाही उपन्यास आरम्भ कीजिये।"

अब की साप्ताहिक 'देश' मे यही मेरा दूसरा उपन्यास होगा। प्रथम संतान के प्रसव-काल में माँ के मन मे चाहे जितना भी आतंक और वेदना हो, द्वितीय संतान के समय उतनी नहीं रहती। किन्तु मेरे सम्बन्ध मे यह नियम लागू नहीं होता। आतंक, वेदना और अस्वच्छन्दता मेरे जीवन-साथी हैं। बचपन से जब मैंने पहले-पहल लिखना आरम्भ किया उसी दिन से वह सब है। इतने दिनों मे मेरी आयु बढ़ गयी, अनुभव-जनित ज्ञान भी बढ़ा है। निन्दा, उपेक्षा, अवहेलना और कुत्सा पाते-पाते मन कठोरतर हो गया है किन्तु यातना और पीड़ा गई नहीं। क्यों इतनी वेदना और क्यों इतनी पीड़ा, यह केवल मेरा सृष्टिकर्ता ही जानता है। उपन्यास लिखने के समय मैं पहले जिस तरह यातना से कातर हो जाता था, मेरे इस द्वितीय उपन्यास लिखने के समय उस यातना ने दुगुनी-चौगुनी होकर मुझ पर चारों ओर से आक्रमण किया। सोचने लगा, इस बार भी फिर कहीं आँख की पीड़ा के कारण मुझे उपन्यास बीच मे ही समाप्त न करना पड़े। प्रतिदिन प्रातः सोकर उठने पर त्रिफला के पानी से आँख धो लेता था। केवल आँख पर मेरा काम निर्भर करता था। इसीलिए सरकारी कार्यालय में मुझे काम मे

पूर्व मनुष्य की लेखनी में साधारणतया उच्छ्वास की ही प्रबलता रहती है। उच्छ्वास अच्छा है किन्तु उपन्यास-लेखक के लिए उसका प्राबल्य घातक है। संसार के उपन्यास-साहित्य का इतिहास उच्छ्वासहीनता का ही इतिहास है। लेखक के व्यक्तिगत जीवन के दुःख, यातना और भोग चालीस के बाद उस उच्छ्वास को निश्चल बनाने में सहायता करते हैं, विद्वानों ने यही मत व्यक्त किया है। मेरे निजी जीवन में वह दुःख, यातना और भोग का पात्र तब इतना लबालब भर चुका था कि बचपन में जो निराशा थी, वह उस समय वीतराग में परिणत हो गयी थी। जीवन के प्रति वीतराग, कर्म-जीवन के प्रति वीतराग, कर्तव्य के प्रति वीतराग—यहाँ तक कि अपने सबसे प्रिय संगीत और साहित्य के प्रति भी मैं वीतराग हो गया था। जीवन में मैं क्या करना चाहता था और क्या कर रहा हूँ—इसी चिन्ता में दिन बीतते थे।

किन्तु आपकी उस प्रकार की चिट्ठियाँ पाकर मुझमें आशा का संचार हुआ। आपकी चिट्ठियों ने मेरे जीवन में संजीवनी मंत्र के समान कार्य किया।

मैं पुनः साहित्य रचना प्रारम्भ करूँगा अतः चेष्टा करके एक दिन स्थानान्तरित होकर कलकत्ते आ गया। नौकरी के जीवन में यह भी एक प्रकार से बहुत असाध्य साधन के समान था। तब भी कहूँगा कि मेरे धैर्य, कार्यक्षमता और सहनशीलता ने सम्भवतः मेरे भाग्य-देवता को प्रसन्न ही किया था या यह भी सम्भव है कि घोर यातना देने पर भी जब उन्होंने देखा कि यह मनुष्य किसी प्रकार भी वस में होने वाला नहीं है, राग-भोग से भी जब यह म्रियमाण नहीं हुआ, इतना लोभ दिखाने पर भी जब इसे वश में नहीं किया जा सका तब निरुपाय होकर उन्होंने स्वयं ही पराजय स्वीकार कर ली। या फिर मुझे अन्य कठिनतर परीक्षा में डालने के लिए एकांगी जाल बिछाया।

मैं १९४९ ई० के शेषांश में कलकत्ते लौट आया। आपको पहले ही बता चुका हूँ कि बचपन से ही सारे भारतवर्ष के समस्त प्रान्तों में घूमते-घूमते मेरे पावों में पंख लग गये थे। हिन्दी में एक कहावत है—"चरण में नारद है।" लगता है कि नारद ऋषि की सम्भवतः मेरे चरणों पर भी दया आयी। अन्यथा किसने मुझे इतना घुमाया? इस बार निश्चय किया कि 'कलकत्ता' परित्यज्य पादमेकं न गच्छामि। भले ही उससे अर्थ प्राप्त न हो परन्तु परमार्थ की प्राप्ति होगी।

कलकत्ता आते ही क्या जाने क्यों, मेरे मस्तिष्क में ढेरों कहानियों का कच्चा माल जमा होने लगा। आपको बताते ही आपने कहा कि वह सब का सब साप्ताहिक 'देश' के लिए सुरक्षित रखें। एक-एक कर बाहर निकालिएगा।

मैं यही करने लगा। घटनाचक्र से कलकत्ते आने पर देखा, पुराने जमाने की इंपीरियल लायब्रेरी का नया नाम नेशनल लायब्रेरी हो गया है और वह मेरे घर के निकट ही बड़े लाट साहब के भवन में स्थित है। यह मुहम्मद से पर्वत की आशा करने जैसा था। अंधेरे प्रासाद के भीतर इतना प्रकाश हो सकता है, यह मैं पहले नहीं जानता था। वहाँ बहुत ही अच्छी व्यवस्था थी। उस समय वहाँ न तो समय का कोई बँधा-बँधाया नियम था और न किसी प्रकार की पाबन्दी ही थी। तुम्हारे वहाँ जाकर

मुझे विश्वास है

पुस्तक पढ़ने से ही तो अधिकारी प्रसन्न होंगे। अधिकारी भी चाहते थे कि सभी वहाँ आयें। उससे उनकी भी नौकरी बनी रहेगी। उन दिनों नेशनल लायब्रेरी प्रातः छह-सात बजे खुलती थी और रात्रि के ग्यारह बजे तक खुली रहती थी। बाद में अवश्य वह नियम बदल गया।

'आनन्द-मठ' के प्रारम्भ में ही एक उपक्रमणिका है। गम्भीर अरण्य में अन्धेरी आधी रात के समय एक आदमी का कण्ठस्वर सुनायी पड़ा—क्या मेरी मनोकामना पूर्ण नहीं होगी?

प्रश्न हुआ : तुम्हारी क्या प्रतिज्ञा है?

"जीवन सर्वस्व।"

"जीवन तो तुच्छ है। और क्या दे सकते हो?"

उत्तर मिला : भक्ति।

बंकिमचन्द्र की उपक्रमणिका यहीं समाप्त हो जाती है। किन्तु मुझे भी ऐसा लगा कि इतने दिनों तक साहित्य के लिए सब कुछ दिया किन्तु तब भी कुछ नहीं दिया है। जीवन के श्रेष्ठ समय को दासता में ही बिताया है। एक ऐसे प्रतिष्ठान में काम करता हूँ जिसके हजार-हजार, लाख-लाख अंग-प्रत्यंग हैं। मेरी अनुपस्थिति से वहाँ कुछ रुकने को नहीं है। वहाँ मेरी उपस्थिति भी अनिवार्य नहीं है। मेरी उपस्थिति के व्यतिरेक में भी कर्मस्थल के पहिये नियमपूर्वक लुढ़कते रहेंगे। सरकारी कार्यालय सहस्रपदी होता है। यदि यही सत्य है तो मैं वहाँ नियमपूर्वक क्यों जाता हूँ? यह सोचने पर मुझे भी जैसे एक मानसिक निष्कृति की स्वच्छन्दता का अनुभव हुआ। केवल यही कहने लगा कि मैं जहाँ अनिवार्य नहीं हूँ वहाँ मेरी अनुपस्थिति भी निश्चय ही क्षम्य है।

इस स्थिति में आपने एक दिन कहा, "आप एक और धारावाही उपन्यास आरम्भ कीजिये।"

अब की साप्ताहिक 'देश' में यही मेरा दूसरा उपन्यास होगा। प्रथम संतान के प्रसव-काल में माँ के मन में चाहे जितना भी आतंक और वेदना हो, द्वितीय संतान के समय उतनी नहीं रहती। किन्तु मेरे सम्बन्ध में यह नियम लागू नहीं होता। आतंक, वेदना और अस्वच्छन्दता मेरे जीवन-साथी हैं। बचपन से जब मैंने पहले-पहल लिखना आरम्भ किया उसी दिन से वह सब है। इतने दिनों में मेरी आयु बढ़ गयी, अनुभव-जनित ज्ञान भी बढ़ा है। निन्दा, उपेक्षा, अवहेलना और कुत्सा पाते-पाते मन कठोरतर हो गया है किन्तु यातना और पीड़ा गई नहीं। क्यों इतनी वेदना और क्यों इतनी पीड़ा, यह केवल मेरा सृष्टिकर्ता ही जानता है। उपन्यास लिखने के समय मैं पहले जिस तरह यातना से कातर हो जाता था, मेरे इस द्वितीय उपन्यास लिखने के समय उस यातना ने दुगुनी-चौगुनी होकर मुझ पर चारों ओर से आक्रमण किया। सोचने लगा, इस बार भी फिर कहीं आँख की पीड़ा के कारण मुझे उपन्यास बीच में ही समाप्त न करना पड़े। प्रतिदिन प्रातः सोकर उठने पर त्रिफला के पानी से आँख धो लेता था। केवल आँख पर मेरा काम निर्भर करता था। इसीलिए सरकारी कार्यालय में मुझे काम में

धोखा देना पड़ता था। गृहस्थी, परिवार, समाज, अपने स्वजन सबकी सब प्रकार से उपेक्षा करके मुझे काम करना पड़ता था। चारों ओर की वृहद् धरती और निरवधि काल की माँग को सामने रखकर मैं आगे बढ़ रहा था। गृहस्थी की देख रेख बाद में करूँगा, आत्मीय स्वजनों की दृष्टि में अप्रिय होऊँगा, इसकी भी परवाह नहीं, परन्तु अपनी इच्छा के संसार की माँग को और कब तक ठुकराता रहूँगा ?

तभी 'आनन्द मठ' की उस भक्ति की कथा का स्मरण हो आया। जीवन सर्वस्व का प्रण करना ही यथेष्ट प्रण करना नहीं होगा। जीवन सर्वस्व से भी बड़ी है भक्ति। वही भक्ति देनी होगी। उस भक्ति को देने के लिए विश्वास चाहिए और केवल विश्वास ही नहीं, अटूट, निष्कपट विश्वास चाहिए।

कार्यालय जाने के लिए सीधे घर से निकला था, पर बीच ही में गन्तव्य स्थान के बदले पुस्तकालय चला जाता था। पुस्तकालय जाने पर लगता, लेखक के अतिरिक्त मेरी और कोई दूसरी सत्ता नहीं है। वहां मैं पति नहीं, पिता नहीं, एक सामाजिक प्राणी भी नहीं यहां तक कि तुच्छ सरकारी कर्मचारी भी नहीं। मैं स्वाधीन था। वहां मैं केवल एक स्वतन्त्र लेखक था। लेखक सत्ता ही वहाँ मेरी एक मात्र सत्ता थी। लिखते-लिखते मैं कल्पना से कर्नवालिस स्ट्रीट के उस तेरह नम्बर भवन के सामने पहुँच जाता, जिस के सामने ब्राम्ह समाज का मन्दिर था। वहाँ खड़े होकर मैं संस्कार और सत्कार मुक्ति के संग्राम में सम्मिलित हो जाता। आँखों के सामने देखता, पूरे कलकत्ते में आदमियों की भीड़ इकट्ठी है। वह कलकत्ता हम लोगों का यह कलकत्ता नहीं है। मेरी आँखों के सामने एक दूसरे ही कलकत्ते का एक दूसरा ही रूप तैरने लगता। वह १६९० ई० का जाब चार्नक का कलकत्ता चेहरा बदलते-बदलते उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में पहुँच गया है। अंग्रेजों ने आकर भगीरथ की उस गंगा का नाम हुगली नदी रख दिया है जिसे हम भागीरथी कहते हैं। प्लिनी के काल से ही सप्तग्राम के निकट की नदी को लोग देवी सुरेश्वरी गंगा कहते थे। उस के बाद उत्थान और पतन के अमोघ नियम के कारण जिस दिन सप्तग्राम का पतन हुआ, हुगली ने मस्तक ऊँचा कर लिया और उस दिन से पोर्तगालियों की दया से भागीरथी का नाम बदल कर हुगली नदी हो गया। उसी कलकत्ते में उन्नीसवीं शताब्दी में एक दिन स्यालदह स्टेशन पर आकर एक स्पेशल ट्रेन रुकी और उस में से एक गेरुआधारी संन्यासी उतरा। वह संन्यासी इसी कलकत्ते का रहने वाला था। उसने अमरीका जाने के समय कहा था "I go forth to preach a religion of which Buddhism is but a rebel child and Christianity is but a distant echo"[1] मैं लिखते लिखते ध्यान में तल्लीन हो जाता और कब रात के दस बज जाते इसका पता ही न चलता। पुस्तकालय का दरवान सतर्क कर देता, 'बाबू जी, रात के दस बज गये।'

उस समय पुस्तकालय में समय की कोई पाबन्दी न थी। जिसकी जब तक इच्छा

१. मैं एक ऐसे धर्म का प्रचार करने जा रहा हूँ जिसका बौद्ध धर्म एक विद्रोही सन्तान और ईसाई धर्म दूरस्थ प्रतिध्वनि है।

हो, लिख-पढ सकता था। पाबन्दी लगी १९५३ ई० के अगस्त मे। तब रात क आठ बजे ही मुख्य द्वार बन्द हो जाता था। उस समय सबको पुस्तकालय से बाहर कर दिया जाता था। परन्तु उतने दिनों मे मेरी जीवन-मृत्यु की परीक्षा समाप्त हो गयी। उन दिनो अपने उस द्वितीय धारावाही उपन्यास का अन्तिम परिच्छेद लिख कर समाप्त कर चुका था।

पाण्डुलिपि की अन्तिम किस्त लेकर मैं एक दिन घर से दोपहर आपके कार्यालय की ओर चल पड़ा। किन्तु तब मैं क्लान्ति और अवसाद से अवसन्न था। उस समय मेरे पाँव नहीं उठ रहे थे। स्वर सप्तक के अन्तिम परदे मे पहुँचते ही तबलची तिहाई से उस समय गायन समाप्ति की घोषणा कर रहा था और गायक भी सम पर आकर अपने क्षीण स्वर को क्षीणतर बना कर गायन के अवशिष्ट अंश को खींच कर चारो ओर के वातावरण मे स्वर की तरंग फैला रहा था।

आप और आपके सहकारी ज्योतिपदास गुप्त आपके पास ही बैठे थे। आप दोनों ने मेरी ओर विस्मयपूर्ण दृष्टि से निहारा।

"क्या हुआ ? आपका चेहरा ऐसा क्यो दीख रहा है ?"

मुझे स्मरण है कि कुछ क्षणों तक मेरे मुँह से कोई बात नहीं निकली। तब मैं निःस्व, रिक्त और सर्वस्वरहित था। कुछ क्षणों के लिए जैसे मैं गूंगा हो गया। मेरी बोधशक्ति, वाक्शक्ति सब कुछ जैसे तिरोहित हो गयी थी। उस समय मेरी आँखो की दृष्टि भी जैसे धुंधली हो गयी थी। वास्तव मे उस समय मेरा रोना ही उचित था, किन्तु उस समय मेरी आँखो के आंसू भी लगता है, सूख गये थे। मुझे लग रहा था, इतने दिनों से जिसके साथ मैं घर-गृहस्थी चला रहा था, जो मेरे समस्त क्षणों की संगिनी थी, जो मेरी ऐकान्तिक संपदा थी, उसी 'पटरानी' को जैसे मैंने हाट के सब लोगों की निर्लज्ज लोभातुर दृष्टि के सामने ले जाकर निराभरण कर के छोड दिया है।

कहा जाये तो यह दूसरा उपन्यास 'साहब बीवी गुलाम' ही मेरा काल हो गया। 'काल' हो गया इस लिए कह रहा हूँ कि इस उपन्यास की समाप्ति के साथ ही मुझे एक ऐसी परिस्थिति का सामना करना पडा जिसके लिए मैं प्रस्तुत नही था। मुझे लगा जैसे मेरे भाग्य-विधाता के न्याय के कारण मुझे अमोघ मृत्युदण्ड मिला है। मेरे विरुद्ध अनेक अखबारों मे अभियोग छपा कर लोगो ने मेरे पास डाक से भेजना आरम्भ कर दिया। उनमे से किसीका अभियोग था कि मैंने शिवनाथ शास्त्री की रचना से सामग्री चुराई है तो किसी का अभियोग था कि किसी अन्य अख्यात लेखक ने अपनी पाण्डुलिपि मुझे देखने को दी थी और मैंने उसे अपनी रचना कह कर चला दिया। और किसी ने मुझे डाक से सूचित किया कि दूसरे की सम्पत्ति की चोरी करने के अभियोग मे शीघ्र ही कचहरी मे मुझ पर मुकदमा चलाया जायेगा। एक पत्रिका ने तो संपादकीय मे आयकर विभाग तक से अनुरोध किया कि शीघ्र मेरी आय की जाँच कर मुझे दण्डित किया जावे। यहाँ तक कि न्यू थियेटर्स कंपनी के श्री बी० एन० सरकार तक इस भय-प्रदर्शन से छुटकारा नहीं पा सके। उसके प्रकाशक

की दुकान की ओर से भी आक्रमण होने लगा कि मैं किसी भी अभियोग का लिखित उत्तर क्यों नहीं देता। मैं जब इस प्रकार की चिट्ठी एवं पत्र-पत्रिका की धार मे बह रहा था उस समय आपके कार्यालय में भी इसी प्रकार के अभियोग-पत्रों की धारा बह रही थी और आप वे सब चिट्ठियाँ, पत्र और दैनिक मेरे पास भेज कर अनुरोध कर रहे थे कि मैं उन सब पत्रों में से एक को भी उत्तर न दूं।

अवश्य ही मेरे पास एक उत्तर था। उत्तर दे सकता था कि हाँ, मैंने चोरी की है। हाँ, शिवनाथ शास्त्री की रचना से मैंने चोरी नहीं की उस्ताद अब्दुल करीम खाँ और उस्ताद फैयाज खाँ के राग संगीत से की है। किन्तु क्या इस उत्तर के मर्मार्थ को तब वे लोग हृदयंगम कर पाते?

दूसरी ओर जो मेरे बन्धु स्थानीय थे वे मेरे शत्रु में परिवर्तित हो गये। इसके साथ ही ऐसे भी असंख्य नये मित्र मिले जो उस समय मेरे साथ हो गये। कुत्सा इतनी अ-शालीन हो सकती है, निन्दा इतनी अप्रतिहत हो सकती है, शत्रुता इतनी निर्लज्ज हो सकती है, ईर्ष्या इतनी अनावृत हो सकती है, और असम्मान इतना अकरुण हो सकता है, इससे पहले इसकी मुझे इस सीमा तक जानकारी नहीं थी। किन्तु तब भी कहूँगा, उस समय उन लोगों ने अपनी कुत्सा, निन्दा, शत्रुता, ईर्ष्या और अपमान द्वारा मेरा जो उपकार किया था, उससे मेरा मंगल ही हुआ। इसके लिए मैं उनका चिर कृतज्ञ हूँ। यह सत्य है कि उस समय मुझे वेदना ही थी किन्तु वह उन लोगों का विषादोद्‌गार ही था जिसने मुझे प्रज्ञा दी, यह भी तो कम सत्य नहीं है। संस्कृत के 'विद्' शब्द से ही वेदना शब्द की उत्पत्ति हुई है। विद् का अर्थ है ज्ञान। संस्कृत के शब्दकोश में देखा है, 'विद्' धातु के साथ अन्+आ प्रत्यय जोड़ने से 'वेदना' शब्द की उत्पत्ति हुई है। अर्थात् जिन लोगों ने कृपापूर्वक मुझे इतना ज्ञान दिया उसके लिए तो उनके प्रति मेरा कृतज्ञ होना ही उचित है। किन्तु आश्चर्य है कि वे यह जान न सके कि उस समय मुझे वेदना देकर उन्होंने जीवन-भर के लिए मुझे कितनी कृतज्ञता के पाश में आवद्ध कर लिया था।

इसके अतिरिक्त निन्दा के सम्बन्ध में बंकिमचन्द्र की एक बात मैं जानता हूँ। दीनबन्धु मित्र की मृत्यु के बाद बंकिमचन्द्र ने उनके बारे में एक छोटा निबन्ध लिखा था। उस निबन्ध में निन्दा और यश के बारे में एक अनुच्छेद था। पाठकों के लिए उसे जानना आवश्यक है। उन्होंने उसमें लिखा था—"जहाँ यश है, वहीं निन्दा भी है, संसार का यही नियम है। संसार में जो यशस्वी हुए हैं वे ही सम्प्रदायविशेष द्वारा निंदित भी हुए हैं। इसके अनेक कारण हैं। पहला, मनुष्य दोष-रहित नहीं जनमता। जो बहुत गुणों से मंडित हैं, उनके सब दोष गुण-सान्निध्य के कारण कुछ अधिक उजागर हो उठते हैं, अतः लोग उनके गुणगान में प्रवृत्त हो जाते हैं। दूसरे, गुण के साथ दोष का चिर विरोध है, अतः दोषयुक्त व्यक्ति गुणशाली व्यक्तियों के शत्रु हो जाते हैं। तीसरे, कर्मक्षेत्र में प्रवृत्त होने से कार्य की गति से अनेक शत्रु उत्पन्न हो जाते हैं। शत्रुगण अन्य प्रकार से शत्रुता साधने में असमर्थ होने पर निन्दा द्वारा शत्रुता साधते हैं।

मुझे विश्वास है

चौथे, अनेक मनुष्यों का स्वभाव ही ऐसा होता है कि वे प्रशंसा की अपेक्षा निन्दा करना और सुनना ही पसन्द करते हैं। साधारण व्यक्ति की निन्दा की अपेक्षा यशस्वी व्यक्ति की निन्दा वक्ता और श्रोता के लिए सुखदायक होती है। पाँचवें, ईर्ष्या मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है। अनेक व्यक्ति दूसरे के यश से अत्यन्त कातर होकर यशस्वी की निन्दा करने में प्रवृत्त हो जाते हैं। इसी श्रेणी के निन्दक अधिक हैं, विशेषकर बंगाल में।"

यह जानने के बाद मुझे और कौन-सा दुःख हो सकता है?

उस दिन एक निरपेक्ष पाठक ने मेरे पास आकर पूछा, मेरे विरुद्ध जो सब अभियोग लगाये जा रहे हैं, मैं उनका कोई भी उत्तर क्यों नहीं देता हूँ। मैंने उसे डा० सैमुअल जानसन की एक प्रसिद्ध उक्ति का स्मरण दिला दिया था। सैमुअल जानसन ने एक बार कहा था : Every man has a right to say what he thinks truth—and every other man has a right to knock him down for it[1]

किन्तु प्रशंसा? प्रशंसा भी क्या मुझे मिली नहीं है? हाँ, अवश्य मिली है और यथेष्ठ परिमाण मे मिली है। किन्तु प्रशंसा-स्तुति की बात यहाँ अवान्तर प्रसंग है। क्योंकि प्रशंसा-स्तुति आदि आत्म-सन्तोष देती है। वह लेखक के लिए मृत्यु-तुल्य है। उसके पथ मे बाधा तुल्य है। मनु ने भी तो कहा है : सम्मान को विष समझो, अपमान को अमृत।" अतः उस प्रसंग को छोड़ता हूँ। यहाँ इस प्रसंग मे एक छोटी घटना का उल्लेख करता हूँ।

मुझे स्मरण है, इसके कुछ समय बाद आपने एक दिन किसी आवश्यक कार्य से मुझे अपने कार्यालय में बुलाया। मुझे तब भी ज्ञात नहीं था कि वह कौन-सा आवश्यक कार्य है जिसके लिए मुझे सशरीर आपके कार्यालय मे उपस्थित भी होना होगा।

मेरे पहुँचते ही आपने एक निबन्ध की पाण्डुलिपि मुझे दिखाई। यह पाण्डुलिपि *बारह पृष्ठों से अधिक की ही रही होगी। निबन्ध लेखिका और कोई नहीं, स्वयं,* श्रीमती इन्दिरादेवी चौधुरानी थीं।

आपने कहा, निबन्ध आपकी 'देश' पत्रिका मे प्रकाशित कराने के लिए भेजा गया है। इन्दिरादेवी चौधुरानी के चौरासीवें वर्ष मे पदार्पण करने के उपलक्ष्य मे शान्ति निकेतन में जिस स्वागत-समारोह का आयोजन हुआ था, उसमें बहुत से विख्यात विद्वानों की उपस्थिति में यह निबन्ध पढ़ा गया था। निबन्ध की विषयवस्तु और कुछ नही, मेरा वह दूसरा उपन्यास ही था।

मैं यह सुन कर अवाक् हो गया।

आपने कहा, "पूरा निबन्ध पढ़ने की आवश्यकता नहीं, आप केवल इसकी अन्तिम पंक्ति पढ लें।"

यह कह कर निबन्ध का केवल अन्तिम पृष्ठ आपने मेरी ओर बढ़ा दिया। देखा,

---

१. प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार है कि जिसे वह सच्चाई समझे उसे व्यक्त करें और प्रत्येक दूसरे व्यक्ति को यह अधिकार है कि इसके लिए उसे पराजित करे

लंबे निबन्ध की अन्तिम पंक्ति मे लिखा है : "मुझे लगता है कि लेखक को इस ग्रन्थ पर नोबेल पुरस्कार दिया जाना उचित है।"

याद है, उस दिन कुछ क्षणों तक मेरे मुंह से एक शब्द भी न निकला। मेरा कलेजा कांपने लगा था। मैं लेखिका को पहचानता नहीं था। उन्हें कभी देखा भी न था, यहाँ तक कि उनसे मेरा पत्राचार भी न था। मैं शान्तिनिकेतन का प्राचीन छात्र भी नहीं था कि मेरे लिए उनके हृदय मे अनुकंपा मिश्रित सहानुभूति जगती। मैंने अच्छा लिखा है या बुरा लिखा है, प्रश्न यह नहीं था। एक निरपेक्ष उच्च शिक्षिता महिला एवं शान्तिनिकेतन की उपाचार्या से अयाचित एवं अप्रत्याशित यह प्रशंसा मेरे जैसे साधारण लेखक के लिए अकल्पनीय थी। किन्तु चाहे जितनी अकल्पनीय हो, साथ-साथ हानिकारक भी तो है। जीवन मे मेरे सामने और भी अनेक रास्ते बाकी पड़े हैं। इस यात्रा के आरम्भ से ही यदि इस प्रकार की प्रशंसा प्राप्त होती है तो यह मेरे संग्राम मे विघ्न उत्पन्न करेगी, उससे भी मैं रुक जाऊँगा। इससे मुझे अहंकार हो जायेगा। अहं ही तो संसार मे सबसे बड़ा चोर है, वह स्वयं भगवान् की वस्तु का भी अपनी कहने मे कुण्ठा का अनुभव नहीं करता—यह बात तो स्वयं रवीन्द्रनाथ ही कह गये हैं।

मैंने कहा, "क्या मेरी एक बात मानेंगे? आप दया करके इसे प्रकाशित न करें। इस समय जिस प्रकार की निन्दा, लाञ्छन, दोषारोपण चल रहा है, इसे छापिएगा, तो वह सब बन्द हो जायेगा।"

उस दिन आपने मेरा अनुरोध मान लिया था। उस निबन्ध को आपने अपनी पत्रिका मे नहीं छापा था। छापने से हो सकता है, बाद मे मैंने जो सब उपन्यास लिखे, सम्भवतः वे न लिख पाता। मेरी लेखनी उसी दिन रुक जाती। हो सकता है उससे लेखक के रूप मे उसी दिन मेरी मृत्यु हो जाती।

उत्सुक पाठकों के सूचनार्थ बता दूँ कि इस घटना के बहुत दिनों बाद, लगभग दो दशक पश्चात् आप ही के अनुरोध पर मैंने इन्दिरादेवी चौधुरानी की उस अन्तिम अप्रकाशित रचना को 'साहब बीबी गुलाम' के साम्प्रतिक संस्करण के प्रथम फर्मे मे भूमिका के रूप मे सन्निविष्ट कर दिया है।

किन्तु जो हो, इसके बाद मेरी पुस्तक की बिक्री जितनी बढ़ने लगी, निन्दा, लांछन और दोषारोपण की मात्रा भी उससे कहीं अधिक बढ़ने लगी। ऐसी ही स्थिति मे अंग्रेज लेखक टामस हार्डी ने लिखना छोड़ दिया था, शहर त्याग कर सुदूर ग्राम मे जाकर निर्वासित जीवन व्यतीत करते थे। मृत्यु के अन्तिम दिन तक, तीस बरसों मे उन्होंने कविता के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं लिखा था। निश्चय किया, मैं भी यही करूँगा। मैं स्वेच्छा से निर्वासन-दण्ड को शिरोधार्य कर कहीं दूर जाकर अज्ञातवास में जीवन बिताऊँगा। उस समय कई बंगाली लेखक अनुवादक-कार्य का भार ले रूस जा रहे थे। मेरे मित्र ननी भौमिक, फल्गु कर इत्यादि से सूचना मिलने पर सोचा, मैं भी उनके साथ हो लूं। आत्मगोपन का ऐसा स्वर्णयोग सम्भवतः मेरे जीवन में दोबारा नहीं

आयेगा। एक दिन अपना यह विचार आपको बताते ही आपने इसका तीव्र विरोध किया। आपने ही उस दिन कहा था, "आप क्यों जाएँगे ? आपके चले जाने पर उपन्यास के आगे के खण्डों को कौन लिखेगा ?"

मैंने कहा था, "इतनी निन्दा और दोषारोपण के बाद भी आप मुझे लिखने को कहते हैं ? मैं क्या और लिख पाऊँगा ?"

स्वामी विवेकानन्द को मैं अत्यन्त दृढ़प्रतिज्ञ व्यक्ति के रूप में ही जानता, परन्तु देखा है, उन्होंने अपने पत्रों मे लिखा है कि वे बहुत हो भाव-प्रवण प्रकृति के पुरुष हैं। एक क्षण वे आनन्द से उल्लसित होकर आकाश मे उड़ने लगते थे और ठीक उसके दूसरे ही क्षण निराशा के पाताल में डूबने लगते थे। संसार मे जिन्होंने कुछ महान् कार्य किया है वे ही अधिक मात्रा मे भावप्रवण रहे हैं। स्वामी विवेकानन्द की बात अलग है। लेकिन अपने जैसे साधारण गृहस्थों में इस प्रकार के अनेक भावप्रवण मनुष्य। को देखा है जिन्होंने झोंक मे आकर अपना सर्वनाश कर लिया है। फिर ऐसे भी मनुष्यों को देखा है जो देश और जनता के लिए प्राण विसर्जन कर प्रातःस्मरणीय भी हो गये हैं। रजक-कन्या के मुँह से 'बेला ढल रही है' आह्वान सुनकर कोटिपति लाला बाबू के संसार-त्याग करने की कहानी तो बहुविदित है।

मैं भी उसी प्रकार का एक अति साधारण भावप्रवण मनुष्य हूँ। अति साधारण होने पर भी दासता की शृंखला मेरी विशेष मर्म-पीड़ा का कारण बनकर मुझे जितना व्याकुल कर देती थी, सोचने पर देखा है कि उसके अनेक कारण हैं। कर्मस्थान के बड़े अधिकारियों के घर-घर उनकी गृहणियों द्वारा आयोजित चाय-पार्टी के निमत्रणो को स्वीकार करना भी मेरा एक अवश्य पालनीय अन्यतम कर्तव्य है, ऐसा वे लोग सोचा करती थीं। चूँकि मैं उनके पतियों का अधीनस्थ कर्मचारी था अत. चाहे प्रत्यक्ष न हो, परन्तु परोक्ष रूप मे उनकी गृहणियाँ भी मेरी स्वामिनी थीं। मेरी लेखक-सत्ता और मेरी दास-सत्ता का एकीकरण करके वे मन ही मन प्रभुत्व-विस्तार के कृतित्व मे एक पैशाचिक आनन्द पाती थीं। उससे कर्मस्थल मे पदोन्नति का भरोसा पाकर मेरी दास-सत्ता जितनी प्रसन्न होती थी उससे उसी प्रकार मेरी लेखक-सत्ता उतनी ही विरक्त होती थी। परन्तु मैं सदा अपनी लेखक सत्ता को प्रतिष्ठा और प्रभाव से घृणा करता था। मैंने विश्लेषण करके देखा है कि मेरी अपनी मानसिकता के भीतर ही सर्वदा एक स्वविरोधी भाव विद्यमान रहता है। मेरे मन की गहराई मे, मेरे 'सेल्फ' के आसपास ही और एक 'एन्टी-सेल्फ' बराबर क्रियाशील रहता है। उनमें से यदि एक कहता है कि यह संसार माया है तो दूसरा साथ ही साथ कहता है, यह संसार स्वर्ग है। एक यदि कहता है कि यह अर्थ अनर्थ है तो दूसरा कहता है अर्थ आशीर्वाद है। जीवन-भर इन दो परस्पर विरोधी सत्ताओं ने मेरे जीवन मे अनेक अनर्थों की सृष्टि की है। सन्देह, भय, आनन्द, प्रयोजन, प्रीति प्रभृति प्रवृत्तियो ने जिस प्रकार मुझे अनेक बार पथभ्रष्ट किया है, उसी प्रकार नवीन मार्ग भी दिखाया है। एक ग्रीक कहावत है :

लंबे निबन्ध की अन्तिम पंक्ति में लिखा है : "मुझे लगता है कि लेखक को इस ग्रन्थ पर नोबेल पुरस्कार दिया जाना उचित है।"

याद है, उस दिन कुछ क्षणों तक मेरे मुँह से एक शब्द भी न निकला। मेरा कलेजा काँपने लगा था। मैं लेखिका को पहचानता नहीं था। उन्हें कभी देखा भी न था, यहाँ तक कि उनसे मेरा पत्राचार भी न था। मैं शान्तिनिकेतन का प्राचीन छात्र भी नहीं था कि मेरे लिए उनके हृदय में अनुकंपा मिश्रित सहानुभूति जगती। मैंने अच्छा लिखा है या बुरा लिखा है, प्रश्न यह नहीं था। एक निरपेक्ष उच्च शिक्षिता महिला एवं शान्तिनिकेतन की उपाचार्या से अयाचित एवं अप्रत्याशित यह प्रशंसा मेरे जैसे साधारण लेखक के लिए अकल्पनीय थी। किन्तु चाहे जितनी अकल्पनीय हो, साथ-साथ हानिकारक भी तो है। जीवन में मेरे सामने और भी अनेक रास्ते बाकी पड़े हैं। इस यात्रा के आरम्भ से ही यदि इस प्रकार की प्रशंसा प्राप्त होती है तो यह मेरे संग्राम में विघ्न उत्पन्न करेगी, उससे भी मैं रुक जाऊँगा। इससे मुझे अहंकार हो जायेगा। अहं ही तो संसार में सबसे बड़ा चोर है, वह स्वयं भगवान् की वस्तु का भी अपनी कहने में कुण्ठा का अनुभव नहीं करता—यह बात तो स्वयं रवीन्द्रनाथ ही कह गये हैं।

मैंने कहा, "क्या मेरी एक बात मानेंगे? आप दया करके इसे प्रकाशित न करें। इस समय जिस प्रकार की निन्दा, लाछन, दोपारोपण चल रहा है, इसे छापिएगा, तो वह सब बन्द हो जायेगा।"

उस दिन आपने मेरा अनुरोध मान लिया था। उस निबन्ध को आपने अपनी पत्रिका में नहीं छापा था। छापने से हो सकता है, बाद में मैंने जो सब उपन्यास लिखे, सम्भवत: वे न लिख पाता। मेरी लेखनी उसी दिन रुक जाती। हो सकता है उससे लेखक के रूप में उसी दिन मेरी मृत्यु हो जाती।

उत्सुक पाठकों के सूचनार्थ बता दूँ कि इस घटना के बहुत दिनों बाद, लगभग दो दशक पश्चात्, आप ही के अनुरोध पर मैंने इन्दिरादेवी चौधुरानी की उस अन्तिम अप्रकाशित रचना को 'साहब बीबी गुलाम' के साम्प्रतिक संस्करण के प्रथम फर्मे में भूमिका के रूप में सन्निविष्ट कर दिया है।

किन्तु जो हो, इसके बाद मेरी पुस्तक की बिक्री जितनी बढ़ने लगी, निन्दा, लाछन और दोपारोपण की मात्रा भी उससे कहीं अधिक बढ़ने लगी। ऐसी ही स्थिति में अंग्रेज लेखक टामस हार्डी ने लिखना छोड़ दिया था, शहर त्याग कर सुदूर ग्राम में जाकर निर्वासित जीवन व्यतीत करते थे। मृत्यु के अन्तिम दिन तक, तीस बरसों में उन्होंने कविता के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं लिखा था। निश्चय किया, मैं भी यही करूँगा। मैं स्वेच्छा से निर्वासन-दण्ड को शिरोधार्य कर कहीं दूर जाकर अज्ञातवास में जीवन बिताऊँगा। उस समय कई बंगाली लेखक अनुवादक-कार्य का भार ले रूस जा रहे थे। मेरे मित्र ननी भौमिक, फल्गु कर इत्यादि से सूचना मिलने पर सोचा, मैं भी उनके साथ हो लूँ। आत्मगोपन का ऐसा स्वर्णयोग सम्भवतः मेरे जीवन में दोबारा नहीं

मुझे विश्वास है

आयेगा। एक दिन अपना यह विचार आपको बताते ही आपने इसका तीव्र विरोध किया। आपने ही उस दिन कहा था, "आप क्यों जाएँगे ? आपके चले जाने पर उपन्यास के आगे के खण्डों को कौन लिखेगा ?"

मैंने कहा था, "इतनी निन्दा और दोषारोपण के बाद भी आप मुझे लिखने को कहते हैं ? मैं क्या और लिख पाऊँगा ?"

स्वामी विवेकानन्द को मैं अत्यन्त दृढ़प्रतिज्ञ व्यक्ति के रूप में ही जानता, परन्तु देखा है, उन्होंने अपने पत्रों मे लिखा है कि वे बहुत ही भाव-प्रवण प्रकृति के पुरुष हैं। एक क्षण वे आनन्द से उल्लसित होकर आकाश मे उड़ने लगते थे और ठीक उसके दूसरे ही क्षण निराशा के पाताल में डूबने लगते थे। संसार मे जिन्होंने कुछ महान् कार्य किया है वे ही अधिक मात्रा में भावप्रवण रहे हैं। स्वामी विवेकानन्द की बात अलग है। लेकिन अपने जैसे साधारण गृहस्थों में इस प्रकार के अनेक भावप्रवण मनुष्य। को देखा है जिन्होंने क्षोक में आकर अपना सर्वनाश कर लिया है। फिर ऐसे भी मनुष्यों को देखा है जो देश और जनता के लिए प्राण विसर्जन कर प्रातःस्मरणीय भी हो गये हैं। रजक-कन्या के मुंह से 'वेला ढल रही है' आह्वान सुनकर कोटिपति लाला बाबू के संसार-त्याग करने की कहानी तो बहुविदित है।

मैं भी उसी प्रकार का एक अति साधारण भावप्रवण मनुष्य हूँ। अति साधारण होने पर भी दासता की शृंखला मेरी विशेष मर्म-पीड़ा का कारण बनकर मुझे कितना व्याकुल कर देती थी, सोचने पर देखा है कि उसके अनेक कारण हैं। कर्मस्थान के बड़े अधिकारियों के घर-घर उनकी गृहणियो द्वारा आयोजित चाय-पार्टी के निमत्रणों को स्वीकार करना भी मेरा एक अवश्य पालनीय अन्यतम कर्तव्य है, ऐसा वे लोग सोचा करती थीं। चूंकि मैं उनके पतियों का अधीनस्थ कर्मचारी था अतः चाहे प्रत्यक्ष न हों, परन्तु परोक्ष रूप मे उनकी गृहणियाँ भी मेरी स्वामिनी थीं। मेरी लेखक-सत्ता और मेरी दास-सत्ता का एकीकरण करके वे मन ही मन प्रभुत्व-विस्तार के कृतित्व मे एक पैशाचिक आनन्द पाती थीं। उससे कर्मस्थल में पदोन्नति का भरोसा पाकर मेरी दास-सत्ता जितनी प्रसन्न होती थी उससे उसी प्रकार मेरी लेखक-सत्ता उतनी ही विरक्त होती थी। परन्तु मैं सदा अपनी लेखक सत्ता को प्रतिष्ठा और प्रभाव से घृणा करता था। मैंने विश्लेषण करके देखा है कि मेरी अपनी मानसिकता के भीतर ही सर्वदा एक स्वविरोधी भाव विद्यमान रहता है। मेरे मन की गहराई मे, मेरे 'सेल्फ' के आसपास ही और एक 'एन्टी-सेल्फ' बराबर क्रियाशील रहता है। उनमें से यदि एक कहता है कि यह संसार माया है तो दूसरा साथ ही साथ कहता है, यह संसार स्वर्ग है। एक यदि कहता है कि यह अर्थ अनर्थ है तो दूसरा कहता है अर्थ आशीर्वाद है। जीवन-भर इन दो परस्पर विरोधी सत्ताओं ने मेरे जीवन मे अनेक अनर्थों की सृष्टि की है। सन्देह, भय, आनन्द, प्रयोजन, प्रीति प्रभृति प्रवृत्तियों ने जिस प्रकार मुझे अनेक बार पथभ्रष्ट किया है, उसी प्रकार नवीन मार्ग भी दिखाया है। एक ग्रीक कहावत है :

'Call no man happy until he is dead'[1] श्रीयुत् नीरद सी० चौधरी ने अपनी 'द इनटिलेक्ट्युल इन इंडिया' नामक ग्रन्थ मे इसकी व्याख्या यों की है : Don't say 'that any one has survived until he is dead'[2] अतः मैंने जीवन मे क्या किया है, क्या नहीं किया है, उसका विचार मेरे जीवन-काल मे न होना ही मैं वांछनीय समझता हूँ।

जो लोग मेरी रचना के आलोचक हैं उनके सूचनार्थ ही यहाँ इस बात का उल्लेख कर दूँ कि मैं स्वयं अपनी रचना का सबसे बड़ा निर्मम समालोचक हूँ। किन्तु मुझसे भी अधिक निर्मम एवं अधिक निरपेक्ष एक समालोचक मेरे घर मे ही है। पुस्तक लिखने से ही जैसे कोई लेखक सूची मे नहीं आ जाता उसी प्रकार पुस्तक पढ़ने से ही कोई पाठक भी नहीं हो जाता। मैं जिसके बारे मे कह रहा हूँ उसमे साहित्य-विवेचन का बोध सहजात है। उनके पास-मार्क देने से ही मैं पास होता हूँ एवं फेल बोलने से 'फेल' हो जाता हूँ। लेकिन उसकी प्रतिमा का परिचय किसी को कभी नहीं मिलेगा और न कोई कभी उसका वास्तविक परिचय जान पायेगा। वह चिर दिन ओट में ही रह जायेगी। और मैं समझता हूँ, मेरी परिचर्या और मेरे सन्तोष-साधन करने में ही उसका जीवन समाप्त हो जाय, इसीलिए उसकी सृष्टि हुई है। और वह मेरी पत्नी है। एक दिन उससे एक काम की अनुमति लेने का प्रयोजन मेरे लिए आवश्यक हो गया।

आज से लगभग पचीस वर्ष पूर्व एक दिन प्रातःकाल सो कर उठते ही मैंने उसे अपने सिद्धान्त से अवगत कराकर निश्चिन्त हो गया। उसे बताया कि मैं आज से ही स्वतन्त्र होना चाहता हूँ। तभी वह सिद्धान्त उसकी अनुमति पर निर्भर करता है। उसका भी एक कारण था और वह यह कि यौवन मे विवाह के बाजार-मूल्य के हिसाब से मेरे जैसे पात्र के मात्र दो प्रत्यक्ष गुण थे। उनमे से एक यह था कि कलकत्ते के नगर-पालिका-अंचल मे हमारा एक छोटा सा पक्का दोमंजिला पैतृक मकान था और दूसरा गुण यह था कि मैं केन्द्रीय सरकार की एक उन्नतिशील स्थायी नौकरी मे था। मकान तो पहले ही छोड़ चुका था। अब मैं दूसरे को भी छोड़ना चाहता था। चूंकि उसके पितृ-मातृकूल के सभी व्यक्ति गत हो चुके थे, ऐसी स्थिति मे उसकी अनुमति बिना इसका त्याग नहीं कर सकता था। लेकिन जब उसकी अनुमति भी एक ही बात मे मिल गयी तब किसी भी ओर से कोई दुविधा या कोई बाधा न रही। मैं एक ही क्षण मे उसी दिन और उसी प्रातःकाल के उस शुभ मुहूर्त से ही स्वतन्त्र लेखक हो गया। सैमुअल बटलर ने जिस स्वतन्त्रता की चर्चा की है, मैंने उसी क्षण से वही स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली।

और तभी मैंने सोचा कि यदि जीना है तो मैं लिखकर ही जीवित रहूँगा और मरना है तो मैं लिखकर ही मरूँगा। उसी समय निश्चय कर लिया कि स्थायी लेखक अथवा पेशेवर लेखक होने के लिए मुझे जीवन मे चार नियमों का कठोरता से पालन

---

१. किसी मनुष्य को तब तक सुखी न कहो जब तक कि उसकी मृत्यु न हो जाए।
२. जब तक किसी की मृत्यु न हो जाय तब तक यह मत कहो कि वह जिया है।

करना ही होगा। वे हैं—

(१) गृहस्थी में वास करने पर भी संयमी होकर निरासक्त मे जीवन-यापन।
(२) सभा-समिति के आक्रमण से यथासम्भव आत्मरक्षा।
(३) सम्मान जहाँ लोभनीय हो वहाँ से दूर रहना।
(४) निरलस परिश्रम।

किन्तु हाय रे भाग्य, उस समय क्या जानता था कि भ्रष्टाचार निरोधक पदाधिकारी के रूप मे मैं जिस प्रकार असफल रहा, भ्रष्टाचार निरोधक पदाधिकारी होने पर भी मैं जिस प्रकार देश का कोई भी उपकार नहीं कर सका, उसी प्रकार एक दिन लेखक के रूप मे भी असफल हो जाऊँगा? लेखक के रूप मे भी मैं मनुष्य, समाज या साहित्य का कोई भी उपकार नहीं कर सकूँगा। अन्यथा इतने आदमियों के रहते हुए मेरा नाम चुरा कर ही बाजार मे इतनी जाली पुस्तकों को चालू करने का कारोबार क्यों होता? प्रायः तीन सौ उपन्यास जो बाजार में विमल मित्र के नाम से युक्त होकर बिक रहे हैं, उनसे क्या यह प्रमाणित नहीं होता कि मेरा पैतृक नाम तक भी मुनाफे की दृष्टि से लाभदायक है? या फिर सम्भवतः रवीन्द्रनाथ के शब्दों मे "यह मेरी ख्याति के परिमाप का एक बड़ा मानदण्ड है।" अपनी यातना और वेदना की बात पहले ही बता चुका हूँ। ज्ञान होते ही वेदना मेरी संगिनी रही है। अत. मैं विश्वास करता हूँ कि जब तक मुझमे ज्ञान रहेगा तब तक मेरी यातना-वेदना भी रहेगी ही।

लेकिन सुख? सुख भी क्या नहीं पाया?

अवश्य पाया है। अपार सुख भी पाया है। उस सुख की बात न कहने से मेरे उस विश्वास की बात अधूरी रह जायेगी। मैंने उस्ताद अब्दुल करीम खां और उस्ताद फैयाज खां के सामने बैठकर शास्त्रीय संगीत सुनकर सुख पाया है। रविशंकर का सितार और बिस्मिल्ला खां साहब की शहनाई सुनकर सुख पाया है। सहगल की पंजाबी तफरीक दी हुई गजल और हरिपद चट्टोपाध्याय का रवीन्द्र संगीत सुन कर सुख पाया है। प्रेम भट्टाचार्य के तबले की संगत के साथ शचीन देव वर्मन द्वारा गाया गया और अजय भट्टाचार्य का लिखा 'आमि छिनु एका वासर जागाये' गीत सुनकर सुख पाया है। और सुख पाया है पन्ना घोष की बाँसुरी से, पीलू बरवा की आलाप-तान-लय युक्त ठुमरी सुनकर। इससे और अधिक सुख धरती पर है ही क्या? 'शुक्ल पक्ष से रजनी गंधा का वृन्त लाकर जो कृष्ण पक्ष की रात को सजा सके 'वही एकमात्र सुखी है'—सुख के सम्बन्ध मे रवीन्द्रनाथ की इस व्याख्या को मैंने मन-प्राणों से मानने की चेष्टा की है। लिखते-लिखते जब कलम अचानक रुक जाती थी, यन्त्रणा और वेदना से जब सिर के बालों को उखाड़ फेंकने की इच्छा होती थी, अपनी लिखी कहानी के जटिल जाल में फँस कर जब प्राणपन से मुक्ति के पथ को खोजता था, कहानी मे रचित पात्रों की प्रेतात्माएँ जब मेरा पीछा करते हुए आधीरात मे मेरी निन्द्रा हर लेती थीं और जिसके फलस्वरूप जब अत्यन्त प्रियजनों को भी अकारण प्रिय बातें कह देता था—अर्थात् जब मेरे चतुर्दिक यह सुन्दर पृथ्वी भी मेरी आँखों की किरकिरी बन जाती थी, उस

मुझे विश्वास है

समय उस्ताद अब्दुल करीम खा, उस्ताद फैयाज खा, रविशंकर, बिस्मिल्ला खां साहब, हरिपद चट्टोपाध्याय, शचीनदेव वर्मन और पन्ना घोष के सामने बैठकर संगीत-वाद्य सुने, उन सब दिनों की बात का स्मरण कर सुख पाया है। कभी भैरवी के वे कोमल निषाद, भूपाली के विशुद्ध गांधार, मालकोश के वे मध्यम और ईमन-कल्याण के वे कड़ी मध्यम हमीर तथा हम्बीर के वे एक सुष्ठु धैवत के अनाविल समुद्र में अवगाहन करके भी मैंने सुख पाया है। मुझ मे गायन की क्षमता नहीं है, वह रहे या न रहे। गायन सुनना मुझे अच्छा लगता है। गायन सुनकर ही तो मैं ब्रह्म स्वाद पाता हूँ। और ब्रह्म स्वाद ही तो सुख का चरम स्तर है। वह सुख अवाङ्मनसोगोचर (वाणी और मन के परे) है।

सैमुअल बटलर के शब्दों से ही इस रचना को प्रारम्भ किया था कि Independence is essential to permanent but fatal to immediate success मैंने उसका प्रारम्भिक अश ही कहा था किन्तु अब अन्तिम अंश कह रहा हूँ। १९०२ ई० में उनकी मृत्यु तो हो गयी किन्तु उनकी अपने सम्बन्ध मे की गयी भविष्यवाणी १९३१ ई० मे सफल हुई, जब एकाएक उनकी रचनावली पर बर्नार्ड शा की दृष्टि पड़ते ही बर्नार्ड शा ने उसके सम्बन्ध मे एक बहुत लम्बा निबन्ध लिखा और उस निबन्ध के प्रकाशित होते ही सैमुअल बटलर की समस्त रचनाओं के, जिनकी उनके जीवन-काल मे एक प्रति भी नहीं बिकती थी, सस्करण पर सस्करण समाप्त होने लगे। उनके सम्बन्ध मे असख्य समालोचना-ग्रन्थ लिखे जाने लगे। उसी समय से उन पर जो शोध होने लगी वह कभी रुकी नहीं। आज भी उसके सम्बन्ध मे शोध ग्रन्थ लिखे जा रहे हैं। स्वय बर्नार्ड शा के गुरु स्थानीय के रूप मे उन्हें प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। अंग्रेजी भाषा मे 'वन हड्रेड क्लासिक्स' नामक जो ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है उसमे उनके 'द वे आफ आल फ्लेश' उपन्यास को सम्मिलित होने का गौरव प्राप्त हुआ है।

आपने लिखा था, "जिस उपन्यास ने पहले-पहल पाठकों के ससार मे प्रभूत हलचल पैदा कर दी थी, उसी उपन्यास के निर्माण एव प्रकाशन के नेपथ्य की कहानी आज के उत्सुक पाठकों के लिए सविस्तार कहने के लिए अनुरोध कर रहा हूँ।"

मैं समझता हूँ कि सम्भवतः विस्तार के साथ ही कह सका हूँ। आपका अन्तिम प्रश्न है : मेरी अब तक की रचनाओं मे कौन-सी श्रेष्ठ है ? इस प्रश्न का मैं क्या उत्तर दूँ ? जिस प्रेत ने मेरे जैसे एक अलस-कर्मविमुख व्यक्ति से एक ही आँख की सहायता से इतनी मोटी-मोटी पुस्तकें लिखवायी हैं, मुझे इतना बेगार खटाया है, यदि उसको किसी दिन कहीं भी किसी भी प्रकार खोज पाऊँ तो उससे जिज्ञासा करने पर सम्भव है, वह इस प्रश्न का उत्तर दे पाये। मैं कोई नहीं हूँ। मुझे विश्वास है, मैं केवल कारक हूँ, कर्ता तो वह भूत ही है।

और एक बात !

उस ब्रह्म स्वाद की चर्चा करने के कारण मुझे ब्रह्म सगीत की बात भी याद आ गयी। आज से प्रायः चालीस वर्ष पूर्व एक दिन सन्ध्या वेला में उसी तेरह नंबर

कर्नवालिस स्ट्रीट के मकान से घर लौटने के विचार से बाहर निकला। अकस्मात् सामने ब्रह्म समाज मन्दिर के बाहर देखा, अनेक गाड़ियाँ खड़ी हैं, कितने ही लोग आ-जा रहे हैं। सोचा, वहाँ माघोत्सव का आयोजन चल रहा है। न जाने किस भाव में मैं भी मन्दिर मे चला गया। किन्तु भाग्य से ही उस दिन मैं उस मन्दिर के भीतर चला गया था। उस समय वहाँ ब्रह्म संगीत हो रहा था—

मेरा विचार करो तुम स्वय मुझे अपना बना कर
दिन का कर्म ले आया हूँ तुम्हारे विचार-घर मे।
यदि पूजा करूँ मिथ्या-देवता की
शीश पर धारण करूँ यदि मिथ्या-आचार
पापी मन से यदि करूँ अविचार किसी पर
मेरा विचार करो तुम स्वय मुझे अपना बना कर।
लोभवश यदि किसी को दिया हो दुःख
भय से यदि हुआ हूँ धर्म-विमुख
परायी पीड़ा से यदि मिला हो क्षण-भर भी सुख
मेरा विचार करो स्वय तुम मुझे अपना बना कर।

वह चालीस वर्ष पहले की बात आज इतने दिनों बाद स्मरण होने का एक संगत कारण भी है। आज मेरा भी दिन का कार्य समाप्ति पर आ गया है। मेरे लिए भी शेष स्वीकारोक्ति करने का लग्न आ गया है। आज मैं भी अपने दिन का कर्म-सभार लेकर तुमको निवेदित करने आया हूँ। मैं भी विचार के लिए तुमसे प्रार्थना कर रहा हूँ। यदि मैंने कभी प्रेम की अपेक्षा प्रयोजन को ही अधिक महत्व दिया हो, कभी चिर-काल की अपेक्षा क्षण काल को ही अधिक प्रश्रय दिया हो, कभी शारीरिक थकावट के कारण कभी कर्तव्य के पथ से हटा होऊँ, कभी परमार्थ की उपेक्षा कर अर्थ को ही प्राधान्य देकर साहित्य को बाजारू माल बनाया हो, कभी साहित्य के निमित्त जीवन का सब कुछ अर्पित करने के मामले मे भक्ति के स्थान पर बाहरी दुनिया के दबाव पर उससे समझौता कर जीने की चेष्टा की हो, कभी साहित्य का कार्य-सिद्धि के उपकरण के रूप में उपयोग किया हो अथवा पराये की अख्याति से यदि कभी मेरे मन के कोने को बूंद भर भी तृप्ति मिली हो तो तुम मुझे क्षमा मत करो, तुम मेरा विचार करो। तुमसे क्षमा माँगने का मुझे अधिकार नही है। मैं तुम्हारे पास केवल विचार का प्रार्थी हूँ। तुम्हारे विचार की निःसकोच निरपेक्षता पर मैं मन-प्राणो से विश्वास करता हूँ।

२७ मार्च, १९७५। फाल्गुन पूर्णिमा

•

समय उस्ताद अब्दुल करीम खा, उस्ताद फैयाज खा, रविशंकर, विस्मिल्ला खां साहब, हरिपद चट्टोपाध्याय, शचीनदेव बर्मन और पन्ना घोष के सामने बैठकर संगीत-वाद्य सुने, उन सब दिनों की बात का स्मरण कर सुख पाया है। कभी भैरवी के वे कोमल निषाद, भूपाली के विशुद्ध गाधार, मालकोश के वे मध्यम और ईमन-कल्याण के वे कड़ी मध्यम हमीर तथा हम्वीर के वे एक सुष्ठु धैवत के अनाविल समुद्र मे अवगाहन करके भी मैंने सुख पाया है। मुझ मे गायन की क्षमता नही है, वह रहे या न रहे। गायन सुनना मुझे अच्छा लगता है। गायन सुनकर ही तो मैं ब्रह्म स्वाद पाता हूँ। और ब्रह्म स्वाद ही तो सुख का चरम स्तर है। वह सुख अवाङ्मनसोगोचर (वाणी और मन के परे) है।

सैमुअल बटलर के शब्दो से ही इस रचना को प्रारम्भ किया था कि Independence is essential to permanent but fatal to immediate success मैंने उसका प्रारम्भिक अश ही कहा था किन्तु अब अन्तिम अश कह रहा हूँ। १९०२ ई० मे उनकी मृत्यु तो हो गयी किन्तु उनकी अपने सम्बन्ध मे की गयी भविष्यवाणी १९३१ ई० मे सफल हुई, जब एकाएक उनकी रचनावली पर बर्नार्ड शा की दृष्टि पड़ते ही बर्नार्ड शा ने उसके सम्बन्ध मे एक बहुत लम्बा निबन्ध लिखा और उस निबन्ध के प्रकाशित होते ही सैमुअल बटलर की समस्त रचनाओं के, जिनकी उनके जीवन-काल मे एक प्रति भी नहीं बिकती थी, संस्करण पर सस्करण समाप्त होने लगे। उनके सम्बन्ध मे असख्य समालोचना-ग्रन्थ लिखे जाने लगे। उसी समय से उन पर जो शोध होने लगी वह कभी रुकी नहीं। आज भी उसके सम्बन्ध मे शोध ग्रन्थ लिखे जा रहे हैं। स्वय बर्नार्ड शा के गुरु स्थानीय के रूप मे उन्हें प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। अंग्रेजी भाषा मे 'वन हड्रेड क्लासिक्स' नामक जो ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है उसमे उनके 'द वे आफ आल फ्लेश' उपन्यास को सम्मिलित होने का गौरव प्राप्त हुआ है।

आपने लिखा था, "जिस उपन्यास ने पहले-पहल पाठको के ससार मे प्रभूत हलचल पैदा कर दी थी, उसी उपन्यास के निर्माण एव प्रकाशन के नेपथ्य की कहानी आज के उत्सुक पाठकों के लिए सविस्तार कहने के लिए अनुरोध कर रहा हूँ।"

मैं समझता हूँ कि सम्भवतः विस्तार के साथ ही कह सका हूँ। आपका अन्तिम प्रश्न है : मेरी अब तक की रचनाओं मे कौन-सी श्रेष्ठ है ? इस प्रश्न का मैं क्या उत्तर दूं ? जिस प्रेत ने मेरे जैसे एक अलस-कर्मविमुख व्यक्ति से एक ही आँख की सहायता से इतनी मोटी-मोटी पुस्तकें लिखवायी हैं, मुझे इतना बेगार खटाया है, यदि उसको किसी दिन कहीं भी किसी भी प्रकार खोज पाऊँ तो उससे जिज्ञासा करने पर सम्भव है, वह इस प्रश्न का उत्तर दे पाये। मैं कोई नहीं हूँ। मुझे विश्वास है, मैं केवल कारक हूँ, कर्त्ता तो वह भूत ही है।

और एक बात !

उस ब्रह्म स्वाद की चर्चा करने के कारण मुझे ब्रह्म सगीत की बात भी याद आ गयी। आज से प्रायः चालीस वर्ष पूर्व एक दिन सन्ध्या बेला मे उसी तेरह नंबर

बंगाल में साधारणतः जो लोग लेखकों की श्रेणी में आते हैं वे अधिकांश समय में किसी-न-किसी प्रतिष्ठान में नौकरी करते हैं। अवकाश के समय लिखते हैं। अवकाश के समय छात्रों को न पढ़ाकर उपार्जन के लिए कहानी-उपन्यास लिख कर ऊपरी आय का एक नया मार्ग खोज लेते हैं। इस श्रेणी के अधिकांश लेखक इस सम्बन्ध में निश्चिन्त रहते हैं कि उनकी रचना अच्छी हो या बुरी, उनकी रचना बिके या न बिके, उन्हें कुछ द्रव्य की प्राप्ति होगी ही और चूंकि वह ऊपरी आय है अतः फालतू आय है और उसकी राशि एवं मर्यादा की कोई चिन्ता नहीं करता।

अमरीका में भी किसी दिन ठीक यही स्थिति हो गयी थी। साहित्य के व्यवसाय को जीविका के रूप में स्वीकार कर गृहस्थी चलाना कितनी कठिन तपस्या है, इस सम्बन्ध में संसार के समस्त देशों के लेखकों को मर्मान्तिक अनुभव है। विशेषकर ग्रीन जैसे लोकप्रिय लेखक को भी जब एक साथ ग्यारह पुस्तक लिखने पर भी अर्थाभाव भोगना पड़ा है तब बंगाल जैसे दरिद्र अंचल के लेखकों की दुर्दशा की सहज ही कल्पना की जा सकती है। इस देश में लोकप्रियता के शिखर पर पहुँचने पर भी शरतचन्द्र को शेष जीवन में सिनेमा के पारिश्रमिक का आश्रय लेना पड़ा था।

शरतचन्द्र के एक अन्तरंग भक्त श्री अविनाश घोषाल की बात मुझे याद है।

अविनाश घोषाल तत्कालीन बहुप्रचारित सिनेमा साप्ताहिक 'वातायन' के संपादक थे। अपने विद्यार्थी-जीवन में मैंने 'वातायन' कार्यालय में कितने ही घंटे व्यतीत किये हैं, रचना छपवाने के लिए नहीं, बल्कि सायंकाल जब कार्यालय का काम-काज बन्द हो जाता और जब सभी चले जाते तब अविनाश घोषाल और मैं बैठे-बैठे गपशप किया करते थे। मैं उनके मुख से उस युग के साहित्यकारों की गपशप सुनता। मैं उन दिनों एक भावी साहित्यकार था। उन्हें अनेक विख्यात लेखकों से मिलने-जुलने का सुयोग प्राप्त हुआ था, जैसे, प्रमथ चौधरी, शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय।

शरतचन्द्र के बारे में ही बता रहा हूँ।

न्यू थियेटर्स कंपनी ने इन्हीं अविनाश घोषाल की मध्यस्थता में 'देवदास' उपन्यास फिल्म बनाने के लिए खरीदा था।

जिस दिन अनुबन्ध होने वाला था उसके पहले दिन अविनाश घोषाल शरतचन्द्र के घर गये थे।

शरतचन्द्र ने अविनाश घोषाल को देखकर पूछा, "क्या हुआ? कितना मूल्य निश्चित हुआ?"

अविनाश घोषाल ने कहा, 'सात हजार।"

सात हजार। उस दिन अविनाश घोषाल को जितना आश्चर्य हुआ उससे बढ़कर आश्चर्य हुआ शरतचन्द्र को। अप्रतिद्वन्द्वी कथा-साहित्यकार शरतचन्द्र के लिए कहानी के मूल्य के रूप में सात हजार रुपया मिलना एक अकल्पनीय घटना थी। शरतचन्द्र को एक साथ इतना रुपया पहले कभी नहीं मिला था। उस दिन शरतचन्द्र को सिनेमा से

साहित्य के अन्तराल में

[एक प्रख्यात पत्रिका के सम्पादक के तकाजे पर लिखा मेरे साहित्य के अन्तराल की अभिज्ञता, सिनेमा के सम्बन्ध में]

सन् उन्नीस सौ तीस की बात है। अमरीका में पुस्तकों का बाजार बहुत मन्दा था। उस समय लेखकों के लिए उपवास की स्थिति आ गयी थी। एक-एक लेखक पाण्डुलिपि लिए इधर-उधर मारे-मारे घूमते थे। एक के बाद एक प्रकाशक की दुकान पर जाकर और निराश होकर लौट आते थे।

प्रकाशक अच्छी तरह बात भी नहीं करते थे।

"एक पुस्तक छापिएगा ?"

प्रकाशक सिर उठाकर ऊब के साथ पूछते, "कौन-सी पुस्तक ?"

"एक उपन्यास। बहुत परिश्रम से लिखा है। आप छापकर देखिये, बहुत बिकेगा।"

बहुत दबाव डालने पर प्रकाशक कहता, "अच्छा, छोड़ जाइये, देखूंगा। छह महीने बाद आकर पता लगाइएगा।"

उस युद्ध पूर्व युग की यही स्थिति थी। उन दिनों संसार के बाजार में आग लग गयी थी। साहित्यकारों और कलाकारों की दुरावस्था चरमसीमा पर थी। चावल, दाल, मछली, मांस, लोहा, सीमेंट खरीदना ही पड़ता है, अतः खरीदते हैं। किन्तु पुस्तक कौन खरीदेगा ? किसको इतना सिर-दर्द है, विशेषकर कहानी और उपन्यास की पुस्तक के लिए।

उन दिनों ग्राहम ग्रीन नामक एक लेखक थे। वे अब भी जीवित हैं। अब पर्याप्त यश और धन कमा लिया है। उनके पास घर और गाड़ी हो गयी है, चारों ओर ख्याति फैल गयी है परन्तु बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक में उनकी स्थिति उपवास करने की हो गयी थी। उस समय वे अपनी जीवन-बीमा की किस्त भी नहीं दे पा रहे थे। उस समय बी० बी० सी० नहीं था। लेखकों के कल्याण के निमित्त कोई सरकारी व्यवस्था भी नहीं थी। घर में बैठे-बैठे उन्होंने एक-एक कर ग्यारह उपन्यास लिख डाले। पहली पुस्तक की पचीस सौ प्रतियाँ छापी गयी थीं। और जब उन्होंने ग्यारह पुस्तकों की रचना की तब प्रथम संस्करण की केवल तीन हजार प्रतियाँ छापी गयीं। उस समय वे सोचते थे कि गृहस्थी कैसे चलेगी। प्रति वर्ष लाटरी की टिकट खरीदते, यह सोचकर कि कहीं भाग्य के जोर से फालतू पैसा मिल जाये।

पत्र-पत्रिकाओं के समालोचकों की राय में ग्राहम ग्रीन 'बेस्ट सेलर' थे। किन्तु उससे क्या होगा ? 'बेस्ट सेलर' लेखक भी भूखा रहता था। ऐसी स्थिति में साधारण लेखकों की दुर्दशा की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती।

बंगाल मे साधारणतः जो लोग लेखकों की श्रेणी मे आते हैं वे अधिकांश समय मे किसी-न-किसी प्रतिष्ठान मे नौकरी करते हैं। अवकाश के समय लिखते हैं। अवकाश के समय छात्रों को न पढाकर उपार्जन के लिए कहानी-उपन्यास लिख कर ऊपरी आय का एक नया मार्ग खोज लेते हैं। इस श्रेणी के अधिकाश लेखक इस सम्बन्ध में निश्चिन्त रहते हैं कि उनकी रचना अच्छी हो या बुरी, उनकी रचना बिके या न बिके, उन्हें कुछ द्रव्य की प्राप्ति होगी ही और चूंकि वह ऊपरी आय है अतः फालतू आय है और उसकी राशि एवं मर्यादा की कोई चिन्ता नहीं करता।

अमरीका मे भी किसी दिन ठीक यही स्थिति हो गयी थी। साहित्य के व्यवसाय को जीविका के रूप मे स्वीकार कर गृहस्थी चलाना कितनी कठिन तपस्या है, इस सम्बन्ध मे संसार के समस्त देशों के लेखकों को मर्मान्तिक अनुभव है। विशेषकर ग्रीन जैसे लोकप्रिय लेखक को भी जब एक साथ ग्यारह पुस्तक लिखने पर भी अर्थाभाव भोगना पड़ा है तब बंगाल जैसे दरिद्र अंचल के लेखकों की दुर्दशा की सहज ही कल्पना की जा सकती है। इस देश मे लोकप्रियता के शिखर पर पहुँचने पर भी शरतचन्द्र को शेष जीवन मे सिनेमा के पारिश्रमिक का आश्रय लेना पड़ा था।

शरतचन्द्र के एक अन्तरंग भक्त श्री अविनाथ घोषाल की बात मुझे याद है।

अविनाश घोषाल तत्कालीन बहुप्रचारित सिनेमा साप्ताहिक 'वातायान' के संपादक थे। अपने विद्यार्थी-जीवन मे मैंने 'वातायन' कार्यालय मे कितने ही घंटे व्यतीत किये हैं, रचना छपवाने के लिए नही, बल्कि सायंकाल जब कार्यालय का काम-काज बन्द हो जाता और जब सभी चले जाते तब अविनाश घोपाल और मैं बैठे-बैठे गपशप किया करते थे। मैं उनके मुख से उस युग के साहित्यकारो की गपशप सुनता। मै उन दिनो एक भावी साहित्यकार था। उन्हें अनेक विख्यात लेखकों से मिलने-जुलने का सुयोग प्राप्त हुआ था, जैसे, प्रमथ चौधरी, शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय।

शरतचन्द्र के बारे मे ही बता रहा हूँ।

न्यू थियेटर्स कंपनी ने इन्हीं अविनाश घोपाल की मध्यस्थता मे 'देवदास' उपन्यास फिल्म बनाने के लिए खरीदा था।

जिस दिन अनुबन्ध होने वाला था उसके पहले दिन अविनाश घोपाल शरतचन्द्र के घर गये थे।

शरतचन्द्र ने अविनाश घोपाल को देखकर पूछा, "क्या हुआ? कितना मूल्य निश्चित हुआ?"

अविनाश घोपाल ने कहा, 'सात हजार।"

सात हजार। उस दिन अविनाश घोपाल को जितना आश्चर्य हुआ उससे बढकर आश्चर्य हुआ शरतचन्द्र को। अप्रतिद्वन्द्वी कथा-साहित्यकार शरतचन्द्र के लिए कहानी के मूल्य के रूप मे सात हजार रुपया मिलना एक अकल्पनीय घटना थी। शरतचन्द्र को एक साथ इतना रुपया पहले कभी नहीं मिला था। उस दिन शरतचन्द्र को सिनेमा से

प्रश्रय न मिला होता तो हो सकता था कि वे कलकत्ते मे मकान न बनवा पाते और गाड़ी खरीद पाना तो असम्भव ही था।

शरतचन्द्र का युग बहुत पहले ही बीत चुका है। संसार मे एक दिन अकाल पड़ा। लड़ाई के साथ-साथ वह अकाल समाप्त हो गया। शरतचन्द्र की मृत्यु लड़ाई छिड़ने के पहले ही हो चुकी थी। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की मृत्यु भी युद्ध आरम्भ होने के कुछ दिन बाद १९४१ ई० मे हो गयी। किन्तु शरतचन्द्र और रवीन्द्रनाथ के उत्तराधिकारी ही इसका हिसाब बता सकते हैं कि उनका साहित्य बेचकर सिनेमा से उन्होंने कितना धन कमाया है एवं सिनेमा से उनके साहित्य के प्रचार-प्रसार मे कितनी सहायता पायी है।

ग्राहम ग्रीन के साथ भी ठीक यही बात हुई।

ग्राहम ग्रीन तब ग्यारह पुस्तकें लिख चुके थे। प्रत्येक उपन्यास की ढाई-तीन हजार प्रतियाँ छपती थीं। पत्र-पत्रिकाओं मे उनका नाम सुर्खियो मे छपता था। हर आदमी उनके नाम से परिचित था। किन्तु रुपया पैसा अधिक हाथ नहीं लगता था। कारण देश मे अकाल था।

१९३९ ई० मे अचानक युद्ध छिड़ गया और उससे ठीक सात वर्ष पूर्व १९३२ ई० मे अमरीका से उनके पास एक पत्र आया।

पत्र में उनके अमरीकी एजेंट ने लिखा था कि हालीवुड की 'ट्वेन्टीयथ सेंचुरी फाक्स' कंपनी उनके 'स्तानबुल ट्रेन' नामक उपन्यास फिल्म बनाने के लिए खरीदना चाहती है। उसके लिए वे कितनी रकम चाहेंगे ?

उस समय ग्राहम ग्रीन की स्थिति प्रायः शोचनीय थी। 'इस्तानबुल ट्रेन' उनका चौथा उपन्यास था। उस समय हाथ मे एक पैसा भी न था। बक्से मे तब कुछ बचे हुए रुपये पड़े थे और उसी का भरोसा था। कुछ ही महीनो मे वे पिता होने वाले थे। उस समय एक मोटी रकम खर्च होने वाली थी। एक नौकरी मिलने की भी आशा थी—'द कैथलिक हेरल्ड' पत्रिका के सह-सम्पादक की नौकरी किन्तु उस नौकरी को करने मे यह विपत्ति थी कि फिर उपन्यास लिखने का समय नहीं मिल पाता।

ग्राहम ग्रीन की स्थिति ठीक शरतचन्द्र जैसी हो गयी।

इतना रुपया ?

परन्तु जब हालीवुड से अनुबन्ध-पत्र आया तब उसे पढ़कर वे अवाक् रह गये। अनुबन्ध-पत्र के अनुसार उपन्यास का स्वत्वाधिकार कंपनी के हाथ मे चला जाता। तुम्हारी कहानी तुम्हारी नहीं रहेगी। फिल्म-कंपनी आजीवन उस कहानी के स्वत्व का उपभोग करेगी। यहाँ तक कि चाहने पर तुम्हारे उपन्यास का नाम तक फिल्म मे बदल दिया जायेगा। तुम्हारी कहानी ट्रेजिडी (दुःखान्त) है, किन्तु चाहने पर हम उसे कामेडी (सुखान्त) बना दे सकते हैं। नायक-नायिका का नाम तक बदल देने का हमें अधिकार होगा। सब पर हमारे अधिकार मे होगा। उसके बदले हम तुम्हें नकद मोटी रकम देंगे।

किन्तु तब भी उन्होंने उस अपमानजनक अनुबन्ध पत्र पर उस दिन हस्ताक्षर कर

दिया। हस्ताक्षर करने के अतिरिक्त कोई गति नहीं थी। उस समय एक साथ इतना रुपया उन्हें कौन देता ?

उसके बाद १९३४ ई० में उन्हें एक और सुयोग मिला।

ठीक उसी प्रकार का पत्र और ठीक उसी प्रकार का अनुबन्ध पत्र आया।

इसी प्रकार एक पर एक उनकी कहानी पर फिल्म बनने लगी। पर्याप्त पैसा आने लगा। लेकिन फिल्म देखकर वह अवाक् रह गये। यह क्या, यह कहानी तो उनकी लिखी हुई नहीं है। यह कथा तो उन्होंने नहीं लिखी है लेकिन फिल्म मे छोटे-छोटे अक्षरो में उनका नाम लिखा है। यह भी लिखा है उनके उपन्यास के आधार पर यह फिल्म बनी है।

किन्तु मन के दुःख को उन्होंने मन में ही दबाकर रख लिया। क्योंकि उन्हें लगा कि उनकी कहानी की अपेक्षा रुपये का मूल्य कहीं अधिक है। रुपया न मिलने पर उन्हें उपवास करना पड़ता। उनकी आवश्यकता के दिनों मे जिन्होंने उन्हें वह रुपया दिया, उनके प्रति उनका कृतज्ञ होना ही उचित है। मन ही मन यह सोच कर सान्त्वना मिली कि यह फिल्म तो दो दिन की है। दो दिन बाद ही लोग फिल्म की कथा भूल जायेंगे। परन्तु उनकी कहानी तो चिरस्थायी है। जब तक छपी पुस्तक मे उनकी कहानी रहेगी तब तक वे अमर रहेंगे। उस अमरता से तो उन्हें कोई वंचित नहीं कर सकेगा।

तब भी कहानी पर फिल्म बनने से यह एक सुविधा होती है कि कई हजार रुपये मिल जाने से और कुछ दिनों तक लड़ाई लड़ी जा सकती है, निश्चिन्त होकर एक दो किताबें और लिखी जा सकती हैं। अतः प्रत्येक उपन्यासकार का सिनेमा के प्रति कृतज्ञ होना उचित है। उन्होंने लिखा है :

"I repeat that I am grateful to the cinema. It made twenty years of my life easier"[1]

किन्तु ये सब तो मेरी पढ़ी हुई बातें हैं। पुस्तक पढ़ने से इन सबकी जानकारी हुई और शरतचन्द्र एवं रवीन्द्रनाथ के बारे में मैंने जो कुछ चर्चा की है उसकी जानकारी अविनाश घोषाल और चारुचन्द्र भट्टाचार्य से हुई है।

साधारणतः मैं एक ऐसे चरित्र का व्यक्ति हूँ जो सहज ही किसीसे घनिष्ठ होकर मिल-जुल नहीं पाता। वास्तव मे मुझे भय लगता है। भय किसी और बात का नहीं, बल्कि इसका कि कहीं अनजाने ही मेरे हृदय को ठेस न पहुँचे।

सिनेमावालों से तो मैं और अधिक भयभीत रहता था। सोचा था, वे लोग स्वार्थ हैं। मेरा लालन-पालन जिस आदर्श वातावरण मे हुआ है उसमे स्वार्थ का कोई मेल नहीं बैठता।

सुना है, जीवन के अन्तिम दिनों में विभूति भूषण बन्द्योपाध्याय अपनी कहानी और उपन्यासों को फिल्म के रूप में रूपायित कराने को अधीर हो उठे थे। वे सिनेमा वालों

१. मैं इस बात को दुहराता हूँ कि मैं सिनेमा का आभारी हूँ। इसने मेरे जीवन के बीस वर्षों को सुगम बना दिया।

से कहते, "अच्छा, आप लोग मेरे 'पथेर पांचाली' पर फिल्म नहीं बना सकते ?"

वे जिन लोगों से अनुरोध करते वे सभी स्नाव यह सुनकर हँसते थे। वे कहते, "उस कहानी पर फिल्म नहीं बन सकती।"

विभूतिभूषण बाबू कहते, "किन्तु शरत बाबू के 'देवदास' पर तो बनी है।" क्या मेरा 'पथेर पाचाली' देवदास से कुछ खराब है ?"

वे कहते, "आप क्या कहते हैं। कहाँ शरत बाबू और कहाँ आप। आपके 'पथेर पांचाली' में ड्रामा कहाँ है ?"

विभूति बाबू अच्छे आदमी थे। सोचने लगे कि उनके 'पथेर पांचाली' में ड्रामा है या नहीं। वास्तव में 'ड्रामा' किसे कहते हैं, यह भी सोचने लगे। ड्रामा होना ही यदि सिनेमा की कहानी का प्रधान गुण है तो उस ड्रामा का समावेश कर कहानी लिखने की बात सोचने लगे। ड्रामा सम्बन्धी पुस्तकें पढने लगे। किन्तु उन्हें इस बात पर विश्वास नहीं हुआ कि उनके 'पथेर पाचाली' मे ड्रामा नहीं है। उसके बाद तत्कालीन विख्यात निर्देशक देवकीकुमार वसु के पास गये।

विभूति बाबू ने कहा, "आप इतनी फिल्में बनाते हैं, एक बार मेरे 'पथेर पाचाली' पर फिल्म बना कर देखिए न। इस पर क्या फिल्म नहीं बन सकती ?"

देवकी वसु बोले, "पुस्तक को एक बार और पढकर देखना होगा।"

विभूति बाबू एक दिन पुस्तक उनके पास पहुँचा गये। उसके बाद अधीरता से प्रतीक्षा करने लगे। आशा करने लगे कि एक दिन किसी फिल्म कंपनी के कार्यालय से पत्र आयेगा। वे लिखेंगे : आपके 'पथेर पांचाली' उपन्यास पर हम फिल्म बनाना चाहते हैं, आप कितना रुपया लेंगे ? पत्र पाते ही उत्तर दें।

लेकिन दिन पर दिन, महीने पर महीना और साल पर साल बीतते गये, कहीं से कोई सूचना नहीं मिली। देवकीकुमार वसु का भी कोई पत्र नहीं। वे निराश हो गये। विभूति बाबू के लिए रुपये-पैसे की आवश्यकता ही नहीं थी। एक जोड़ा जूता, दो कुरता और एक जोड़ा मोटी धोती होने से ही उनका एक वर्ष कट जाता था। मगर उनके उपन्यास पर फिल्म बननी चाहिए। कारण शरतचन्द्र के उपन्यास पर फिल्म बनी है। देवदास की कहानी सबकी जबान पर है। वे सभी स्वयं मूर्तिमान् देवदास और पार्वती हैं। उनको भी इच्छा होती थी कि 'पथेर पांचाली' के 'अपू' और 'दुर्गा' की कथा भी उसी प्रकार संसार मे सबकी जबान पर हो। दीवारों पर पोस्टर टँगे रहें। वहाँ बड़े-बड़े अक्षरों मे रंगीन स्याही में छपा रहे—विभूतिभूषण बन्धोपाध्याय का 'पथेर पांचाली'।

अपनी कल्पना की सृष्टि को यथार्थ रूप में देखने का लोभ बड़ा ही प्रबल लोभ होता है। यह लोभ अशोभनीय नहीं है। सभी कलाकारों में यह लोभ रहता है। शरत-चन्द्र में था और रवीन्द्रनाथ में भी था।

स्वर्गीय मधु बसु से सुना है–उन दिनों 'दालिया' कहानी की पटकथा सुनने रवीन्द्र-नाथ के पास जाते थे। एक दिन रवीन्द्रनाथ ने कहा था, "मधु, तुम मेरी 'शेषेर

मुझे विश्वास है

कविता' पर फिल्म बनाओ। यह तुम लोगों के सिनेमा में बहुत अच्छी उतरेगी।"

बंगला सिनेमा-जगत में बंगला साहित्य का कितना अवदान है, इस पर अब तक किसी भी शोधकर्ता ने कोई ग्रन्थ नहीं लिखा है। वे चाहते थे कि बंकिमचन्द्र की कहानी पर फिल्म बने। बचपन में पढ़े 'कृष्णकान्त का वसीयतनामा' उपन्यास पर फिल्म बने। उसके बाद आज यह १९६७ ई० है। हम जहाँ आकर पहुँच चुके हैं, उसे एक युग का प्रथम परिच्छेद कहना चाहिए किन्तु यह इतिहास कौन लिखेगा? विभूतिभूषण बंद्योपाध्याय ने 'पथेर पांचाली' के सम्बन्ध में सिनेमा के निर्देशकों से जो अनुरोध किया था, उसकी कहानी कौन लिखेगा?

अन्त मे वे एक दिन अपने को और नहीं रोक सके। देवकीकुमार बसु के वसन्त राय रोड के किराये के मकान मे पहुँचे और दरवाजे की कुण्डी खटखटाने लगे। नौकर ने आकर दरवाजा खोल दिया।

विभूति बाबू ने पूछा, "देवकी बाबू घर मे हैं?"

नौकर ने पूछा, "आपका नाम?"

साहित्य सिनेमा के दरवाजे पर पहुँचा हो, इस तरह की यही पहली घटना है। जहाँ तक स्मरण है, १९१० ई० मे ही सवाक् चलचित्र का जन्म हुआ। उसी समय से देखा जाता है कि सिनेमा मे साहित्य का एक आंशिक स्थान है। उस आंशिक स्थान की पूर्ति के लिए सिनेमा बार-बार साहित्य के दरवाजे पर आया है। फिल्म के निर्माण की तैयारी करते ही मोटा-मोटी एक कहानी चाहिए। उस कहानी की प्राप्ति के लिए ही सिनेमा-व्यवसायियो को गल्प लेखको से सम्पर्क करना पड़ता है। उस युग मे, सिनेमा के उस प्रारम्भिक काल मे पौराणिक कथाएँ, अर्थात् धर्म-गुरु की जीवनी अथवा कोई कालजोवी साहित्य ही सिनेमा के व्यवसायियो का एकमात्र अवलंब था। उदाहरण-स्वरूप 'कंस-वध', 'संत तुकाराम' या 'कृष्णकान्त का वसीयतनामा' आदि का नाम लिया जा सकता है।

'कृष्णकान्त का वसीयतनामा' फिल्म का कौन निर्देशक था, कौन निर्माता था और कौन कैमरामैन था, यह याद रखने की बात नहीं है। लेकिन 'कृष्णकान्त का वसीयतनामा' नाम याद है। इसी से स्पष्ट है कि फिल्म कैसी भी हो प्रमुखता कहानी को ही है। वह कहानी चाहे प्लाटहीन हो चाहे सस्ती। कहानी के स्तर हुआ करते हैं। संसार की विभिन्न भाषाओं के कहानीकार कहानी के सम्बन्ध मे अनेक प्रकार के परीक्षण करते हैं। सभी कुछ नयापन लाना चाहते हैं। सम्भवतः फ्रांस ही इस सम्बन्ध मे सबसे आगे है। वहाँ साहित्य, सिनेमा, चित्रकला आदि के सम्बन्ध मे कुछ न कुछ आन्दोलन चलता ही रहता है। कोई भी परम्परागत पथ पर चिरकाल तक चलना नहीं चाहता है। वहाँ की सरकार या मन्त्रित्व जिस प्रकार क्षणस्थायी है उसी प्रकार कला भी है। प्रतिदिन प्रातःकाल एक 'वाद' जन्म लेता है और सायंकाल तक उस मत की मृत्यु हो जाती है।

परन्तु वास्तविक तथ्य मे आज तक कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। जिस मनुष्य या जिस कलाकार ने उस वास्तविक तथ्य को अस्वीकार कर दिया है वह भले ही सामयिक

तौर पर एक आन्दोलन खड़ा कर ले लेकिन किसी न किसी दिन उसका आन्दोलन या तो समाप्त हो जाता है या फिर विस्मृति के अतल मे समा जाता है।

कला की माया मे उस असली तथ्य को शाश्वत कहा जायेगा। वह शाश्वत शब्द बड़ा ही भ्रामक है। इसकी व्याख्या आवश्यक है और वह इसलिए कि आधुनिक ही अच्छा है—और शाश्वत पुराना पड़ गया है—यही कहना आज का धर्म हो गया है।

बम्बई प्रदेश यानी आज के महाराष्ट्र में जाने पर देखा है, जब भी वहाँ कहीं भी सन्त तुकाराम फिल्म दिखायी जाती है तो वहाँ दर्शकों का ताता लग जाता है। सन्त तुकाराम के मामले में कोई आधुनिक या प्राचीन के नियम को नहीं मानता।

इस सन्दर्भ में बाध्य होकर रवीन्द्रनाथ का एक लम्बा उद्धरण दे रहा हूँ। इसके लिए आप मुझे क्षमा करेंगे क्योंकि कवि सुधीन्द्रनाथ दत्त ने एक बार कहा था—रवीन्द्रनाथ इस युग के सिद्धिदाता गणेश हैं।

उन्हीं सिद्धिदाता गणेश की बात एक बार सुनिये—

"देखता हूँ कि भर्तृहरि के काव्य मे भोगी मनुष्य को अपना स्वर मिल जाता है, लेकिन उसके साथ ही काव्य की गहराई मे इकतारा लिये त्यागी मनुष्य बैठा हुआ है—इन दो स्वरों के समन्वय से ही रस का सन्तुलन बना रहता है। काव्य और मानव-जीवन मे भी सुदूर काल और बहुसंख्यक व्यक्तियों को जो संपदा-दान करने से साहित्य चिर-सार्थक होता है। कागज की नाव या मिट्टी का गमला मार नहीं सह सकता, आधुनिक काल-विलासी अवज्ञा के साथ कह सकते हैं कि ये सब बातें आधुनिक काल के शब्दों से मेल नहीं खातीं। यदि यह सच है तो आधुनिक काल के लिए परिताप करना होगा। आश्वासन की बात यही है कि वह चिरकाल ही आधुनिक रहेगा, उसकी उतनी आयु नहीं है।

आजकल के सिनेमा मे भी वही आधुनिक बनने का प्रयास देखा जाता है। आजकल के साहित्य और आजकल के सिनेमा मे इसी बिन्दु पर समानता रहने के कारण मुझे यह बात कहनी पड़ी। साहित्य और सिनेमा दोनों को यदि कला की दृष्टि मे देखें तो यह देखना होगा कि उस साहित्य या सिनेमा मे वह आयु कितनी है। देखना होगा कि १९९० ई० मे उस पुस्तक को कोई पढ़ेगा या नहीं या उस फिल्म को देखेगा या नहीं। यदि कोई पढ़ता या देखता है तो मानना होगा कि वह आधुनिक होने पर भी शाश्वत है। उसकी परमायु अशेष है।

मैं स्वयं कला-विवेचन मे उसी मानदण्ड का व्यवहार करता हूँ।

विभूतिभूषण बंद्योपाध्याय ने भूल की थी। उन्हें ज्ञात था कि उनका 'पथेर पाचाली' एक उत्कृष्ट साहित्य है। फिर वे सिनेमा-निर्देशक के घर पर क्यों गये थे?

सिनेमा-निर्देशक के घरेलू नौकर ने जब उनका नाम पूछा तब उन्होंने सहज भाव मे ही अपना नाम बताया था। लेकिन घरेलू नौकर ने कहा, "वे तो घर पर नहीं हैं।"

बंगला साहित्य और बंगला फिल्म का बड़ा सौभाग्य था कि उस दिन देवकीकुमार बसु घर पर नहीं थे। रहने पर आज क्या दुर्घटना घटती यह सोचने पर भी भय होता है।

राजनीति, सिनेमा और स्पोर्ट्स—इन तीनों में एक ऐसा ग्लैमर है जो साहित्य मे नहीं है। राजनीति, सिनेमा और स्पोर्ट्स, यही तीन विषय दैनिक समाचार पत्रों की खुराक हैं। ये तीनो न रहें तो कोई अखबार नहीं खरीदेगा। अनेक घरों मे देखा है कि अखबार आने पर गृहस्वामी राजनीति की खबरों में व्यस्त हो जाते हैं, गृहिणी सिनेमा की ओर और बच्चे स्पोर्ट्स की खबरों मे।

इसमे साहित्य का स्थान नहीं रहता।

और चूँकि साहित्य मे ग्लैमर नही है इसलिए उसका आवेदन दूरव्यापी रहता है। शेक्सपीयर के जन्म के तीन सौ वर्ष बाद उन्हें जर्मनी में पहली बार साहित्यकार के रूप मे मान्यता प्राप्त हुई। लेकिन सिनेमा के मामले मे क्या यह सम्भव है?

किन्तु फिर भी सिनेमा ने साहित्यकारों का जो एक उपकार किया है वह आध्यात्मिक उपकार नहीं, आर्थिक उपकार है। साहित्यकारों को भी खाना-पहनना पड़ता है। इस महँगी मे गृहस्थी का खर्च चलाना पडता है। नितान्त भिक्षावृत्ति से निर्वाह नहीं हो सकता।

ग्राहम ग्रीन ने अपने जीवन की वही कहानी विस्तार से कही है। आज के समय के बगाली साहित्यकारो के लिए उस कहानी को जानना लाभदायक है। क्योकि बंगाली साहित्यकारो में से अनेक अपनी कहानी और उपन्यास को फिल्मोपयोगी बना कर लिखते हैं। उस प्रकार की कहानी या उपन्यास लिखना अच्छा है या बुरा, यहाँ यह प्रसंग अवान्तर है। कारण वह साहित्यिक प्रसंग है और मैं यहाँ सिनेमा की कहानी लिख रहा हूँ।

बगला में कोई साहित्यिक जब सिनेमा के लिए कहानी बेचता है तब साधारणतः उसकी एक अवधि होती है। जैसे पाँच वर्ष, सात वर्ष या दस-बारह वर्ष। हिन्दी फिल्मों की भी यही बात है। कम-से-कम कुछ विख्यात साहित्यकारों के साथ वे लोग ऐसा ही अनुबन्ध करते हैं।

लेकिन हालीवुड का नियम भिन्न है। वे चित्र का कापीराइट चाहते हैं। दस-बारह पन्नों का अनुबन्ध-पत्र होता है। अधिकतर लेखकों को उतनी शर्तें पढने का समय और धैर्य नहीं रहता। सब पढकर समझने के लिए वकील-एटर्नी की सहायता चाहिए। उसमे भी मोटा खर्चा है। इसमे तो आँख बन्द कर मोटी रकम का चेक जेब के हवाले करना बुद्धिमानी का काम है।

ग्राहम की वही दशा हुई।

पहली फिल्म की बिक्री डेढ हजार पौंड मे हुई। उसके दो वर्ष बाद ही एक और सुयोग आया। अपनी पुस्तक 'ए गन फॉर सेल' उपन्यास का कापीराइट बेचने पर उन्हें अढाई हजार पौंड मिला।

पैसा तो बहुत ही कम मिला, किन्तु उसमे क्या? उस पैसे से और भी कुछ दिनों तक जीवित रहा जा सकेगा और भी एक-दो पुस्तकें लिखी जा सकेंगी।

साहित्यकार के जीवन मे सिनेमा का पारिश्रमिक कितना बड़ा सहायक है, यह

शरतचन्द्र द्वारा 'देवदास' फिल्म बेचने के सन्दर्भ में पहले ही बता चुका हूँ।

किन्तु फिल्म देखने पर ग्राहम साहब आश्चर्यचकित हो गये। यह किसकी कहानी है? क्या यह उनकी लिखी कहानी है? फिल्म के निर्देशक ने पूरी कहानी को आरम्भ से अन्त तक बदल दिया था। पुस्तक में जो चरित्र साधु था उसे असाधु बना दिया था। कहानी के आरम्भ से अन्त तक कुछ समझ में नहीं आता था।

ग्राहम साहब ने निर्देशक से आकर पूछा, मैंने तो यह कहानी नहीं लिखी थी सर, आपने यह क्या किया? आपको यह कहानी कहाँ से मिली?"

निर्देशक ने कहा, "महाशय, आपको सिनेमा की जानकारी कितनी है? फिल्म में आपकी कहानी में परिवर्तन न करता तो मैं बदनाम होता और दर्शक पैसा नहीं देते।"

इस पर और क्या कहता?

इस सम्बन्ध में शरतचन्द्र की एक कहानी सुनाता हूँ।

कवि कालिदास राय ने उस समय तक अपना मकान नहीं बनवाया था। टालीगंज थाने के पीछे एक गली में किराये के मकान में रहते थे। वे शरतचन्द्र के विशेष मित्र थे। एक दूसरे के साथ सुख-दुःख की बात करते थे।

शरतचन्द्र अड्डेबाज आदमी थे। पानित्रास छोड़ कर उस समय पण्डितिया रोड में मकान बनवा लिया था। उनका स्वास्थ्य उस समय से खराब चल रहा था। अधिक परेशानी सहन नहीं होती थी। उस समय उनमें अधिक लिखने की क्षमता भी नहीं थी। डाक्टरों ने तीसरे पहर और सवेरे खुली हवा में थोडी-बहुत चहलकदमी करने को कहा था जिससे कि अंगों का संचालन हो सके।

लेकिन अड्डेबाज आदमी बिना अड्डे पर गये रह कैसे सकता है?

इसी में चहलकदमी करते हुए कालिदास राय के साहानगर रोड स्थित किराये के मकान में चले आते थे। वहाँ और भी अनेक लोग जुटते थे। शराब की गन्ध से जैसे शराबी जमा होते हैं उसी प्रकार अड्डे की गंध से बहुत से अड्डेबाज साहित्यकार भी जुट जाते थे। उस अड्डे के मुख्य आकर्षण शरतचन्द्र थे। मनोरंजक कहानियों का क्रम चलता था। शरतचन्द्र के लिए धूम्रपान का भरपूर प्रबन्ध रहता था। उनके आते ही अंबरी तंबाकू से सजी गुडगुडी लाकर रख दी जाती थी। सब लोग उत्सुकता से उनकी बात सुनते थे—शिशिर भादुड़ी की कहानी, न्यू थियेटर की कहानी, बर्मा की कहानी, भागलपुर की कहानी। इसके अतिरिक्त भूत-प्रेत की कहानी, साँप की कहानी, संगीत के उस्तादों की कहानी। उसके बाद शराबी, जुआरी, चोर और डाकुओं की कहानी।

गपशप करते-करते बारह बज जाते। किसी-किसी दिन दोपहर का एक भी बज जाता। वहाँ शिशिर भादुड़ी, विश्वपति चौधरी, नन्दगोपाल सेनगुप्त तथा कुछ उदीयमान तरुण साहित्यकार आते थे। उस समय उनमें से कुछ की रचनाएँ सब छापना चाहते थे और कुछ लोगों की रचनाएँ उस समय तक किसी भी पत्र-पत्रिका में नहीं छपी थीं; किन्तु आशा थी; कि एक दिन सबकी रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में छपेंगी, पुस्तकाकार छपेंगी और उसके बाद शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय, बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय

की भाँति उन कहानियो पर भी फिल्म बनेगी। तब फिल्म बनने पर ही उन साहित्यकारों को सिद्धि प्राप्त होगी, अन्यथा नही।

रविवार को प्रातः अड्डेबाजी अधिक जमती थी। प्रातःकाल से तात्पर्य है नौ या दस बजे से साधारणतः अड्डेबाजी आरम्भ हो जाती थी। किन्तु उस दिन एक अनहोनी हो गयी। प्रातः सात बजे ही शरतचन्द्र पहुँच गये।

कवि कालिदास अवाक् रह गये। बोले, "यह क्या शरतदा, इतने सवेरे ?"

शरतचन्द्र इत्मीनान से आरामकुर्सी पर बैठ गये, "क्या कहूँ भाई, बड़ी विपत्ति मे पड जाने से तुम्हारे पास भागा-भागा आया हूँ।"

कवि कुछ समझ नहीं सके। उद्विग्न होकर पूछा, "क्या विपत्ति आ गयी ?"

शरतचन्द्र बोले, "कल मेरी 'विजया' फिल्म रिलीज़ हुई है।" 'विजया' माने 'दत्ता'। शरतचन्द्र के दत्ता उपन्यास का सिनेमा मे विजया नाम रखा गया था। इसके एक दिन पहले कुल मिला कर उसकी शुरुआत हुई थी और उधर उस समय शिशिर भादुड़ी भी 'विजया' नाटक अपने थियेटर 'नाट्य मन्दिर' मे मंचित कर रहे थे। स्टेज पर विजया 'हिट' हुई किन्तु उस समय सिनेमा का भाग्य अनिश्चित था।

उस फिल्म के पहले दिन न्यू थियेटर्स कंपनी ने लेखक शरतचन्द्र को भी आमन्त्रित किया था। यथारीति फिल्म दिखलाई गयी। शरतचन्द्र ने आरम्भ से अन्त तक अपने उपन्यास का छायाचित्र देखा। लेखको को इसे देखना अच्छा लगता है। कल्पना के पात्र-पात्री सजीव हो उठते हैं। विख्यात कहानी-लेखकों के कल्पना के समस्त चरित्रों को अभिनय के माध्यम से यथार्थ रूप मे परिवर्तित कर देते हैं। इससे लेखक को आत्म-तृप्ति होती है। लेकिन फिल्म खराब होने पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। उस समय उपन्यासकार को कष्ट और यातना होती है। अपनी आँखों के सामने ही उसे अपने रचित चरित्रों की हत्या देखनी पडती है जैसा कि ग्राहम ग्रीन के साथ हुआ था।

लेकिन शरतचन्द्र से ग्राहम ग्रीन की तुलना तो ठीक नहीं है। ग्राहम ग्रीन की उस समय दुरवस्था थी। फिल्म बुरी हो या अच्छी, इसके बारे मे उन्हें कुछ नहीं कहना था। उन्होंने पैसे के लिए हालीवुड को स्वत्वाधिकार सौंप दिया था।

शरतचन्द्र की भी क्या यही बात थी ?

उन दिनों शरतचन्द्र की ख्याति संपूर्ण भारतवर्ष मे फैल चुकी थी। उस समय उन्हें देखने के लिए युवक-युवतियों की भीड़ उमड़ पडती थी। जिस तरह आजकल किसी फिल्मी अभिनेता या अभिनेत्री को देखने के लिए भीड़ उमड़ आती है, ठीक उसी तरह। राजनीति, सिनेमा और स्पोर्टस ने तब आदमी को इस प्रकार ग्रस्त नहीं किया था।

जो हो, फिल्म समाप्त होते ही न्यू थियेटर्स के संचालकों ने शरतचन्द्र को पकड़ा। उनमें अमर मल्लिक महाशय ही प्रधान थे।

अमर मल्लिक महाशय ने निकट आकर पूछा, "शरतदा, आपको फिल्म कैसी लगी ?"

शरतदा ने मुख पर मुसकराहट लाकर कहा, "बहुत ही अच्छी।"

अमर मल्लिक बोले, "तब अपनी सम्मति दो शब्दों में लिख दीजिए जिससे कल के अखबार में हम विज्ञापन के रूप में उसका उपयोग कर सकें।"

शरतचन्द्र भयभीत हो गये। लेकिन चूंकि वे बहुत ही तीक्ष्ण बुद्धि के व्यक्ति थे अतः संयत होकर बोले, "मन्तव्य क्या इतनी शीघ्रता में दिया जा सकता है?"

अमर मल्लिक महाशय को जो जानते हैं वे बता सकते हैं कि वे किस प्रकार के विनयी भद्र पुरुष हैं। बोले, "आपकी बात पर हँसने का मन करता है शरतदा। आप इतने बड़े अप्रतिद्वन्द्वी कथा-साहित्यकार हैं, सुनूं तो कि दो पंक्ति लिखने में आपको कितने सेकेंड लगेंगे।"

शरतचन्द्र बोले, "सब मानता हूँ, किन्तु कठिनाई क्या है, जानते हो? फिल्म देखकर इतना अभिभूत हो गया हूँ कि अभी मेरे दिमाग में कुछ नहीं आयेगा।"

अमर मल्लिक बोले, "फिर आप कब लिख सकते हैं? कल शाम आपके घर आऊँ?"

"अच्छा, आना।"

यह कहकर शरतचन्द्र गाड़ी में बैठकर घर लौट आये।

कवि कालिदास राय इतनी देर से सुन रहे थे। बोले, "उसके बाद?"

शरतचन्द्र बोले, "उसके बाद और क्या? उसके बाद यहाँ तुम्हारे घर आ गया। प्रातः नींद टूटते ही भाग आया। घर पर कह आया हूँ कि यदि कोई आये तो कह देना कि मैं बाहर चला गया हूँ। कहाँ जा रहा हूँ, यह बता कर नहीं आया हूँ।"

कालिदास राय बोले, "लेकिन आपकी गाड़ी?"

शरतचन्द्र बोले, "गाड़ी लेकर ही आया हूँ। गाड़ी तुम्हारे घर के सामने नहीं लाया हूँ। शा नगर रोड के मोड़ पर खड़ी करके आया हूँ जिससे कोई सन्देह न कर सके।"

कालिदास राय बोले, "ऐसा लगता है कि फिल्म खराब हो गयी है।"

अचानक बाहर कुंडी खटखटा उठी।

शरतचन्द्र तम्बाकू पीते-पीते उछल पड़े। बोले, "लो वे लोग आ गये। अपने बगल वाले कमरे में मुझे छिपा दो। वह को वहाँ से हट जाने को कहो।"

कालिदास राय समझे नहीं।

बोले, "कौन आया है? किसको देखकर छिप रहे हैं?"

शरतचन्द्र बोले, "और कौन होगा? अमर को तो तुम जानते नहीं कालिदास। वह पुलिस की नौकरी में होता तो उत्तम जासूस हो सकता। लेकिन वह मुझे बहुत प्यार करता है, मेरे प्रति उसकी अगाध भक्ति है। उसे टालना कठिन है, इसीलिए तो तुम्हारे यहाँ भाग आया हूँ।"

कालिदास राय का नौकर दरवाजा खोले इसके पहले ही शरतचन्द्र जल्दी से बगल के कमरे में अन्दर जाने लगे।

लेकिन जो आए थे उन्हें देखकर भागने की आवश्यकता नहीं थी। वे फिर अपनी कुरसी पर बैठ गये। बोले, उफ्, तुमने बहुत डरा दिया था शिशिर, मैं घर से अन्दर

महल की ओर जा रहा था।"

शिशिर माने शिशिर भादुड़ी। उनके मुँह मे एक मोटा, लंबा काला चुरुट लगा हुआ था। बोले, "क्यों आप भाग रहे थे भाई साहब? किस डर से?"

शरतचन्द्र बोले, "मैंने सोचा, वे लोग आ गये। तुम इतनी सुबह-सुबह आओगे, यह कैसे सोचता?"

शिशिर भादुड़ी तब भी नहीं समझे। बोले, "वे लोग के माने कौन लोग?"

शरतचन्द्र बोले, "वे लोग माने, जिन लोगो ने 'विजया' फिल्म बनायी है। न्यू थियेटर्स के आदमी। वह अमर मल्लिक और—"

उस दिन कालिदास राय के घर पर वह एक अद्‌भुत परिस्थिति उत्पन्न हो गयी थी। कालिदास राय उन दिनों साहित्यकारों के अड्डे के केन्द्र-बिन्दु थे, यह बात पहले ही कह चुका हूँ।

शिशिर भादुड़ी का चुरुट तब बुझ चुका था। उन्होने उसे दियासलाई से जलाकर कहा, "अमर मल्लिक? क्यो?"

शरतचन्द्र बोले, "अरे, यही बात तो इतनी देर से कालिदास को बता रहा था। कल 'विजया' देखी है।"

शिशिर भादुड़ी बोले, "कहिये कैसी लगी? मेरे थियेटर से अच्छी या बुरी?"

उस समय शिशिर भादुड़ी के रंगमंच पर 'विजया' बहुत दिनो से मंचित हो रही थी। उन दिनो रंगमंच जगत् मे शिशिर भादुड़ी का युग चल रहा था। शरतचन्द्र के 'पल्ली समाज' (ग्रामीण समाज) ने मंचन मे पर्याप्त ख्याति अर्जित कर ली थी। शरतचन्द्र के कहानी-उपन्यास को लेकर उन दिनों सिनेमा और थियेटर के बीच प्रायः छीना-झपटी चल रही थी। एक तो शरतचन्द्र की लिखी कहानी उस पर शिशिर भादुड़ी का निर्देशन और अभिनय। इसलिए वहाँ भीड़ की कमी नहीं रहती थी और वही कहानी फिर 'चित्रा' में सिनेमा के रूप में प्रारम्भ हुई। उस फिल्म के सम्बन्ध मे लोगो की व्यग्रता की कोई सीमा नहीं थी। स्वयं शरतचन्द्र को भी आशा थी कि फिल्म अच्छी बनेगी और उनकी ख्याति मे वृद्धि होगी।

किन्तु हुआ उलटा।

शिशिर भादुड़ी बोले, "तब तो वे लोग आपको बडी विपत्ति मे डाल देंगे। अब तो आपसे सार्टिफिकेट लिखा लेंगे—"

शरतचन्द्र बोले, "अरे भैया, इसी कारण से तो सवेरे-सवेरे ही यहाँ भाग आया हूँ।"

अचानक फिर दरवाजे की कुंडी बज उठी। शरतचन्द्र पुनः भय मे आतंकित हो गए। लो, अब आ गया।

इस बार टाला नहीं जा सका। नौकर के दरवाजा खोलते ही न्यू थियेटर्स के सयाने लोग घर के भीतर घुस पड़े।

सभी चुन्नटदार धोती और कुरता पहने थे। पाँवों में पम्पशू। [illegible]

"दादा, आप यहाँ हैं ? और हम लोग आपको खोजते-खोजते हैरान हो गये।"

शरतचन्द्र अब क्या करें, बोले, "तुम लोग यहाँ कैसे आये ? मैं तो एकाएक कालिदास के घर चला आया था।"

अमर मल्लिक बोले, "आपके घर जाने पर पता चला कि आप प्रातःभ्रमण के लिए बहर गये हैं। मैं बहुत देर तक बैठा रहा। उसके बाद जब आप नहीं लौटे तब सोचा कि आप प्रातःभ्रमण के लिए और कहाँ जायेंगे—बहुत ही जाते देशप्रिय पार्क। सो देशप्रिय पार्क में चार चक्कर लगाये। अन्त में ध्यान आया कि हो सकता है आर्टिस्ट यतीन मिह्री के यतीनदास रोड वाले मकान में गये हों। इसलिए वहाँ गए।"

नये अतिथियों के लिए चार प्याली चाय आयी।

कालिदास राय ने पूछा, "तो आप लोगों को यहाँ का पता किसने बताया ?"

वास्तव में कवियों से सिनेमावालों का कभी कोई सम्पर्क नहीं रहता। गीत के लिए यद्यपि कवियों की आवश्यकता पड़ती है किन्तु उसके लिए विशेष गीत-रचयिता होते हैं और उसके लिए उनके घर जाकर धरना नहीं देना होता। गीत-रचयिता ही सिनेमा-महल में घूमते रहते हैं।

इतने भले आदमियों का उनके घर पर जो आगमन हुआ उसका प्रायः सारा श्रेय शरतचन्द्र को था। शरतचन्द्र कवि कालिदास राय के घर पर हैं, यह बात सर्वविदित थी। वहाँ शरतचन्द्र का आकर्षण ही मुख्य था और कालिदास राय का आकर्षण गौण था।

अमर मल्लिक बोले, "कलाकार यतीन मिह्री ने ही कहा कि जाइए एक बार कालिदास राय के घर जाकर देखिये। वे बीच-बीच में वहाँ भी जाया करते हैं।"

शरतचन्द्र बोले, "तो तुम्हारा क्या हाल चाल है ? फिल्म की बिक्री कैसी हो रही है ?"

अमर मल्लिक बोले, "दादा आपकी कहानी, और न्यू थियेटर्स की फिल्म, क्या तब भी टिकटों की बिक्री नहीं होगी ? उस पर लोकप्रिय अभिनेता पहाड़ी सान्याल नरेन की भूमिका में उतरे हैं।"

शरतचन्द्र बोले, "तब तो झंझट खत्म हो गयी। अब मेरे सर्टिफिकेट की क्या आवश्यकता है ?"

अमर मल्लिक महाशय बोले, "नहीं दादा, बात यह है कि एक साथ शिशिर बाबू के रंगमंच पर नाटक हो रहा है और इधर सिनेमा हो रहा है, अन्त में कहीं कोई यह न कह बैठे कि हमारे न्यू थियेटर्स ने कहानी का दीवाला निकाल दिया।"

फिर बोले, "दादा, आपको बढ़ा-चढ़ाकर कहने की आवश्यकता नहीं। आपने जैसा देखा है वैसा ही बताइएगा। कल रात आपने स्वयं कहा था कि फिल्म आपको बहुत अच्छी लगी।"

शरतचन्द्र उस समय भी दुविधा में थे—सर्टिफिकेट दें या न दें। यदि वे फिल्म अच्छी होने की घोषणा करें तो लोग उन्हें धिक्कारेंगे और यदि खराब होने की घोषणा

करें तो थियेटर्स कंपनी असन्तुष्ट होगी। अब वे कौन-सा मार्ग ग्रहण करें ?

तब अमर मल्लिक ने जेब से एक नयी फाउन्टेनपेन निकाली और एक नया पैंड। शरतचन्द्र का नाम और पता छपा हुआ पैंड। शरतचन्द्र के विशेष उपयोग के लिए ही वे लोग छपवा कर ले आये थे। कलम की नीब भी पतली थी, ठीक उसी प्रकार की जिससे शरतचन्द्र लिखते थे।

अब शरतचन्द्र और क्या करें।

इस प्रकार की शोचनीय स्थिति मे पहले भी कई बार शरतचन्द्र को पड़ना पडा है। लेकिन वह सब साहित्य का मामला था। खराब पुस्तक को अच्छी होने का प्रमाण-पत्र देना पड़ा था।

टस से मस न होने वाले साहित्यकार और प्रकाशको का तथाकथित अत्याचार किसे नहीं सहना पड़ा है ? लेकिन सिनेमा ?

आजकल बहुधा पत्र-पत्रिकाओ मे सिनेमा की आलोचना प्रकाशित होती है। कितनी घटिया फिल्मों को अच्छी बता कर चलाने की चेष्टा हुई है, कितनी अच्छी फिल्मों को घटिया बताकर समालोचना की गयी है, इसका कुछ ठीक नहीं है। जब यह सब घटना दृष्टिगोचर होती है, तब शरतचन्द्र की दुर्घटना की बात याद आ जाती है।

अहा, बेचारे शरतचन्द्र !

आज के समालोचकों के लिए निर्माताओं को हजारों रुपया खर्च करना पड़ता है। खिलाने-पिलाने के अतिरिक्त नाना प्रकार के उपहार देने पड़ते हैं। किसी को सूट, किसी को घड़ी और किसी को सोने का बटन इत्यादि।

लेकिन उस दिन शरतचन्द्र को इतना अपमानित करने का दुस्साहस किसी को नहीं हुआ, यही खुशी की बात है। फिल्मी कहानी फिल्मी ही है। वह संसार भिन्न संसार है। उसके साथ उपन्यास का कोई सम्बन्ध नहीं होता। थोड़ा-बहुत जो सामान्य सम्बन्ध रहता है वह घटना को लेकर ही। हम उपन्यत्स की घटना का संघटन करते हैं। सिनेमा के निर्देशक भी उसका संघटन करते हैं किन्तु दोनों मे अनेक भिन्नताएँ होती हैं।

पुदोवकिन की एक पुस्तक है, जिसका नाम है 'फिल्म टेकनिक एण्ड फिल्म एक्टिंग'। उसमे एक जगह लिखा है—

"The novelist expresses his key stories in written descriptions, the dramatist by rough dialougue, but the scenarist must think in plastic (externally expressive) images. He must train his imagination, the must develop the habit of representing to himself whatever comes into his head in the form of a sequence of image upon the screen Yet more he must learn to command these images and to select from those he visualises the clearest and most vivid, he must know how to command them as the writer commands his

words and the play wright his spoken phrases. (Film Technique And Film Acting : Vision Press, p 42).[1]

ये शब्द विचारणीय हैं। मैं स्वयं सिनेमा कम देखता हूँ। सिनेमा न तो मेरा पेशा है और न नशा है। फिर अपनी आँखों को विश्राम देना ही मेरे सिनेमा न देखने का अन्यतम कारण है। लेकिन मुझे किताब पढ़ना अच्छा लगता है। इसी सिलसिले में सब प्रकार की पुस्तकों के साथ सिनेमा सम्बन्धी भी कुछ पुस्तकें पढ़ गया हूँ।

ग्राहम ग्रीन की बात पहले ही बता चुका हूँ। उन्होंने केवल सिनेमा की पुस्तकें ही नहीं लिखी थीं, बाद मे सिनेमा का निर्देशन भी किया था। कुछ वर्षों तक सिनेमा के नशे में ही डूबे रहे थे। लेकिन अन्त में सिनेमा से इतने निराश हो गये थे जिसकी कोई सीमा नहीं।

वह बात बाद में बताऊँगा।

अब विभूतिभूषण बंद्योपाध्याय की बात बताता हूँ। मोहभंग होने के पहले ही वे संसार का मोह छोड़कर स्वर्गवासी हो गये थे और उसके बाद मैं शरतचन्द्र की कहानी कह चुका हूँ।

अब एक और कहानी कह रहा हूँ सुनिये। वास्तव मे यह कहानी नहीं, सच्ची घटना है। घटना का सम्बन्ध संसार के श्रेष्ठ उपन्यासकार काउंट लियो तालस्तोय से है। वे श्रेष्ठ उपन्यासकार हैं।

तालस्तोय की मृत्यु १९१० ई० मे हुई थी और यह घटना १९०९ ई० की है।

उस १९०९ ई० मे एक रूसी बालक माँ-बाप को बिना बताये एक दिन घर का दरवाजा और खिड़की बन्द कर एक पत्र लिखने बैठा। बहुत सारा कागज नष्ट करने के बाद भी पत्र उसके मन के अनुरूप नहीं लिखा गया। इसी तरह बार-बार लिखने के बाद अन्त मे उसने किसी प्रकार एक पत्र तैयार कर लिया।

लड़के की आयु इस समय मात्र आठ वर्ष की थी।

आठ वर्ष की आयु का कोई लड़का इस प्रकार किसी को पत्र लिख सकता है, इस बात पर कोई विश्वास नहीं करेगा। पत्र मे हिज्जें की गलती की भरमार थी, टेढ़ी-मेढ़ी पंक्ति, मुड़ा-चुड़ा कागज। उस पत्र को लिफाफे मे बन्द करके वह सबकी नजरों से बचाकर एक दिन डाक बक्स मे डाल आया।

उन्नीस सौ नौ ईस्वी का रूस। उस समय संसार मे सिनेमा नामक किसी वस्तु का

१. उपन्यासकार अपनी मूल कथा को दृश्य चित्रों में व्यक्त करता है, नाटककार स्थूल संवाद में लेकिन पटकथा-लेखक को अमूर्त को मूर्त करने वाले (वाचन: अभिव्यंजक) बिम्बों में सोचना चाहिए। उसे अपनी कल्पना-शक्ति को प्रशिक्षित करना चाहिए, परदे पर आनेवाली बिम्बमाला या उसके मस्तिष्क में जो भी स्वरूप उभरे, उसे रूपायित करने की उसे आदत डालनी चाहिए। इसके अलावा उन बिम्बों का नियोजन करना चाहिए। लेखक जिस प्रकार अपने इशारे पर शब्दों को नचाता है और नाटककार अपने कथित मुहावरों को उसी प्रकार उसमें भी अपने बिम्बों को नियन्त्रण में रखने की क्षमता होनी चाहिए।

अविष्कार नही हुआ था। सिनेमा साहित्य पर अपना प्रभाव फैलायेगा, इसकी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था। सिनेमा साहित्य की गरदन पर सवार हो जायेगा, यह उस समय किसीने सपने में भी नहीं सोचा था।

यह घटना उसी समय की है। छोटा बच्चा। न जाने किस तरह तालस्तोय का नाम सुन लिया था। उनकी ख्याति भी सुन ली थी। आजकल के समय में आठ वर्ष के किसी बालक के कान मे साधारणतः किसी साहित्यकार का नाम नहीं पड़ता है। पड़ता है खिलाड़ियों का नाम, सिनेमा स्टारों का नाम अथवा मंत्रियो के नाम। आजकल इन्ही के समाचारों से अखबारो के पन्ने भरे रहते हैं।

शरतचन्द्र का सौभाग्य था कि उनके युग मे सिनेमा का प्रचलन तो हो गया था किन्तु उस समय तक वह इस प्रकार सर्वनाश करने वाले अपने प्रभाव का विस्तार नही कर सका था। आजकल जिस तरह भीड़ से बचने के लिए सिनेमा-सितारो को पुलिस और मिलिटरी का प्रबन्ध करना पडता है, उन दिनो रवीन्द्रनाथ और शरतचन्द्र को भी भीड़ के उपद्रव से बचाने के लिए पुलिस का प्रबन्ध करना पड़ता था।

मुझे याद है, एक बार शरतचन्द्र के तत्कालीन अलबर्ट हाल मे आने की बात थी। उस युग के लिए वह एक स्मरणीय घटना थी। उन दिनों शरतचन्द्र या रवीन्द्रनाथ को आँखो से देख पाना परम सौभाग्य की बात समझी जाती थी। उस समय साहित्यकारों की प्रतिष्ठा भी थी। छात्रगण प्रेसीडेंसी कालेज के सामने की रेलिंग पर खड़े होकर घंटो तक प्रतीक्षा करते रहते थे, वे शरतचन्द्र को केवल एक बार देखना चाहते थे।

शरतचन्द्र को यह श्रद्धा किसी ने बलात् नहीं दी थी। उन्होंने यह श्रद्धा अपनी साहित्यिक प्रतिभा के बल पर जन-साधारण से अर्जित की थी। आज वैसी मर्यादा इस प्रकार किसी को प्राप्त नहीं होती है और ऐसी मर्यादा के योग्य कोई साहित्यिक है भी नहीं। आज कल पन्द्रह पैसे का एक पोस्टकार्ड भेजने से ही एक सभापति मिल जाता है। इसी मे कह रहा हूँ कि यह साहित्य और साहित्यकारो के अधःपतन का युग है।

मगर उस मर्यादा के युग मे शरतचन्द्र को न्यू थियेटर्स ने जो मर्यादा प्रदान की थी वह मर्यादा इस समय किसी भी साहित्यकार को कोई भी फिल्मी निर्माता नहीं देता है।

याद है, एक दिन नीद खुलते ही सबने बंगला के अखबार के सिनेमा वाले पृष्ठ पर शरतचन्द्र के हाथ से लिखा हुआ विज्ञापन देखा। शरतचन्द्र के अपने हाथ से लिखा गया प्रमाणपत्र।

शरतचन्द्र ने लिखा था—'विजया' देखी। न्यू थियेटर्स द्वारा निर्मित जो 'विजया' फिल्म 'चित्रा' सिनेमा घर मे प्रदर्शित हो रही है, उसे देखकर मैं मुग्ध हो गया, दर्शक-वृन्द को भी अच्छी लगेगी मुझे ऐसा विश्वास है।

सही शब्दावली याद नहीं है। बहुत दिनो पहले की बात है, इसलिए सब कुछ ठीक-ठीक याद नहीं रह सकता। तब भी उन्होंने जो लिखा था, उससे मिलती-जुलती शब्दा-वली प्रकट करने की चेष्टा कर रहा हूँ। कोई गवेषक समाचार-पत्र की पुरानी फाइल देखकर आज भी उसका उद्धार कर सकता है।

खैर, जो बात कह रहा था, उसी पर लौट आता हूँ—उसी काउंट लियो तालस्तोय वाले प्रसंग पर।

आठ वर्ष के बालक ने वह पत्र तो लिखा मगर उसका उत्तर नहीं आया। जिस बालक ने पत्र लिखा था वह स्वयं भी पत्र की बात भूल गया। क्योंकि पत्र में ऐसा कुछ नहीं था जिसे सदा याद रखा जाये।

बालक को केवल इतना ही याद था कि उसने लिखा है—श्रद्धेयवर, आप मेरा प्रणाम स्वीकार करें। संसार में मेरी सबसे अधिक श्रद्धा आप मे ही है। मैं बड़ा होकर एक साहित्यकार बनना चाहता हूँ। इसके लिए आपके आशीर्वाद का आकांक्षी हूँ। इति—"

पत्र छोटा था। किन्तु जिन्हें बड़े-बड़े लोगो के सैकडो पत्र प्रतिदिन मिलते हैं वे आठ वर्ष के एक साधारण बच्चे के हिज्जे की भूलो से भरे पत्र का उत्तर क्यो देने लगे? उनके पास इतना समय कहाँ है? उन्हें तो और बड़ी-बड़ी बातो में माथापच्ची करनी पड़ती है।

मगर नहीं, एक दिन सचमुच ही तालस्तोय का उत्तर आया।

एक मकान के बाहरी कमरे मे एक सज्जन और एक स्त्री बैठे थे। तभी एक डाकिया उनके हाथ में एक पत्र दे गया। पहले उन्होंने सोचा कि पत्र उन्हीं के नाम से है। लेकिन ऐसा था नहीं। पत्र पर उनके आठ वर्ष के लड़के का नाम-पता लिखा था।

आश्चर्य है। आठ वर्ष के लड़के को किसने पत्र लिखा?

उन्होंने जल्दी-जल्दी लिफाफा खोला। पत्र लिखने वाले का नाम पढ़कर अवाक् रह गये। पत्र किसी दूसरे ने नहीं, बल्कि प्रख्यात साहित्यकार लियो तालस्तोय ने स्वयं लिखा था।

लिखा था—

Serycjba Yermoluisky
Snegovaya St. 7 Flat no. 1 Villinus.
Yasanaya Polyana.

March 25, 1909

Your wish to become a writer is a wicked wish, for it means that y u want worldly fame for yourself. It is just wicked vanity. One should have only one desire to be kind, not to offend, nct to camsure and not to hate any one, but to love everybody. Leo Tolstoy.

तुम्हारी लेखक बनने की इच्छा एक बुरी इच्छा है, क्योंकि इसका मतलब यह निकलता है कि तुम पार्थिव ख्याति चाहते हो। यह बिलकुल एक घटिया आत्म प्रदर्शन है। किसी को एक ही इच्छा होनी चाहिए और वह यह कि वह दयालु हो और किसी को ठेस न पहुँचाये न उस पर दोषारोपण करे, बल्कि सबको प्यार करे। लियो तालस्तोय

आठ वर्ष के एक साधारण वालक का लिखा हुआ था। तालस्तॉय ने पत्र मे जो कुछ लिखा था उसका तात्पर्य समझने की आयु उस समय वालक की नही थी। वालक के मन मे यह समस्या पैदा हुई तो क्या लेखक होना बुरा है?

यह समस्या जटिल है। डाक्टर, इंजीनियर, वकील, वैरिस्टर, एकाउटेंट होने की इच्छा बुरी नहीं है। तो क्या केवल लेखक साहित्यकार होने की इच्छा ही बुरी है? क्या यश-प्रतिष्ठा प्राप्त करने की इच्छा भी बुरी है?

हालांकि सभी तो अर्थ, यश और प्रतिष्ठा चाहते हैं।

किन्तु वालक के माता-पिता बहुत आनन्दित थे। वे तो कृतार्थ हो गये। इससे बढ कर आनन्द की और क्या बात हो सकती थी कि उनके लड़के को तालस्तोय ने पत्र लिखा। ग्राम मे लडका रातों रात विख्यात हो गया।

रास्ते से जाते समय दूसरे लोग उँगली से इशारा करके दिखाते हैं और कहते हैं, उस लड़के को देखो।

घर पर भी भीड़ इकट्ठी होने लगी। दूर-दूर के गाँवों से लोग बाद में लड़के को और उस पत्र को देखने के लिए आने लगे। समस्त संसार के लोग जिस महापुरुष को देखने के लिए उत्कण्ठित हैं, उन्होंने ही पत्र लिखा है और सो भी अपने हाथ से। यह एक प्रकार से विस्मयपूर्ण घटना है।

उसके बाद एक और रोचक घटना घटी।

उस गाँव के प्रत्येक घर से एक-एक पत्र तालस्तॉय के पास जाने लगा। प्रत्येक व्यक्ति तालस्तॉय के हाथ का लिखा पत्र चाहने लगा अथवा कोई एक पुस्तक चाहता था। कोई लिखता उपदेश चाहिए, कोई लिखता आशीर्वाद चाहिए। कोई मिलना चाहता है। कोई हस्ताक्षयुरक्त फोटोग्राफ चाहता है।

यह वही युग था जब संसार मे सिनेमा नामक वस्तु आई नहीं थी। यह वही युग था जब मनुष्य का मूल्य अधिक था और रुपये-पैसे का मूल्य कम था। यह वही युग था जब मनुष्य को उनके गुण की विवेचना करके प्यार करता था, न कि उनके बैंक-वैलेंस की विवेचना करके। आधुनिक काल मे साहित्यकारों के लिए यह सम्मान सम्भवतः दुर्लभ है। क्योंकि ऐसा कौन साहित्यकार है जो अर्थ के विनिमय मे आत्मसम्मान को ठुकरा न दे। आज यह बात किसी से छिपी नहीं है कि पन्द्रह पैसे का एक पोस्टकार्ड लिखने पर साहित्यिक सभा के लिए सभापति मिल जाता है। आज के साहित्यकार हाथ मे पुस्तक लिये सिनेमा-अभिनेत्री के घर जाकर धरना देते हैं। इसलिए कि वह उनकी कहानी पर फिल्म बना लें।

बंगाल की एक श्रेष्ठ अभिनेत्री ने एक दिन मुझसे कहा था—बंगाल के श्रेष्ठ लेखक की अमुकचन्द्र अमुक स्वयं मेरे घर आकर मुझे अपना लिखा उपन्यास भेंट कर गये हैं। आप क्या उनसे भी बड़े हैं?

एक बार की घटना बता रहा हूँ।

उन दिनों 'साहब बीबी गुलाम' के लिए सिनेमा-संसार में छीना-झपटी चल रही थी। यू थियेटर्स की ओर से छोटाई मित्र महाशय ने एक पत्र लिखा कि वे लोग मेरे 'साहब बीबी गुलाम' उपन्यास पर फिल्म बनाना चाहते हैं।

जिस न्यू थियेटर्स कंपनी ने एक दिन फिल्म बना कर सम्पूर्ण भारतवर्ष में हलचल मचा दी थी, वही कंपनी मेरी कहानी पर फिल्म बनाने के लिए मेरे दरवाजे पर आकर खड़ी हुई, इस पर ठीक विश्वास नहीं कर सका।

इस प्रकार की घटना पर अन्य लोगों की क्या अनुभूति होती, यह मैं नहीं बता सकूँगा। पहले मुझे रोमांच सा हुआ। यदि केवल रोमांच होता तो कोई हानि नहीं थी। साथ-साथ मुझे भय भी लगा।

भय होने का कारण यह था कि मैं सदा ओट में रहने वाला आदमी हूँ। सबकी आँखों की ओट में रहने से मैं बड़ा निश्चिंत रहता हूँ।

किन्तु छोटाई मित्र महाशय को उन दिनों जो लोग जानते थे उनका कहना था कि मेरे जैसे दसियों लेखकों को वे एक हाट में खरीद कर दूसरे हाट में बेच सकते हैं। छोटाई मित्र का वास्तविक असली नाम था यतीन मित्र। लेकिन वह छोटाई मित्र के नाम से ही कलकत्ता में प्रसिद्ध थे। उनके जैसे आदमी से मिल सकना ही उन दिनों एक असाध्य-साधन था। उन दिनों उनसे मिलनेवालों की कमी नहीं थी। उनकी जरा-सी कृपा-दृष्टि पड़ते ही अनेक लोग रातों-रात विख्यात हो जाते।

छोटाई मित्र के सम्बन्ध में जो कुछ किंवदन्तियाँ हैं वे सब मैंने प्रफुल्ल मित्र से सुनी थीं। प्रफुल्ल मित्र को आज कोई नहीं पहचानता। किन्तु किसी समय में प्रफुल्ल मित्र ने एक गीत को रेकार्ड करा कर रसिक समाज में नाम कमाया था। गीत की प्रथम पंक्ति मुझे अब भी याद है : साड़ा न पेये गेल चले ''''''।

वही प्रफुल्ल मित्र बात-बात पर ताना मारता था। कहता, "तुम मित्र कुल के कलंक हो।"

मैं कहता, "तो क्या तुम मित्र-वंश के गौरव हो?"

प्रफुल्ल कहता, "नहीं, मैं नहीं, छोटाई मित्र है। छोटाई मित्र मित्र वंश का कुल-तिलक है।"

प्रफुल्ल मित्र के मुख से और भी अनेक कहानियाँ सुनते-सुनते उस समय मेरे मन में छोटाई मित्र के सम्बन्ध में एक भय उत्पन्न हो गया था। प्रफुल्ल की बात को मिथ्या समझने का मुझे कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता था। क्योंकि प्रफुल्ल मित्र मेरी तरह शर्मीला आदमी नहीं है। वह उसी आयु में सारे हिन्दुस्तान का भ्रमण कर आया था। लाहौर में वह किसी सिनेमा-कंपनी में कैमरामैन था। काननदेवी से वह घनिष्ठ रूप से परिचित था और सो भी उस युग की कानन देवी से।

मैं उस समय अवाक् होकर उसकी सब कहानियाँ सुना करता था। तब मैं बी०ए० का छात्र था। कालेज में छुट्टी होते ही किताब-कापी लिये सीधे अक्रूरदत्त लेन स्थित हिन्दुस्तान रेकार्डिंग कंपनी के कार्यालय में चला आता था। मेरे वहाँ जाने का एक

कारण था। मैं रेकार्ड के लिए गीत लिखता था। अनुपम घटक मेरे उन गीतों को स्वर देता था। उन गीतो को राधा रानी, आशालता इत्यादि विख्यात गायक-गायिका गाते थे। घटनाक्रम से उस समय मैंने भी अपने लिखे एक गीत का रेकार्ड तैयार कराया था। लेकिन वह गीत अधिक लोकप्रिय नहीं हुआ। आज सोचता हूँ कि भाग्य अच्छा था जो वह गीत लोकप्रिय नहीं हुआ।

साहित्य-संसार का आदमी होने पर भी मैं उस समय किस ग्रह के फेर में सिनेमा मे घुस पडा था, इसका मुझे भी ध्यान नही था। अनुपम मुझे दो-एक दिन न्यू थियेटर्स के स्टूडियो के भीतर भी ले गया था। लेकिन सब कुछ देख कर मुझे उस समय भय लगा था। विशेष कर बंगाल के कतिपय साहित्यकारो के अधःपतन को देखकर मैं भय-भीत हो उठा था। साहित्यकार यदि धर्मच्युत हो जाता है तो फिर उसका कोई निस्तार नही ... बचपन से ही मुझे बराबर यही शिक्षा मिलती आयी थी। ख्याति के लिए नहीं, अर्थ के लिए नही, लोकप्रिय होने के लिए नही, यहाँ तक कि परमार्थ के लिए भी नहीं, साहित्य के लिए ही साहित्य की सेवा करना उचित है। मेरी यही धारणा थी। लेकिन छुटपन से ही मैं देखता कि साहित्य के तुलसी-प्रांगण को त्याग कर दो साहित्यकार सिनेमा की विशालभूमि मे वास कर रहे हैं। कष्ट के पथ को त्याग कर सहज पथ से अपनी इन्द्रिय-वृत्ति को चरितार्थ कर रहे है।

उस दिन सचमुच ही मुझे बड़ा भय लगा था।

सोचता था, कहीं मेरे भाग्य मे भी यह दुर्घटना न लिखी हो। कहीं मैं भी इन्द्रिय-वृत्ति चरितार्थ करने के निमित्त सहज पथ पर ही न चल पड़ूँ।

लेकिन तब आँखों के सामने रवीन्द्रनाथ, शरतचन्द्र, तालस्तॉय, बालजाक और डिकेन्स थे, जिनके चरणों के नीचे बैठकर विनीत शिक्षार्थी की तरह मैंने लिखना सीखा था। उनकी रचनाएँ पढकर मेरी धारणा हो गयी थी कि साहित्यकारों का सबसे बड़ा मूलधन संयम है। क्लेश, ग्लानि और गन्दगी से जुड़े रहने पर भी साहित्यकार को उनसे असंपृक्त रहना होगा। तभी साहित्य का सत्य साहित्यकार के जीवन में मूर्त हो सकेगा।

इसीलिए जब मैंने एम०ए० मे प्रवेश किया तब मन को स्थिर कर लिया। समझ गया कि यदि मुझे साहित्यकार होना है तो गीत, सिनेमा इत्यादि से अपने को दूर रखना होगा। क्योंकि वे सब साहित्य के प्रतिरोधक तत्व हैं। छात्रो के लिए अध्ययन जिस प्रकार तपस्या है, साहित्यकारो के लिए जीवन-अध्ययन उसी प्रकार एक तपस्या है। साहित्य के लिए नियमपूर्वक दिन का अधिकांश समय बिताना होगा। विलास और संभोग से मन को मुक्त करना होगा।

जानता हूँ, बहुतेरे लोग इसे पुरातन-पंथी मन का द्योतक समझेंगे। लेकिन मैं उसी समय से ध्रुव विश्वास के लिए अपने गन्तव्य स्थल की ओर अग्रसर होने की चेष्टा कर रहा हूँ। प्रश्न पुरातन पंथी या नवीन पंथी का नहीं है। क्योंकि पहले ही मैं रवीन्द्र-नाथ की उक्ति उद्धृत कर चुका हूँ कि 'आश्वस्त होने की यही बात है कि आधुनिक

चिरकाल तक आधुनिक रहेगा, उसकी आयु इतनी नहीं है।' यह बात रवीन्द्रनाथ ने चाहे जिस सन्दर्भ में कही हो, चाहे जिसको लक्ष्य बना कर कही हो, मैं उसे अपने अनुरूप ग्रहण कर सिद्धि के पथ पर एकात्म होकर चल रहा था।

लेकिन पहला संकट सिनेमा की ओर से ही आया।

छोटाई मित्र महाशय के आक्रमण से त्राण पाने के लिए तब मैं भागा-भागा फिरता था और क्या वे अकेले ही थे? उस समय साहब बीबी गुलाम के बहुतेरे खरीददार थे, नन्दन पिक्चर्स के हारु बाबू, नारायण पिक्चर्स के नारायण बाबू। इनके अतिरिक्त कानन देवी की ओर से हरिदास भट्टाचार्य और अन्त में न्यू थियेटर्स की ओर से मित्र महाशय। अभिमन्यु की तरह मुझ पर दसों दिशाओं से आक्रमण होने लगा।

इसमें कोई दूसरा साहित्यकार आनन्दित होता, पुलकित होता, विचलित-विगलित होता। मगर मैं भयभीत हो गया। भयभीत होने का कारण मेरे साहित्यिक मन के गठन की प्रकृति थी।

मन ही मन सोचा, मैंने ऐसी कौन-सी पुस्तक लिखी है जिसके इतने चाहनेवाले हैं? मैं तो शरतचन्द्र नहीं हूँ, बंकिमचन्द्र नहीं हूँ।

घटना तो बाद में सुनी। सचमुच वह घटना विषय-बुद्धि-सम्पन्न मनुष्य के उपयुक्त विचार जैसी ही घटना थी।

एक विवाह के घर में एक नववधू को विवाह के अन्यान्य उपहारों के साथ मेरे उपन्यास 'साहब बीबी गुलाम' की सत्ताइस प्रतियाँ मिलीं। एक ही पुस्तक की सत्ताईस प्रतियाँ उपहार में पाना निश्चय ही एक अभिनव घटना थी। मानता हूँ, इससे नववधू की हानि हुई परन्तु प्रकाशक को आर्थिक लाभ और एक लेखक को आर्थिक लाभ हुआ।

सिनेमा के व्यवसाय से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित एक सज्जन की दृष्टि इस दृश्य पर पड़ी।

पूछा, "यह कौन-सी पुस्तक है?"

एक व्यक्ति ने कहा, "साहब बीबी गुलाम।"

"यह क्या है? किसके सम्बन्ध में लिखी गयी है?"

सज्जन पुस्तक को देख-सुन कर और उसकी परीक्षा कर बोले, "लगता है, कोई उपन्यास है।"

"किसकी लिखी हुई है?"

सज्जन ने देख कर बताया, "विमल मित्र की।"

वे उसी समय हिसाब करने लग गये। एक ही विवाह के घर में एक ही पुस्तक की सत्ताईस प्रतियाँ। तब तो अवश्य ही बहुत लोकप्रिय पुस्तक है। इस पुस्तक पर यदि फिल्म बनायी जाय तो जितने लोगों ने यह पुस्तक पढ़ी है, वे सभी उसे देखेंगे। सभी यदि एक बार भी उस फिल्म को देख लें तब तो फिल्म का खर्च निकल आयेगा और यदि फिल्म अच्छी बन गयी तो फिर कहना ही क्या। बहुत लाभ होगा। उसी समय और उसी स्थान पर उन्होंने मन ही मन एक बजट तैयार कर लिया और उसके

दूसरे ही दिन वे भागे-भागे निर्माता के घर गये, निर्माता वितरक के घर पर। आलोचना हुई। निश्चय हुआ कि कहानी तो खरीदनी होगी, एवं उसी के फलस्वरूप छोटाई मित्र महाशय विमल मित्र का घर खोजने लगे।

और छोटाई मित्र ही नहीं, उस विवाह के घर में उसी समय दो-चार और व्यक्तियों तक बात पहुँच चुकी थी। सभी विमल मित्र का पता लगाने लगे।

इधर छोटाई मित्र महाशय, को जब मेरी ओर से उत्तर नहीं मिला तो एक दिन वे सशरीर मेरे घर पर आ पहुँचे।

उन्होंने स्वयं अपना परिचय दिया। "बोले, अरे महाशय आप मेरे इतने घनिष्ठ आत्मीय हैं, यह मैं नहीं जानता था।"

"कैसे ?" मैंने पूछा।

उन्होंने समझाया। उनसे मेरा दूर का कोई साधारण सम्बन्ध है, इससे जिस तरह वे अपरिचित थे उसी तरह मैं भी अपरिचित था। कोई दूसरा होता तो क्या होता पता नहीं, परन्तु मुझे विशेष कृतार्थता का अनुभव नहीं हुआ। कारण उस समय मुझे तालस्तोय की बात याद आ रही थी · "योर डिजायर टु बि ए राइटर इज् ए विकेड विश, फॉर इट मीन्स दैट यू वान्ट वर्ल्डली फेम फॉर योरसेल्फ।"

ख्याति के लिए नहीं, कला के लिए नहीं, लोकप्रियता के लिए नहीं, यहाँ तक कि परमार्थ के लिए भी नहीं। बल्कि साहित्य के लिए ही साहित्य-सेवा उचित है। यही मेरी धारणा थी। लेकिन छोटाई मित्र इतनी सरलता से मुझे छोड़ने वाले व्यक्ति नहीं थे।

जाते समय बोले, "तो फिर आपने मुझे 'साहब बीबी गुलाम' दे दिया न ?"

मैंने कहा, "मैं आपको ज़ुबान देने में असमर्थ हूँ। क्योंकि श्री भट्टाचार्य आपके पहले ही मेरे सामने प्रस्ताव रख चुके हैं।"

छोटाई मित्र बोले, "श्री भट्टाचार्य कौन ?"

मैंने कहा, "यह मैं नहीं जानता। कनाईलाल सरकार से सुना था।"

"कनाईलाल सरकार कौन है ?"

मैंने कहा, "आनन्द बाजार पत्रिका के डेवलपमेंट आफिसर हैं। वे चाहते हैं कि मैं किताब कानन देवी को दूँ।"

छोटाई बाबू का चेहरा एकदम गम्भीर हो गया। मानो, पराजित हो गए हों। बोले, "लेकिन आपने उन्हें जबान दी नहीं है न ?"

मैंने कहा, "नहीं, ज़ुबान मैंने किसी को नहीं दी है।"

छोटाई बाबू ने कहा, "तब ठीक है, किसी को जबान देने के पहले एक बार मुझसे पूछ लीजिएगा।"

यह कहकर वे चले गये और मैंने मुक्ति की सांस ली। मुझे लगा, जैसे मैंने पुनः अपना विश्वास पा लिया है। 'साहब बीबी गुलाम' तो केवल कहानी नहीं, कहानी के अतिरिक्त यदि कुछ है तो वही है।

मेरे प्रकाशक ने कहा, "नहीं विमल बाबू, सिनेमा के लिए आप 'साहब बीबी गुलाम' को न बेचें। आपने ठीक ही किया है।

मैं और भी निश्चिन्त हो गया। मन से सारा जंजाल दूर हो गया। मन को बड़ी शान्ति मिली, जैसी शान्ति रूस के उस आठ वर्ष के बालक को मिली थी। लेखक होने की इच्छा सचमुच ही निकृष्ट इच्छा है। उसमें यश-प्राप्ति की आकांक्षा रहती है। दूसरों पर दया करने की इच्छा ठीक है, दूसरों की भलाई करने की, सबका कल्याण करने की इच्छा ठीक है।

लेकिन उस लड़के की देखादेखी गाँव के और अनेक बालकों के पिताओं ने भी अपने पुत्रों से तालस्तॉय को पत्र लिखाया। सबने एक ही बात लिखी। अच्छे कागज पर शुद्ध भाषा और सुडौल अक्षरों में सबने यह लिखा : श्रद्धेय लियो तालस्तॉय, मैं बड़ा होकर लेखक बनना चाहता हूँ। आप मुझे आशीर्वाद दीजिए।

लेकिन तब १९१० ई० था। वे सब पत्र तालस्तॉय के पास पहुँचे या नहीं, क्या पता। क्योंकि उसी वर्ष १९१० ई० के २० अक्तूबर को उनका देहावसान हो गया। इसलिए उस गांव के और किसी बालक को अपने पत्र का उत्तर नहीं मिला।

लेकिन उसके बाद ही एक और घटना घटी जिसके फलस्वरूप मुझे सिनेमा के सम्पर्क में आना पड़ा।

मुझे सर्वदा प्रतीत होता रहा है कि सिनेमा एक अन्य प्रकार का शिल्प है। साहित्य की बुनियाद पर खड़े होने के बावजूद सिनेमा का आवेदन निकृष्ट कोटि का आवेदन होता है। मैंने सिनेमा देखा है एवं भूल गया हूँ परन्तु किसी पुस्तक को पढ़कर भूलना कठिन है। सिनेमा देखने ही उसका अन्त हो जाता है मगर पुस्तक बहुत दिनों तक मन को खींचती रहती है।

हम लोगों के बचपन से ही सिनेमा बाजार पर छाया था। 'ऋषि का प्रेम', 'दुर्गेशनन्दनी', 'कृष्णकान्त का वसीयतनामा' आदि ने हमें सोचने के लिए विवश किया था, उत्तेजित किया था और रोमांचित किया था, लेकिन हम उन्हें अपना प्रेम नहीं दे सके थे। अधिक से अधिक मन में होता कि किस प्रकार और किसको पकड़ने से सिनेमा में अभिनय करने का अवसर मिले।

लेकिन पुस्तक?

पुस्तक का आवेदन शताब्दी की सीमा-रेखा का अतिक्रमण कर दिगन्त में जाकर एकाकार हो जाता है। इसी कारण से एक ही कहानी पर बार-बार फिल्म बनायी जाती है। बार-बार उन चरित्रों को देखने की इच्छा होती है — जिन्होंने पुस्तक के पृष्ठों पर सजीव होकर पाठकों को हँसाया है, रुलाया है और सोचने को विवश किया है। दर्शक उस फिल्म को देखकर प्रसन्न नहीं होते हैं। इसीलिए वे उन्हें नये सिरे से देखना चाहते हैं। चूंकि उन्हें देखना चाहते हैं इसलिए निर्देशक उस उपन्यास पर फिल्म बनाते हैं।

इस सन्दर्भ में एक लेखिका की बात याद आती है। उनका नाम मार्गरेट मिचेल था।

अनेक लेखकों ने पुस्तक लिखकर बहुत ख्याति अर्जित की है, परन्तु मार्गरेट मिचेल की तरह एक ही पुस्तक लिखकर आज तक किसी ने इतनी ख्याति नही प्राप्त की है। पुस्तक का नाम है 'गान विद द विण्ड'।

इस उपन्यास को लिखने का एक इतिहास है।

वह एक सीधी सादी औरत थी। विशेष शिक्षा-दीक्षा नहीं मिली थी। एक दिन अस्पताल में हठात् उसके मन मे विचार आया कि मै एक उपन्यास लिखूंगी। जीवन में उसके पहले उसने कभी उपन्यास नहीं लिखा था। उपन्यास कैसे लिखा जाता है, उसे यह भी ज्ञात न था। केवल अपनी माँ और दादी के मुख से अपने देश की कहानी सुनी थी। सुनते-सुनते उसे कहानियाँ कंठस्थ हो गयी थी। केवल अस्पताल मे चुप-चाप सोए रहना उसे एकरस जैसा प्रतीत होता था।

एक दिन पति आकर कागज-कलम दे गया।

कागज-कलम तो दे गया पर उपन्यास कैसे लिखे ? वह कुछ नही जानती थी। केवल देश के अतीत की कहानी याद थी। वह भी पुस्तक मे पढी हुई नहीं, माँ और दादी से सुनी हुई कहानी।

दादी युद्ध-विग्रह, राजा-प्रजा और ग्रामवासियों के सुख-दुःख की कहानी सुनाती।

मार्गरेट कहती, "कोई न पढ़े, मैं समय काटने के लिए लिखती हूँ। दिन-भर लेटे-लेटे अकेली क्या करूँ ? कुछ न कुछ तो करना ही होगा।" कुछ न कुछ करने के उद्देश्य से ही वह किताब लिखी गयी थी, लेकिन उसी पुस्तक से एक दिन लाखों लाखों का उपार्जन होगा, इसकी वह लड़की उस समय कल्पना भी न कर पाई थी।

केवल मार्गरेट ही क्यों, उसके पति भी कल्पना नही कर पाए थे। अस्पताल मे उसे बहुत दिनो तक रहना पडा। अस्पताल न आयी होती तो पुस्तक लिखने की इच्छा भी न होती। अस्पताल मे उसे एक दुर्घटना के कारण भर्ती होना पड़ा था।

पति-पत्नी रास्ते से पैदल जा रहे थे। तभी अचानक एक गाड़ी ने मार्गरेट को धक्का दिया और धक्का लगने के कारण ही उसे अस्पताल जाना पड़ा और अस्पताल जाने के कारण ही किताब लिखी गयी।

एक दिन उस देश के प्रकाशकों के बीच किसी प्रकार यह बात पहुँच गयी कि मार्गरेट मिचेल नामक एक अख्यात महिला ने रोगशय्या पर पड़े-पड़े एक उपन्यास लिखा है और उसे जिसने भी पढा है उसे वह अच्छा लगा है।

उन लोगों के देश के प्रकाशक हमारे देश के प्रकाशक जैसे नहीं हैं। वे अधिक बहुदर्शी और उत्साही हैं। पुस्तक पाठकों के बीच कैसे पहुँचायी जाय इसके बारे मे वे लोग बहुत से तौर-तरीके जानते हैं।

एक दिन किसी से सूचना मिलने पर वे लोग आए। मार्गरेट संकोच मे पड़ गयी। मैं साधारण आदमी हूँ। मैं उपन्यास लिखूं और वह उपन्यास छपेगा ?

मार्गरेट का मुख लज्जा से लाल हो गया।

लेकिन पति ने उस उपन्यास की पाण्डुलिपि पढ़ने को दी। वे उस पुस्तक को ले

गये। बोले, "पुस्तक का नाम अद्भुत है। 'गान विद द विण्ड'—किन्तु इसके माने ?"

मार्गरेट का पति बोला, "महाशय, यह मैं नहीं जानता। मैंने पुस्तक पढ़ी भी नहीं है। आप पढ़कर देखें, यदि अच्छी लगे तो छापिये और अच्छी न लगने पर भी हमें दुःख नहीं होगा। छापने के लिए तो मेरी पत्नी ने यह किताब नहीं लिखी है, केवल समय काटने के लिए लिखी है।"

प्रकाशकों ने पूछा, "रायल्टी का कितना पैसा देना होगा ?"

पति बोला, "जो सबको देते हैं। आम तौर से जो दिया जाता है वही दीजिएगा। जैसे-जैसे पुस्तक की बिक्री हो वैसे-वैसे दीजिएगा।"

प्रकाशक जाते समय बोल गए "हम सूचना देंगे।"

किन्तु सूचना के साथ ही अनुबन्ध-पत्र भी आया और चेक भी आया। मेकमिलन कंपनी एक विशाल प्रकाशन-संस्था है। उसके वाइस प्रेसिडेंट एच० एम० लैथम स्वयं लेखिका के सामने उपस्थित हुए। बोले, "इस तरह का उपन्यास मैंने पहले नहीं पढ़ा है।"

अनुबन्ध पत्र पर हस्ताक्षर हो गया। चेक का भुगतान भी मिल गया। एक दिन पुस्तक भी बाजार में आ गयी।

पुस्तक प्रकाशित होते ही लोकप्रियता का जो तूफान चलने लगा, वह उपन्यास के इतिहास में अभिनव था। सम्पूर्ण अमरीका में उन दिनों फ्रैंकलिन डी० रुजवेल्ट सबसे अधिक प्रसिद्ध व्यक्ति थे। ठीक उसके बाद ही मार्गरेट मिचेल की जनप्रियता का स्थान था।

यह लोकप्रियता क्या वस्तु है, पुस्तकों के बाजार में मार्गरेट मिचेल को इसका जैसा अनुभव हुआ, संसार के और किसी भी लेखक को वैसा अनुभव नहीं हुआ था। प्रथम दिन ही पुस्तक की पचास हजार प्रतियाँ बिक गयीं।

केवल मार्गरेट को ही आश्चर्य नहीं हुआ, समस्त अमरीका के लोगों को आश्चर्य हुआ। इस प्रकार की पुस्तक भी लिखी जाती है, इस प्रकार की पुस्तक भी लिखी जा सकती है ?

यह पुस्तक किसने लिखी है ? वह कहाँ रहती है ? उसका चेहरा कैसा है ?

संसार के इतिहास में आज तक जितने उपन्यास लिखे गये हैं, जितने लेखक-लेखिकाओं ने जन्म लिया है, सब 'गान विद द विण्ड' के सामने तुच्छ हो गये। सब मार्गरेट मिचेल के सामने बौने लगने लगे। पाठकों को लगा इतने दिनों बाद सचमुच ही एक लेखिका प्रकाश में आयी है।

पता लगाकर लोग उसके घर पर उपस्थित हुए।

"किससे मिलना है ?"

"मिसेस मार्गरेट मिचेल इसी घर में रहती हैं ?"

पति ने उत्तर दिया, "हाँ"।

"एक बार उनसे मिलना चाहते हैं।"

पति ने पूछा, क्या काम है ?"

उन्होंने कहा, "हम एक बार केवल उन्हें देखना चाहते हैं।"

लेकिन देखेंगे किसको ? वह लेखिका तो तब ख्याति के बोझ से थर-थर काँप रही थी। अख्याति की तरह ख्याति भी तो एक बोझ है। ख्याति जब मनुष्य पर आक्रमण करती है तब वह आक्रमण बड़ा ही घातक होता है और वह ख्याति कितनी घातक है, यह केवल ख्यातिवान् ही जानता है। अख्याति मनुष्य को कष्ट देती है पर ख्याति उसे तिल-तिल दग्ध करती रहती है। अख्याति की यातना असह्य होती है लेकिन ख्याति की यातना सहनशील के परे की वस्तु होती है। अख्याति बहुतों को एकाकी बना देती है पर ख्याति सबको निरावरण कर देती है। ख्याति सबको दूर ठेल देती है।

मार्गरेट मिचेल छोटे-मोटे मध्यवित्त परिवार की लड़की थी। मध्यम श्रेणी की। पढाई करके डाक्टरी पढ़ने मेडिकल कालेज मे प्रविष्ट हो गयी। लेकिन एक ही वर्ष बाद माँ की मृत्यु के कारण उसे पढाई बन्द करनी पड़ी। क्योंकि लड़की अगर कालेज जाती है तो गृहस्थी की देख-भाल कौन करेगा।

सो गृहस्थी की देख रेख करते हुए मार्गरेट ने एक दिन समाचार-पत्र के कार्यालय मे नौकरी कर ली। उस समय उसकी उम्र बाईस वर्ष की थी। घर मे माँ नही थी परन्तु बाप और भाई थे। उन लोगो के लिए रसोई पकाने के बाद वह कार्यालय जाती समाचार पत्र के रविवासरीय संस्करण का काम करने। इस प्रकार जीवन चल रहा था। पचीस वर्ष की आयु मे एक दिन उसका विवाह हो गया। उसके बाद जब छब्बीस वर्ष की हुई तो एक दिन अपने पति के साथ पैदल जा रही थी, अचानक एक गाड़ी से धक्का लग जाने से पाँव की हड्डी टूट गयी और उसे तत्क्षण अस्पताल जाना पड़ा।

१९२६ ई० से १९३६ ई० ये दस वर्ष पुस्तक लिखने मे लगे। उस दस वर्षो को उसने आनन्द से विताया था। उसके बाद से अकल्पित ख्याति की यातना आरम्भ हुई। उस पुस्तक का सोलह भाषाओं में अनुवाद हुआ। चारो ओर से उसके पास हजारो पत्र आने लगे। इतने पत्र क्या पढे जा सकते हैं ? उसके बाद है पुरस्कार। पुस्तक पर एक के बाद एक पुरस्कार मिलने लगा। १९३७ ई० मे पुलित्जर पुरस्कार मिला। मार्गरेट जिस कालेज में पढ़ती थी उसने १९३९ ई० मे उसे एम० ए० की डिग्री प्रदान की।

तब तक अर्थात् १९३९ ई० के मध्य पुस्तक की बीस लाख प्रतियाँ बिक चुकी थीं।

लेकिन इतना कुछ जिसके लिए हो रहा है वह मार्गरेट कहाँ है ? वह किसी से नहीं मिलती, किसी पार्टी मे नहीं जाती। उसने तब धीरे-धीरे अपने को ख्याति की भीड मे अलग कर लिया था। किसी के मिलने आने पर वह मिलना नहीं चाहती।

पति कहता, "तुम बाहर निकल कर उन लोगों से मिलो। वे बहुत बडे लोग हैं, उनसे मिलने पर तुम्हारी बहुत ख्याति होगी और अधिक पैसा आयेगा।"

मार्गरेट कहती, "नहीं, मुझे ख्याति अच्छी नही लगती, मुझे रुपया-पैसा अच्छा नहीं लगता। मुझे एकान्त मे ही रहने दो।"

"लेकिन सारे संसार के लोग तुम्हें देखना जो चाहते हैं। उन्हें कैसे दूर हटाऊँ ?"

मार्गरेट कहती, "यह मैं नहीं जानती।"

पति कहता, "जानती हो तुम्हारी ख्याति कितनी फैल गयी है, क्या उसकी तुम कल्पना कर सकती हो?"

मार्गरेट कहती, "मैं जानना नहीं चाहती। मुझे ऐसे ही अच्छा लगता है।"

वास्तव में मार्गरेट ख्याति की पीड़ा सहन नहीं कर पा रही थी। प्रतिदिन घर पर हजारों पत्र आते थे। सबके सब पत्रों का उत्तर देना क्या सरल है? पत्रों का उत्तर देने के लिए दो सेक्रेटरी रखने पड़े। वे दिन रात केवल पत्रों के उत्तर ही देते थे।

अन्ततः मार्गरेट अपने देश में और नहीं रह सकी और ख्याति अच्छी नहीं लगी। बोली, "चलो, कहीं भाग चलें।"

पति बोला, "कहाँ भागोगे?"

मार्गरेट बोली, "कहीं भी। ऐसी जगह चलो, जहाँ जाने पर कोई मुझे पहचाने नहीं।"

पति बोला, "ऐसा कैसे होगा? तुम्हारा नाम सर्वत्र फैल चुका है। सभी जगह लोग तुम्हें पहचान लेंगे।"

अन्ततः वह सचमुच ही वहाँ नहीं रह पायी। एक दिन वे दोनों अपना देश एटलांटा छोड़ कर गाँव की ओर चल दिये। सोचने पर आश्चर्यचकित होना पड़ता है कि जिस ख्याति के लिए सभी उत्कण्ठित और लालायित रहते हैं वही ख्याति एक दिन मार्गरेट के लिए दुर्वह हो गयी।

लेकिन गुणी का गुण क्या दबाकर रखा जा सकता है? गुण आग जैसा होता है। एक बार फैलना आरम्भ होता है तो उसे रोका नहीं जा सकता। पुस्तक की लाखों प्रतियों की खपत होने लगी।

मार्गरेट के अन्तिम जीवन में हिसाब किया गया था। पुस्तक प्रकाशित होने के तेरह वर्ष बाद तक अड़तीस लाख प्रतियों की बिक्री हुई थी। केवल अमरीका में ही प्रति वर्ष पचास हजार प्रतियाँ बिक जाती थीं। जर्मनी में जब नात्सी पार्टी का अधिकार हुआ तो उस पुस्तक की प्रतियाँ जला दी गयीं। अमरीका के अतिरिक्त २१ देशों में बीस लाख प्रतियाँ बिकीं। उसके बाद जाली पुस्तक चली। कितने प्रकाशक कितनी लाख जाली पुस्तकें छाप कर बड़े आदमी हो गये, उसकी कोई गिनती नहीं। आज तक उसके हिसाब का किसी को पता नहीं चला।

मगर कठिनाई हुई लेखिका के साथ।

प्रकाशक उस समय भी उसके पीछे पड़े हुए थे—मैडम और एक ऐसी ही पुस्तक लिखिये। कुछ रुपये अग्रिम ले लीजिए।

लेकिन मार्गरेट ने उन पत्रों का कोई उत्तर नहीं दिया।

अन्ततः जब मार्गरेट कहीं नहीं मिली तब लोग उसकी खोज में चारों ओर निकल पड़े। प्रायः दस-बारह महिलाएँ कहने लगीं उन्हीं का नाम मार्गरेट है। कितनी जाली मार्गरेट निकल आयीं उसका कुछ ठीक नहीं। जाली पुस्तक और जाली लेखिकाओं के

निकल आने पर भी वास्तविक मार्गरेट की ख्याति मलिन नहीं हो सकी। दिन पर दिन, मास पर मास, वर्ष पर वर्ष मार्गरेट मिचेल की ख्याति उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी। उसकी ख्याति आकाश छूने लगी।

किन्तु जिस पुस्तक को इतना सम्मान मिला है, उसके सम्बन्ध में सिनेमा कंपनी क्यों चुप रहने लगी? वह भी तो उस उपन्यास से पैसा कमाना चाहती है। ख्याति जब आती है तब उससे लाभ उठाने के लिए मनुष्य के उत्पात् में कोई कमी नहीं रहती है। लेकिन उपन्यास की जो असली लेखिका थी उसे सिनेमा के सम्बन्ध में कोई चिन्ता नहीं थी। जिस प्रकार शरत्चन्द्र को नहीं थी अथवा किसी महान् लेखक को नहीं रहती है। या रहनी उचित नहीं। अथवा यह कहा जा सकता है कि चूंकि सिनेमा के लिए पुस्तक नहीं लिखी गयी इसी से सिनेमा कंपनी के लोग साहब बीबी गुलाम पर फिल्म बनाने के लिए उतावले हो गए।

मैंने बराबर देखा—कि जो लेखक सिनेमा की बात न सोचकर कहानी लिखता है उसकी कहानी के लिए सिनेमावाले लालायित रहते हैं। यही नियम है। इसी ने हालीवुड से जब मार्गरेट के नाम से पत्र आने लगे तो उन पत्रों का उत्तर किसी ने नहीं दिया। तुम लोग मेरी कहानी की लोकप्रियता से लाभ उठा कर पैसा कमाओगे तो इसमें मेरा कौन-सा स्वार्थ सिद्ध होता है। गरज तो तुमको है, अतः तुम्हीं बार-बार पत्र लिखो। वास्तव में मार्गरेट उन दिनों ख्याति की चोटी पर पहुँच गयी थी। प्रकाशक और लिखने के लिए उस पर दबाव डाल रहे थे। पाठक उससे एक और उपन्यास की माँग कर रहे हैं—तुम एक और पुस्तक लिखो मैडम। हमें और आनन्द दो। एक और पुस्तक लिखकर दिखा दो कि तुम सचमुच ही और अच्छी पुस्तक लिख सकती हो।

कई लोग कहने लगे—लेखिका अब चुक गयी है और कोई भी पुस्तक नहीं लिख सकेगी। किसी प्रकार एक पुस्तक लिख दी है।

पति ने कहा, "सुनती हो, तुम और एक पुस्तक लिखना आरम्भ करो न।"

वास्तव में लेखकीय जीवन की सबसे बड़ी त्रासदी यही है। केवल एक अच्छी पुस्तक लिखने से काम नहीं चलेगा। एक अच्छी पुस्तक और लिखनी पड़ेगी, जो इससे भी अच्छी हो। उसके बाद और भी अच्छी पुस्तक। उत्तरोत्तर अच्छी। एक पुस्तक लिख दी है इससे हम तुम्हें क्षमा नहीं करेंगे, एक और भी अच्छी पुस्तक तुम्हें लिखनी पड़ेगी। इसी प्रकार उत्तरोत्तर उत्कृष्ट से उत्कृष्टतर के संग्राम में जब तक तुम क्षत-विक्षत होकर निःशेष नहीं हो जाते हो, तब तक हम तुम्हें छोड़ेंगे नहीं। तुम्हारी मृत्यु तक हम तुम्हारा पीछा करते रहेंगे। न लिख सकोगे तो हम तुम्हारा तिरस्कार करेंगे।

मार्गरेट के मन में भी उस समय यही भय उत्पन्न हो गया था। वह एक और पुस्तक लिख सकती थी किन्तु पहली ही पुस्तक से उसे इतनी ख्याति कैसे प्राप्त हुई? ख्याति इस प्रकार उसके पीछे क्यों पड़ी है? तुम लोगों ने क्यों कहा कि इतना अच्छा उपन्यास इसके पहले कभी नहीं लिखा गया? क्यों इतनी प्रशंसा करके तुम लोगों ने मुझे भयभीत कर दिया?

मार्गरेट गाँव के एकान्त निर्जन में एक दिन पुनः कागज-कलम लेकर बैठी। दो-चार पंक्तियाँ लिखीं। लेकिन पसन्द नहीं आयीं। कागज की चिन्दी-चिन्दी करके फेंक दिया। पुनः दूसरा कागज लिया, फिर दो-चार पंक्तियाँ लिखीं और उसे भी फाड़ डाला। अन्त में हताश हो दोनों हाथों से मुँह ढक कर रोने लगी। हे ईश्वर, एक कहानी दे दो, इस कहानी से भी और अच्छी कहानी।

उस दिन की उस महिला की यातना किसी ने समझी या नहीं, कौन जाने। लेखक की लेखनी से जब रचना नहीं निकलती, उस समय की यातना को लिखकर बाहरी लोगों को बताना भी मूर्खता है। जो सब समझता है वही स्वामी उस समय कुछ नहीं समझा। एकमात्र वही लेखक समझता है जो भुक्तभोगी है।

पति उसको समझाता है, सान्त्वना देता है।

कहता है, "इसमें क्या होता है, तुम फिर चेष्टा करो। बहुत अच्छा होगा। निश्चय ही अच्छा होगा।"

मार्गरेट रोती है। उस रुलाई का अर्थ यदि अन्तर्यामी के कानों में पहुँचता तो हो सकता है मार्गरेट के ही जीवन का इतिहास कुछ और होता। मगर वैसा हुआ नहीं। उस समय ख्याति के आक्टोपस ने उसे पूरी तरह जकड़ लिया था। ख्याति उसे घर से बाहर ले गयी। बाहर से लापता कर दिया। इतनी ख्याति कभी किसी लेखक को प्राप्त हुई थी? लेखक को खोज पाने के लिए पाठक कब इस प्रकार व्याकुल हुए थे? कब असली लेखक के नाम से इस प्रकार जाली लेखकों का झुण्ड निकल आया था। कब इस प्रकार जाली पुस्तकें प्रकाशकों ने छापी थीं?

केवल एक पुस्तक तो है। उस एक ही पुस्तक का इतना सार्थक होना क्या उचित था? अच्छी पुस्तक लिखना अच्छा है लेकिन क्या इतनी अच्छी पुस्तक लिखना अच्छा है?

इसका उत्तर कौन देगा? मार्गरेट के जीवन का भाग्यदेवता इतना उदार होने पर भी इतनी शत्रुता क्यों कर रहा है? पुस्तक की कुछ कम प्रशंसा होती तो भाग्य-देवता की क्या हानि हो जाती? इतना धन, इतनी ख्याति और इतना प्रभाव एक साधारण महिला को दिये बिना क्या उसे नींद नहीं आ रही थी?

अन्त में हालीवुड का एक प्रतिनिधि घर आकर उपस्थित हो गया।

पति ने पूछा, "कैसे आए हैं?"

प्रतिनिधि ने कहा, "मैं बहुत दिनों से श्रीमती मार्गरेट मिचेल को खोज रहा हूँ। उनकी कहानी पर फिल्म बनायी जायेगी।"

पति ने कहा, "आप बैठिए, मैं उनको बुला लाता हूँ।"

उस दिन मैं कालेज स्ट्रीट में एम०सी० सरकार की पुस्तक की दुकान में छिप कर बैठा हुआ था। अचानक सुधीर दा (अर्थात् परलोकवासी सुधीरचन्द्र सरकार) ने एक सज्जन से मेरा परिचय करा दिया। उनका चेहरा पके आम जैसा गोरा और गोल था। सिर बिलकुल गंजा।

सुधीरदा बोले, "नन्दू बाबू, आप हो विमल मित्र हैं।"

नन्तु वाबू जैसे उछल पड़े, "अरे महाशय आप ही हैं और इधर हम आपको इधर-- उधर खोज रहे हैं।"

सुधीरदा बोले, "आप नन्तु बाबू के नाम से पुकारे जाते हैं पर आपका नाम है एम०एन० घोष। आप न्यू थियेटर्स के ला एडवाइजर हैं।"

नन्तु बाबू बोले, "चलिये, यहाँ बैठ कर दुनियादारी की बात नही हो सकती। काफी हाउस मे बैठकर बातचीत करेंगे।"

मैंने पूछा, "साहब बीबी गुलाम के बारे मे बातचीत करनी है ?"

नन्तु बाबू बोले, "या नही तो रूपवाणी सिनेमा हाउस चलें। वहाँ बिलकुल एकात है। काफी न पीनी हो तो श्यामबाजार के सन्देश खाएँगे।"

अन्ततः नन्तु बाबू मुझे 'रूपवाणी' सिनेमा हाउस के भीतर ले गये। उस समय वहाँ कोई अगरेजी फिल्म चल रही थी। मेरे साथ वे पीछे की सीट पर बैठ गये। उन्होने सोचा, फिल्म देखने से हो सकता मैं द्रवित हो जाऊँ एवं कहानी बेचने के लिए राजी हो जाऊँ। फिल्म देखते हुए ही अनेक प्रकार की बातचीत होने लगी।

लेकिन मुझे बहुत भय लगने लगा। सोचा, मुझसे कहानी लेने का एक षडयन्त्र रचा गया है। मैं साधारण आदमी हूँ। सम्मानित व्यक्ति यदि साधारण व्यक्ति का आदर-- सत्कार करने लगे तो भय होना स्वाभाविक ही है।

फिल्म समाप्त होने के बाद खाने का क्रम चला। सन्देश सचमुच अच्छा था, बाजार का श्रेष्ठ सन्देश। मेरा मन बहुत प्रफुल्लित हो गया। फिर मैं भी तो आदमी ही ठहरा। प्रेम प्राप्त होने पर कौन प्रसन्न नहीं होता ? छोटाई मित्र के जिस प्रस्ताव को मैं अनायास ही ठुकरा सका था, नन्तु बाबू के उसी प्रकार के प्रस्ताव को सहज ही नही ठुकराया गया। क्योकि उस समय उन्होने मुझे नमक खिला दिया था।

नन्तु बाबू बोले, "कल आप एक बार एम०सी० सरकार की दुकान पर पधारेंगे ?"

मैंने पूछा, "क्यों ?"

"आवश्यकता है।"

कुछ तो अनुमान से समझ गया और कुछ नहीं समझ सका।

"आऊँगा।" मैंने कहा।

मैं मन ही मन बहुत प्रसन्न था। लेकिन फिर बेचैनी हो गयी। मेरी कहानी पर फिल्म बनेगी। यह तो आनन्द की ही बात है। परन्तु मेरी अज्ञता का यदि वे सुयोग के रूप में उपयोग कर अधिक से अधिक सुविधा प्राप्त कर लें ? किससे पूछूं। किससे परामर्श करूं। कुछ भी निर्णय न कर सका। बंगाल मे साहित्यकारों की कोई ऐसी सस्था नहीं है जिससे परामर्श किया जाए।

यथा समय चाय-मिठाई खाकर घर लौट आया। आते समय वचन दे आया कि दो-चार दिन बाद फिर एम०सी० सरकार की दुकान में मिलेंगे।

उन दिनो मैं एक नौकरी भी करता था। साथ-साथ लेखन भी चलता था। लेखक होकर बंगाल में जन्म लिया है तब शत्रुता तो भोगनी ही होगी। अतः उसका सामना

करने के लिए भी कुछ समय बिताना होगा।

और उस पर है पढ़ने का काम। एक अच्छी पुस्तक लिखने की विपत्ति-कथा पहले ही कह चुका हूँ। सभी टकटकी लगाकर मेरे चेहरे की ओर निहार रहे हैं कि इस बार मैं क्या लिखूँगा। एक बार बिल्ली के भाग्य से छीका टूट चुका है, अब दूसरी बार देखना है कि विमल मित्तिर किस प्रकार के महान् लेखक हैं।

बंगाल में कोई भी काम आरम्भ करने पर आधी शक्ति आत्मरक्षा में ही व्यय हो जाती है। आत्मरक्षा में यदि अधिक समय व्यय न करना पड़ता तो बंगाली बहुत अधिक काम कर पाता। इस विषय में दूसरी जाति के लोगों को कहीं अधिक सुविधा है। वे काम करते जाते हैं, पीछे से छुरे के वार का भय उनको नहीं होता। दूसरे की उन्नति से जलनेवाले समाज में जो जन्मा है, उसे यह दुर्भाग्य सहना ही पड़ेगा।

ग्राहम ग्रीन की जो स्थिति थी मेरी उस समय वह स्थिति नहीं थी। ग्राहम ग्रीन को नौकरी नहीं करनी पड़ती थी। उसका यही विचार था कि लेखक को यदि किसी की नौकरी करनी पड़े तो वह एक मात्र अपनी ही नौकरी कर सकता है। अपने आदेश का स्वयं पालन करने की स्वतन्त्रता न रहे तो लेखक उत्कृष्ट रचना नहीं लिख सकता। उसी स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रखने के लिए ही ग्रीन को एक के बाद एक कहानी की फिल्म का स्वत्व सिनेमा कंपनी को बेचना पड़ा था। लेकिन उसके लिए कोई दूसरी गति नहीं थी। किन्तु मेरे सामने वैसी असुविधा नहीं थी।

मैं किससे इस सम्बन्ध में बातचीत करूँ? एक दिन बात-बात में मैंने सागर बाबू को बताया—'देश' पत्रिका के सागरमय घोष को।

मैंने कहा, "उन्होंने मुझे बहुत तंग कर दिया है। आप इसका निर्णय कर दें। मैं उन्हें समझा नहीं पा रहा हूँ।"

सागर बाबू बोले, "ठीक है, मैं छोटाई बाबू को पहचानता हूँ। मैं उनसे मिलकर सब ठीक कर दूँगा। आप इसके बारे में कोई चिन्ता न करें।"

उन्होंने तो कहा है कि ठीक कर दूँगा, किन्तु मैं इतने दिनों तक जीवित कैसे रहूँ? और दो-दो निर्माता हैं। यह सौभाग्य था या दुर्भाग्य मैं समझ नहीं सका। मेरे प्रकाशक ने इस दिशा में सावधान कर दिया था—बहुत सावधान विमल बाबू, सिनेमा को किसी भी दशा में पुस्तक न दीजिएगा। पुस्तक का दिवाला निकल जायेगा।

सागर बाबू जैसे ही छोटाई बाबू के घर पहुँचे, छोटाई बाबू बोले, ये विमल बाबू किस प्रकार के लेखक हैं? दूसरे सब लेखक सिनेमा को अपनी पुस्तक देने के लिए छट-पटाते हैं, और एक विमल बाबू हैं कि छिपे चलते हैं। बात क्या है?"

सागर बाबू बोले, "यही बात कहने के लिए ही विमल बाबू ने मुझे आपके पास भेजा है। एक ओर उन्हें सब मिलकर कहानी बेचने को मना करते हैं और दूसरी ओर सब बेचने को कहते हैं। उनका प्रकाशक सिनेमा को पुस्तक बेचने से मना करता है।"

छोटाई बाबू बोले, "क्यों, क्या उन्हें रुपयों की आवश्यकता नहीं है?" सागर बाबू बोले, "रुपयों की आवश्यकता है किन्तु उन्हें डर है कि आप फिल्म बना कर उनकी

पुस्तक को नष्ट कर देंगे। वे साहित्य को पैसे से भी अधिक प्यार करते हैं।"

छोटाई बाबू ने एक ठहाका लगाया। बोले, "महाशय, मुंह से सभी ऐसा कहते हैं। मेरे लिए किसी लेखक को देखना बाकी नहीं है। शरतचन्द्र से लेकर आज कल के छोटे-बड़े सब साहित्यकारों को मैं पहचानता हूँ। पैसे के लिए सभी झुक जाते हैं।"

अन्त में बातचीत और दर-दाम सब ठीक करके सागर बाबू लौट आये। मुझे सारी रिपोर्ट दी। सुनकर मैं और बुझ गया और वह इसलिए कि न्यू थियेटर्स मेरी कहानी पर फिल्म बनायेगी। फिल्म बनाने पर मुझे आपत्ति नहीं थी। उन लोगों के आग्रह की तीव्रता देख कर मैं संकोच में पड़ गया। फिर क्या मेरी पुस्तक को भी उन लोगों ने पैसा कमाने की मशीन समझ लिया है? कई दिनों तक मुझे रात भर नींद नहीं आयी। दफ्तर जाता था, काम-धाम करता था, लेकिन प्रकाशक की चेतावनी कानों में गूंजती रहती। तीन-चार व्यक्तियों को कैसे टालूं? और सच कहूँ तो टालूं ही क्यों? मैंने चोरी तो नहीं की है।

अचानक चारों ओर शोर हो गया कि मैंने 'साहब बीबी गुलाम' की कहानी शिवनाथ शास्त्री की पुस्तक से चोरी की है। यह बात कई पत्रिकाओं में प्रकाशित भी हुई। संपादकों ने इस आरोप का खण्डन करने के लिए मुझे पत्र लिखे। मैंने उत्तर नहीं दिया। उत्तर क्यों दूं? पागल क्या नहीं बकता है। बकरी क्या नहीं खाती। बंगला में तो कहावत ही है।

अन्त में एक दिन एम०सी० सरकार की दुकान में पुनः पहुँचा।

मार्गरेट मिचेल रोते-रोते बाहर निकल आयीं। पति ने हालीवुड सिनेमा कंपनी के निर्माता से परिचय दिया।

निर्माता ने कहा, "गुड मार्निंग।"

मार्गरेट ने कहा—"गुड मार्निंग।"

उसके बाद कागज-पत्तर, दलील-दस्तावेज बाहर निकाले गये। अनुबन्ध-पत्र लम्बा था। इतना पढ़ने का धैर्य किसी को नहीं होता।

उस समय मार्गरेट का हाथ कांप रहा था। बोलीं, "कहाँ हस्ताक्षर करूँ?"

निर्माता ने कहा, "यहाँ।"

मार्गरेट ने वहीं हस्ताक्षर कर दिया। लिखा—मिसेज मार्गरेट मिचेल।

मैंने भी जाने पर देखा, नन्तु बाबू ठीक बैठे हैं और सुधीर सरकार भी। दोनों ही फिल्म सेंसर बोर्ड के सदस्य थे। मुझे देखते ही बोले, "क्या हुआ, इतने दिनों तुम नहीं आए, क्यों?"

यह कह कर हँसते-हँसते मेरी ओर एक चेक बढ़ा दिया।

मुझे भी हाथ बढ़ा कर चेक लेना पड़ा। जिस प्रकार प्रकाशक से चेक लिया था, ठीक उसी प्रकार। लेकिन उस बार चेक लेकर बैंक भेज दिया था। इस बार क्या करूँ, समझ में नहीं आया। कारण लगा, जैसे यह मेरा उचित प्राप्त नहीं है। इसे देकर उन लोगों ने मुझे बाँधने की चेष्टा की है।

चेक को जेब में सुरक्षित रख कर मैं घर आ गया। छाती में कुछ बिंधने लगा। चाहे साधारण राशि ही क्यों न हो, परन्तु उससे मेरा दुःख दूर नहीं होगा। किन्तु मैंने इसे लिया ही क्यों? पैसे के मामले में मितव्ययी व्यक्ति हूँ। मितव्ययी इसलिए कि जिससे साहित्य पर अनावश्यक दबाव न पड़े। अभाव-बोध को मैंने मुख बन्द कर सहन करना सीख लिया है। हमारे जैसे आदमियों का अभाव क्या कभी दूर होनेवाला है? लाख रुपयों से भी जब अभाव दूर नहीं होगा तब मांग की राह को खींचे रहना ही श्रेयस्कर है। आवश्यकता को विलासिता समझना ही युक्ति संगत है। इससे साहित्य के प्रति न्याय होता है, एवं पर्याप्त अवसर भी मिलता है। फलस्वरूप साहित्य रचना में भी मन अधिक तल्लीन किया जा सकता है।

जो हो, परामर्श और किससे करूँ? दूसरे दिन मैं इंडियन-एसोसियेटेड पब्लिशिंग कंपनी के त्रिदिवेश बसु के पास गया। यहाँ मैं जानता था कि वे मेरे शुभैषी हैं।

जाकर उन्हें सब कुछ बताया।

वे आश्चर्य-चकित हो गए। बोले, "क्या किया? चेक ले लिया? वाउचर पर हस्ताक्षर तो नहीं कर दिया?"

मैंने कहा, "यह नहीं जानता। कहीं एक हस्ताक्षर कर दिया था।"

त्रिदिवेश बाबू बोले, "सर्वनाश! उस चेक का भुगतान मत लीजिएगा। लेने में कठिनाई में पड़ जाइएगा। अनुबन्ध-पत्र देखे बिना कभी चेक लिया जाता है? उसमें क्या शर्त लिख देंगे, यह कौन जाने। सिनेमा वालों को आप पहचानते नहीं।"

"तब क्या होगा?" मैंने पूछा।

त्रिदिव बाबू बोले, "कल ही मैं आपको अपने एटर्नी के पास ले चलूंगा। वे जैसा-जैसा कहेंगे, वैसा-वैसा ही होगा।"

आखिरकार मैं इस पर सहमत हो गया। अन्ततः एक आदमी तो ऐसा मिला जिससे उचित परामर्श मिलेगा। त्रिदिवेश बाबू मुझे धमकाने लगे। बोले, "आपको पैसे की ऐसी क्या आवश्यकता पड़ गयी कि आप हठात् चेक लेने गये? क्या आपको पैसे की अत्यन्त आवश्यकता थी?"

मैंने कहा, "नहीं, जरूरत कतई नहीं थी। पुस्तक से ही अच्छी रायल्टी आ जाती है।"

"तब? अब कभी ऐसी भूल न कीजिएगा। पैसा देना भी जिस प्रकार खतरनाक है, जिस किसी से पैसा लेना भी वैसा ही खतरनाक है।"

बहुत दिन पहले त्रिदिवेश बाबू से सीखी हुई उस नसीहत का मैं अक्षरशः पालन आज भी कर रहा हूँ। कोई पैसा देने आता है तो सोच-विचार कर हिसाब करके लेता हूँ।"

त्रिदिवेश बाबू ने उसके बाद कहा, "पैसा देने की अपेक्षा लेने में अधिक रिस्क है, इसे सर्वदा स्मरण रखिएगा।"

एक ओर तब 'साहब बीबी गुलाम' को लेकर मेरी निन्दा फैलायी जा रही थी,

मुझ पर चोरी का दोषारोपण किया जा रहा था और दूसरी ओर उस पर फिल्म बनाने के लिए छीना-झपटी मची हुई थी।

विचार करने पर मैंने देखा कि ख्याति के साथ अख्याति भी अंगांगीभाव से जुड़ी हुई है। बंकिम बाबू के शब्दों में कहा जाय तो जहां यश है वहीं निन्दा है। यह बात कितनी सच है इसका मेरे जैसा अनुभव किसी और को नहीं हुआ होगा। ख्याति से जो परितृप्ति मिलती है, उसे भोगने का सौभाग्य मुझे कभी प्राप्त नहीं हुआ। अथवा यह हो सकता है कि अख्याति होने के कारण ही ख्याति की एक किरण मैं देख पाया।

मुझे स्मरण है कि उन दिनों मुझसे ईर्ष्या करनेवाले लोगों का जिस प्रकार अभाव नहीं था उसी प्रकार मेरी निन्दा करनेवाले लोगों की भी कोई कमी नहीं थी। सुविख्यात पत्र-पत्रिकाओं के पृष्ठों पर निन्दा के छपे अक्षर सबकी दृष्टि आकृष्ट करते थे। हालांकि उन्हीं पत्र-पत्रिकाओं की ओर से मेरी रचना के लिए जोर के तकादे भी आते। साधारण कुत्सा हो तो अर्थ समझ मे आये। रचना की निन्दा हो तो भी उसका एक अर्थ होता है। ऐसा नहीं था। वह और ही प्रकार की शत्रुता थी। अर्थात् "मेरी पुस्तकों की इतनी बिक्री क्यों होती है?"

लगता है, फिल्म-कंपनियां भी यही चाहती हैं। सहज ही पैसा कमाने के लिए बहुचर्चित, बहुपठित और बहुप्रशंसित पुस्तक की खोज करती हैं। इस दिशा में वे कभी भूल नहीं करतीं। अभागा मैं ही था कि इतना आग्रह, इतना सम्मान कोई मुझे जरा भी स्पर्श नहीं कर सका। मैं पहले जैसा था, बाद में भी वैसा ही रह गया। अर्थात् मन के गोपनतम कोने मे अहंकार का अंकुर ही विनष्ट हो गया।

दूसरे दिन यथासमय त्रिदिवेश बाबू की गाड़ी से उनके एटर्नी के कार्यालय गया। एटर्नी क्या वस्तु होती है, इसके पहले यह देखने का सौभाग्य मुझे नहीं हुआ था।

वे बोले, "फिल्म का अनुबन्ध यदि करना ही है तो मैं जिस तरह का आलेख तैयार कर दूंगा, वैसा ही करने को कहे। आप धोखा नहीं खाइएगा।"

यह कहकर टाइपिस्ट को बुलाया और नया ड्राफ्ट दे दिया। टाइपिस्ट ने ड्राफ्ट टाइप कर मुझे दे दिया। इस काम में लगभग आधा घंटा लगा। उस दिन एटर्नी के कार्यालय में आधा घंटा बैठे-बैठे मैंने बहुत-कुछ देख लिया था। एटर्नी किस प्रकार के आदमी होते हैं, यह भी जान लिया था।

बाहर आ मैंने इतमीनान की सांस ली।

लेकिन मेरे जैसे घर-घुस आदमी, जो कानून के संसार से बिलकुल अलग रहते हैं, उनके लिए एटर्नी-वकील तो स्वर्ग हैं। उनके अस्तित्व के कारण ही तो अब कुछ-कुछ रायल्टी हाथ लगती है। हम एटर्नी-वकील को कितना ही दोष दें मगर उन्हीं के कारण तो अब भी हम सशरीर टिके हुए हैं।

जो हो, कुछ दिनों बाद मैं पुनः सुधीर दा की दुकान पर उपस्थित हुआ। कथनानुसार नन्तु बाबू भी उपस्थित थे।

बोले, "क्या महाशय, आपने अब भी चेक क्यों नहीं भुनाया ?"

मैंने कहा, "मुझे एक व्यक्ति ने कह दिया है कि अनुबन्ध पत्र पर हस्ताक्षर होने के पूर्व चेक न भुनाएँ।"

नन्तु बाबू हँसने लगे।

मैंने अपने अनुबन्ध का नया प्रारूप जेब से निकाल कर नन्तु बाबू की ओर बढ़ा दिया और बोला, "मेरे साथ इस प्रकार का अनुबन्ध करना होगा, तभी मैं हस्ताक्षर करूँगा।"

नन्तु बाबू स्वयं न्यू थियेटर्स के ला-एडवाइजर थे। मन लगाकर सब पढ़ा। उसके बाद बोले, "आप नये हैं न, इसीलिए इतने घबरा गये। हम जो अनुबन्ध करेंगे वह भी इसी प्रकार का होगा। शरत् चट्टोपाध्याय का नाम सुना है ?"

मैंने कहा, "किसने नहीं सुना यह कहिए।"

नन्तु बाबू बोले, "उन्होंने जिस अनुबन्ध-पत्र पर हस्ताक्षर किया है, उस पर तो हस्ताक्षर कीजिएगा न ? उसमें तो आपको आपत्ति नहीं होगी न ?"

मैंने कहा, "नहीं।"

नन्तु बाबू बोले, "आप उनसे बड़े लेखक तो नहीं हैं।"

मैंने कहा, "आप यह क्या कह रहे हैं।"

नन्तु बाब बोले, "हाँ, ठीक ही कह रहा हूँ। आपने एक अच्छी पुस्तक लिखी है, इसलिए आपकी इतनी खुशामद होती है। वरना बंगाल में कहानी का अभाव है महाशय ? क्या आप यह समझते हैं कि बंगाल में आपके उपन्यास के अतिरिक्त और उपन्यास नहीं है ?"

मैंने कहा, "इसी कारण अनुबन्ध-पत्र पर हस्ताक्षर करने में मैं इतना सावधान हूँ। मैं भी क्या रोज-रोज इस प्रकार की पुस्तक लिख पाऊँगा।"

नन्तु बाबू बोले, "जानते हैं, न्यू थियेटर्स आपकी पुस्तक ले रहा है, इसके लिए आपका कृतार्थ होना उचित है। क्या आप जानते हैं कि कितने ही लेखक अपनी कहानी बेचने के लिए हमारी खुशामद करते हैं ? हम आपकी पुस्तक खरीदेंगे तो आप बच जायेंगे। अन्त में आप एक ऐसे धोखेबाज प्रोड्यूसर के पल्ले पड़िएगा कि तब केवल कचहरी दौड़ना पड़ेगा।"

किन्तु नन्तु बाबू से तब मेरी नयी जान-पहचान थी। उस समय न तो मैं उन्हें अच्छी तरह जानता था और न वे ही मुझे अच्छी तरह जानते थे। जानते होते तो किसी के मुँह से ऐसे शब्द न निकलते।

इसके अतिरिक्त मैं सदा ही ओट में रहनेवाला आदमी हूँ। जो मेरी तरह अलग रहकर शान्ति पाते हैं वे स्वभावतः झंझट से बचकर चलना चाहते हैं और मजा तो यह है कि वे झंझट से बच कर चलना चाहते हैं इसीलिए इतनी झंझट उनके गरदन पर चढ़ बैठती है। वास्तव में संसार से जो लोग झंझटों को दूर करने की चेष्टा करते हैं वे निर्बोध होते हैं। घटनाचक्र के कारण मैं भी उन्हीं निर्बोध के दल में हूँ। इसी मूर्खता

के कारण ससार में इतने अच्छे-अच्छे पेशों के होते साहित्य के पेशे के रूप में अपनाया।

किन्तु नन्तु बाबू ने अभयदान देते हुए कहा, "न्यू थियेटर्स पंसारी की दुकान नहीं है, यह जान लें। जो विधिसम्मत है वहीं आपके साथ किया जायेगा। जब दर-दाम तय हो चुका है तब शर्तों के लिए आपको माथा खाने की क्या आवश्यकता है?"

मैं आश्वस्त हो गया। आश्वस्त इसलिए हुआ कि न्यू थियेटर्स जैसी विख्यात कपनी के साथ अनुबन्ध हुआ है किन्तु मुझे क्या पता था कि उस समय न्यू थियेटर्स समाप्ति की स्थिति में है। *वरना—*

यह बात बाद में बताऊँगा।

वास्तविकता यह है कि जब प्रारम्भिक जीवन में मैं लेखक होने का सपना देख रहा था तब सपने में भी कभी यह नहीं सोचा था कि उसके पीछे इतने वकील-एटर्नी और किरानी के झमेले में पड़ना होगा। सोचता था, हाथ में कलम लेकर लिखूंगा और प्रकाशक मेरी पुस्तक छापेगा। यह सबसे अधिक निश्चिन्तता का पेशा है। इस पेशे से बढ़कर सुख एवं शान्ति का और कौन सा पेशा है।

किन्तु कार्यक्षेत्र में उतरने पर देखा कि लेखन जैसा झमेले का पेशा और दूसरा नहीं है। चुपचाप घर का मुख्यद्वार बन्द कर लेखन नहीं होगा। लिखते रहने का संपादक का तकाजा रहता है, प्रकाशकों की प्रतिद्वन्द्विता का शिकार बनना पड़ता है। उस पर शर्त मानना न मानना, शर्तें न मानने के लिए वकील-एटर्नी का दरवाजा खट-खटाना होता है और आयकर विभाग के लिए हिसाब रखना सर्वोपरि विडंबना है।

जो हो, अन्त में एक दिन नन्तु बाबू ने मेरे पते पर एक नया अनुबन्ध-पत्र भेज दिया। लिखा, किसी एटर्नी को दिखा कर हमें लौटा दें।

मैंने मिलान कर देखा, असली अनुबन्ध-पत्र से इसका कोई मेल नहीं है—न भाषा का और न विषयवस्तु का।

सोचा नहीं भेजूंगा। अपने पास रख लिया। ऐसे करते एक महीना बीत गया। बड़ी निश्चिन्तता का अनुभव हुआ। सोचा, मेरी तो कोई हानि है नहीं। मेरी कहानी को भी कोई चुरा कर नहीं ले जा रहा है और मुझे धन की भी कोई विशेष आवश्यकता नहीं है। इसे पड़ा रहने दो।

मेरा स्वभाव ही ऐसा है कि जब दूसरे अत्यन्त आग्रहदर्शी रहते हैं तो मैं निष्क्रिय हो जाता हूँ। अपने सम्बन्ध में दूसरे की निष्क्रियता से मुझे बहुत शान्ति मिलती है। इससे मैं निश्चिन्तता से लिख पाता हूँ, मैं अपने काम में डूब पाता हूँ। अतः मेरे लिए यह अच्छा ही हुआ। मैं कुछ नया लिखने के लिए प्रस्तुत होने लगा।

न्यू थियेटर्स कंपनी घबरा गयी। सचमुच, ऐसा आदमी तो देखने में नहीं आता। शीघ्र ही अनुबन्ध पत्र वापस कर देना था। लेखक जितना शीघ्र लौटाएगा उतना शीघ्र उस पर हस्ताक्षर होगा और हस्ताक्षर होने के माने तो है पैसा। क्या इस लेखक को धन की भी आवश्यकता नहीं है।

तकादा आया।

मैं और चुप न रह सका। एक दिन उसे लौटा दिया। साथ ही लिख दिया कि इस अनुबन्ध पत्र पर हस्ताक्षर करने में मुझे आपत्ति नहीं है।

साथ ही साथ उस कंपनी से एक और पत्र आया। तिथि और समय निश्चित कर दिया गया है। उस तारीख और उस समय मुझे उनके कार्यालय में उपस्थित होना है और उसी दिन यथा-रीति अनुबन्ध-पत्र पर हस्ताक्षर होगा।

मैं ठीक तारीख और समय पर गया। वह स्थान धर्मतल्ला में है। न्यू सिनेमा नामक जो सिनेमा हाउस है उसके दोतल्ले पर चढ़ते ही छोटाई बाबू से आमने-सामने भेंट हो गयी।

अत्यन्त सम्मान के साथ कहा, "आइये, आइये।" मैं बैठ गया। मेरी सूचना पाकर नन्तु बाबू आ गये।

बोले, "महाशय, आपने इतनी देर करके प्राहप भेजा। जैसे कोई गरज नहीं है। आपने एटर्नी को सब कुछ अच्छी तरह दिखा तो लिया है न?"

मैंने कहा, "हाँ, दिखा लिया है, लेकिन एक चीज से मेरा मतभेद है। यहाँ लिखा है 'लिटररी केल्वरेशन' इसे काट देना होगा।"

"क्यों, यदि आपकी कहानी कहीं खराब है तो आप उसे ठीक नहीं कीजिएगा?"

मैंने कहा, "नहीं, मैं कलम नहीं छुऊँगा और पटकथा भी नहीं लिखूँगा। आप दूसरे व्यक्ति को पैसा देकर पटकथा लिखा लीजिएगा।"

नन्तु बाबू बोले, "सो तो लिखा लूँगा। लेकिन यदि आपकी सहायता की आवश्यकता हो तो क्या आप कलम का स्पर्श भी नहीं कीजिएगा?"

मैंने कहा, "करूँगा। लेकिन यह अनुबन्ध-पत्र में लिखा नहीं जायगा। अन्ततः उसी बहाने आप मुझसे पटकथा लिखा लीजिएगा, यह नहीं होगा।"

इतनी देर बाद छोटाई बाबू बोले, "हिन्दी फिल्म का स्वत्व बेचियेगा?"

मैं चुप रहा।

छोटाई बाबू बोले, "हिन्दी और बंगला दोनों भाषाओं के स्वत्व बेचने पर आपको तीन गुना पैसा देने का प्रबन्ध करूँगा। बिक्री कीजिएगा?"

मैंने कहा, "हिन्दी के स्वत्व की बात तो नहीं थी।"

छोटाई बाबू बोले, "बात नहीं थी, किन्तु अब हम हिन्दी का स्वत्व खरीदने को राजी हैं।"

मैंने क्षण-भर में अपना कर्तव्य निश्चित कर लिया। क्योंकि इस बात का मैंने सदा ध्यान रखा है कि जहाँ रुपये का लोभ रहता है वहाँ कोई न कोई धोखाधड़ी की बात रहती है। इस कहानी पर यदि कोई कभी हिन्दी फिल्म बनाना चाहेगा तो उससे अलग शर्तनामा किया जायेगा। पहले से ही नकद रुपये का लोभ क्यों करूँ? मुझे तो उस समय पैसे की आवश्यकता नहीं थी। मैं सदा ही मितव्ययी रहा हूँ। वृहत् की ओर दृष्टि रहने पर भी मैं यथार्थ जीवन में बहुत कम में ही सन्तुष्ट रहता हूँ। एक जोड़ा जूता और मामूली रोटी-कपड़े से ही मेरी दैनन्दिन की आवश्यकता पूर्ण हो जाती है। इसके

ही लिए तो नौकरी कर रहा हूँ। पुस्तक की रायल्टी से जो पाता हूँ वह तो अतिरिक्त आय है। तब फिर अधिक पैसे के लोभ में हिन्दी फिल्म का स्वत्व क्यों बेच दूँ?

छुटपन से ही मैं एक चीज के मामले में बड़ा सतर्क रहा हूँ। उसे मैं लेखकीय जीवन के लिए अनिवार्य मानता हूँ। वह है संयम। मैंने जिस प्रकार जीवन में बड़े से बड़े दिग्गजों का पतन देखा है उसी प्रकार गुणियों की विश्व-विजय भी देखी है। जब भी उनके पतन और उत्थान का लेखा-जोखा किया है, तब एक ही बात ध्यान में आयी है। वह या तो संयम का अभाव है या अति संयम। जीवन में पतन का अवसर तो पग-पग पर आता है। लेकिन उत्थान? उत्थान के अवसर भी अनेक बार आते हैं। लेकिन उस उत्थान के समय लोभ-मोह-लालसा का त्याग करने की बात कितने लोगों के मन में आती है?

एक क्षण के लिए मेरे मन में आया कि हाँ कह दूँ। इतना पैसा आ रहा है और मैं उसे अस्वीकार कर रहा हूँ, यह क्या अच्छी बात है? लक्ष्मी जब स्वयं मेरे द्वार पर उपस्थित हो गयी है तब मैं उसे पैरों से ठुकरा रहा हूँ? यदि फिर कभी ऐसा सुयोग न आए तो? यदि फिर और कोई हिन्दी फिल्म न बनाना चाहे तो? ऐसा भी तो हो सकता है कि बंगला फिल्म फेल हो जाये, तब और कोई हिन्दी फिल्म बनाने की बात नहीं सोचेगा। उस समय तो और पैसा नहीं मिलेगा और क्या संसार में पैसा ठुकराने की वस्तु है? तुम क्या इतने बड़े आदमी हो कि इतने रुपयों का प्रलोभन एक बात में अनदेखा कर दोगे? तुम्हें कपड़ा-लत्ता खरीदना पड़ता है, तुम्हें गृहस्थी चलानी पड़ती है। तो तुम और अच्छे ढंग से तथा सुख एवं स्वच्छन्दता से रह सकोगे। खूब अच्छी तरह सोच लो। तब उत्तर देना। लेकिन एकाएक यह भी याद आया कि मैंने तो यह कहानी सिनेमा के लिए नहीं लिखी है नहीं और रुपया कमाने के लिए। तुम तो मित्रों के बीच बड़ी-बड़ी बातें किया करते थे। संयम-साधना-निष्ठा—वह सब क्या भुलावे में रखने के लिए कहा करते थे?

छोटाई बाबू ने पुनः पूछा, "क्या हुआ, आप चुप क्यों हैं? हिन्दी का स्वत्व बेचिएगा?"

मैंने कहा, "नहीं"।

इस सिद्धान्त को ग्रहण करने में मुझे बहुत दृढ़ होना पड़ा था। हिन्दी फिल्म का स्वत्व बेचने से मेरी आर्थिक दुर्दशा मिट सकती थी किन्तु वह तो सामयिक होती। मैं जानता हूँ, रुपया सामयिक अभाव मिटाता है लेकिन साहित्य को व्यवसाय बनाने से अन्त में पछताना पड़ता है। सिनेमा के उद्देश्य से कहानी लिखने में उस पर फिल्म बन सकती है लेकिन वह कहानी नहीं होगी। किन्तु कहानी यदि एक बार साहित्य बन जाये तो फिल्म भी बन सकती है एवं वह अन्त में काम आती है। संसार के जो सब क्लासिक आज भी अमर हैं, उनकी अमरता का एकमात्र कारण उनका पूर्ण साहित्य होना नहीं है। टामस हार्डी या तालस्तोय का नाम सिनेमा के प्रताप से नहीं, उनके ग्रन्थों के साहित्यगत गुणों के कारण ही सुनते हैं।

एक बार टामस हार्डी की एक फिल्म कलकत्ते में आयी थी। उसका नाम था 'फार

फ्राम द मैडिंग क्राउड'।

जहाँ तक स्मरण है, टामस हार्डी का यही पहला उपन्यास है। टामस हार्डी का जीवन क्या कम दुःखी था। उपन्यास पर उपन्यास लिखे हैं लेकिन किसी की भी एक हजार से अधिक प्रति नहीं बिकी। कोई भी दूसरा मनुष्य होता तो लिखना छोड़ कर कोई दूसरा पेशा अपना लेता।

लेकिन टामस हार्डी किसी अन्य धातु से बने थे। जितनी विफलता मिली, निष्ठा उतनी ही बढ़ती गयी। चाहे जैसे हो श्रेष्ठ उपन्यासकार का सम्मान पाना ही है। रात्रि-जागरण, आलोचकों को हाथ में रखना इत्यादि नाना प्रकार के कला-कौशल का सहारा लेने में वे पीछे नहीं रहे और लगन की तो उनके में रत्ती भर भी कमी नहीं थी।

लेकिन भाग्य खोटा था। उनकी रचना की निन्दा किये बिना आलोचकों को चैन नहीं मिलता था।

और बिक्री? टामस हार्डी प्रकाशकों के यहाँ जाकर पूछते, बिक्री-विक्री कैसी है?"

प्रकाशक चेहरा गम्भीर बना कर कहते, "बिक्री कहाँ है? महाशय आपकी पुस्तक कोई खरीदना नहीं चाहता।"

टामस हार्डी कहते, "क्यों बोलो तो? मेरी रचना लोगों को अच्छी क्यों नहीं लगती है?"

प्रकाशक कहते, "महाशय, आप बहुत मसाला जो भर देते हैं। इतना गरम-गरम मसाला कोई हजम कर सकता है?"

टामस हार्डी कहते, "लेकिन मैंने जीवन में जो यह सब देखा है वही लिखा है।"

प्रकाशक उपदेश देते, "और जरा हलका बनाकर लिखिये न, तब देखेंगे कि औरतों को बहुत अच्छा लगेगा। औरतें ही तो उपन्यास अधिक पढ़ती हैं।"

लेकिन टामस हार्डी अचल-अटल रहे। उनकी पुस्तकों की बिक्री चाहे न हो, वे अपने प्रति सच्चे रहेंगे, अपने धर्म पर चलेंगे।

उस समय सिनेमा का युग नहीं था। सिनेमा का युग होता तो वे क्या करते, कहा नहीं जा सकता। हो सकता था, पैसे के लिए सिनेमा कंपनी का दरवाजा खटखटाना पड़ता। सिनेरियो भी लिखना पड़ता। सिनेमा का निर्देशन भी करते।

इसी तरह एक के बाद एक प्रायः ग्यारह पुस्तकें प्रकाशित हुई। लेकिन सबकी वही दशा हुई। हजार प्रति से अधिक किसी की बिक्री नहीं हुई।

प्रकाशकों ने कहा, "नहीं महाशय, आपसे अब और पुस्तक नहीं लिखी जायगी।"

टामस हार्डी हताश हो गए। बोले, "क्यों? आप ऐसा क्यों कह रहे हैं?"

प्रकाशकों ने कहा, "जरा अखबार वालों को पकड़िये। वे यदि दो-चार प्रशंसात्मक पंक्तियाँ लिख दें तो लोग एकाध किताब खरीदें भी।"

किन्तु उन दिनों आलोचक भी ईमानदार होते थे। आज की तरह वे भाईचारा नहीं निभाते थे। उस समय का युग ही अन्य प्रकार का था। साहित्य को सभी प्राण से भी अधिक प्यार करते थे। वे एक बार भी यह नहीं सोचते थे कि किसकी प्रशंसा करने

से क्या सुविधा या असुविधा होगी। आज की तरह साहित्य तब बाजारू माल नहीं हुआ था। आज के पत्रिकावालों को पहले सोचना पड़ता है कि इस पुस्तक का रचयिता किस दल का है। उसकी प्रशंसा करने से मेरा क्या लाभ होगा अथवा मेरी क्या हानि होगी। यदि पुस्तक की खूब बिक्री हो रही है तो उसकी निन्दा करो। क्योंकि पुस्तक की बिक्री का यही तो अर्थ है कि लेखक एवं प्रकाशक के पास धन होना।

इस युग में लोकप्रियता का अर्थ ही अपराध है। लोकप्रिय होने की क्षतिपूर्ति करते-करते *आजकल लेखकों को सामाजिक दृष्टि से निःस्व हो जाना पड़ता है। यह दुर्दशा* संसार के समस्त लोकप्रिय लेखकों को सहनी पड़ती है।

समरसेट माम इसके ज्वलन्त उदाहरण है।

खैर, जो हो टामस हार्डी ने जब 'टेस आफ द डारबारविल' उपन्यास लिखा तब स्थिति अन्तिम विन्दु तक पहुँच गयी। प्रकाशक पहले ही भयभीत हो गया था। कहा था, "महाशय, अब की भी आपने गरम मसाला दिया? आपको बार-बार मना कर दिया था—"

किन्तु जो होना था वही हुआ।

एक महिला पाठिका ने पुस्तक को जलाकर उसकी कुछ राख लिफाफे मे भर कर टामस हार्डी को भेज दी।

हार्डी बेहद डर गये। लेकिन हठात् पुस्तक की बिक्री की हवा बदल गयी। पुस्तक की जितनी निन्दा होने लगी, उसका प्रचार उतना ही बढ़ने लगा। सभी ने सोचा, पुस्तक पढ़कर देखें, इसमें क्या है।

घटनाचक्र के कारण टामस हार्डी का नाम फैल गया। समाचार पत्रों के पृष्ठ निन्दा से भर गये। लेकिन आर्थिक दृष्टि से टामस हार्डी को लाभ हुआ। सासारिक अभाव दूर हुआ किन्तु जो सम्मान मिलने से मन सन्तुष्ट होता है, वह हार्डी के भाग्य मे नहीं था। ख्याति जितनी बढ़ने लगी आलोचकों के संसार मे उतनी ही अख्याति फैलने लगी।

फिल्म देखने-देखते उस दिन मैं टामस हार्डी के बारे मे सोच रहा था।

उनमें कितनी लगन, कितनी सहनशक्ति और कितनी कठिन परिश्रम करने की शक्ति। समस्त अंग्रेज जाति जब टामस हार्डी की खुलकर प्रशंसा कर रही थी तब अंग्रेज आलोचकों की अवज्ञा और घृणा उनकी रचना पर बरस रही थी।

समरसेट माम ने तो उन पर व्यंग्य करते हुए एक उपन्यास ही लिख डाला। *पुस्तक का नाम रखा 'केक्स एण्ड एल'*। इतना अवश्य है कि उसमें कहीं टामस हार्डी के नाम का उल्लेख नहीं है लेकिन अंग्रेज पाठक समझ गये कि निश्चय ही यह उन्हीं पर लिखा गया है। किन्तु यह बहुत निष्ठुर और बहुत निर्मम था।

किन्तु इतने दिनो बाद टामस हार्डी के उस उपन्यास पर फिल्म बनी ही क्यों?

फिर क्या इस कहानी का आवेदन अब भी उसी प्रकार सजीव है?

जो उपन्यास अग्नि-परीक्षा मे जयी हो गया उसी को तो लोग स्थायी साहित्य के

रूप मे मान्यता देते हैं। यदि बंकिमचन्द्र की 'दुर्गेशनन्दिनी' या देवी चौधुरानी पर इस युग मे फिल्म बनती है तो क्या यह नहीं मानेंगे कि वे अब भी पाठको के मन को आन्दोलित करती हैं और उनका आवेदन शाश्वत है।

लोग कहते हैं, टामस हार्डी निराशावादी थे। वे कहानी के पात्र-पात्री को घटना के जटिल जाल से ले जाकर एक ऐसे परिणति मे खड़ा कर देते हैं जो स्वतः संक्रमित नहीं बल्कि पूर्णतया विन्यस्त होते हैं।

लेकिन 'फार फ्राम द मैडिंग क्राउड' ऐसा नहीं है। यह एक सुखान्त कहानी है। इसमे निराशावाद का चिह्न तक नहीं है। फिल्म के अन्त मे कहानी की बुनावट के कारण नायिका तरह-तरह की स्थितियों पर विपर्यय से होती हुई नायक से जाकर मिलती है।

किसी साहित्यकार का मूल्याकन करते समय उसी श्रेष्ठ रचना के विवेचन से ही उसका मूल्यांकन करना होगा। माइकेल मधुसूदन दत्त का मूल्यांकन करते समय उनके 'हेक्टर वध' से मूल्याकन करना ठीक नहीं होगा। विभूतिभूषण का मूल्याकन करते समय उनके 'पथेर पावाली' से ही मूल्यांकन करना होगा, न कि 'दंपति' उपन्यास से। उसी प्रकार शैलजानन्द का मूल्यांकन उनके 'वान मासि' और 'महायुद्धेर इतिहास' के विवेचन से ही करना होगा। माणिक बन्धोपाध्याय की ढेर सारी पुस्तकें हैं। उनका मूल्याकन उनकी श्रेष्ठ रचना 'पद्मा नदीर माझी' से ही करना होगा।

टामस हार्डी के समय से ही ऐसी बात है। उसका मूल्याकन उनके 'जदीद' से करना होगा, 'फार फ्राम द मैडिंग क्राउड' से नहीं।

मैं यह फिल्म इसीलिए देखने गया था कि इसकी कहानी के लेखक टामस हार्डी हैं। फिल्म हजार बुरी हो तब भी कहानी तो टामस हार्डी की है। प्रथम तो वे एक साहित्यकार हैं और केवल साहित्यकार ही नहीं, अंग्रेजी साहित्य के एक दिशा निर्देशक भी।

मुझे यह ज्ञात नहीं कि इस फिल्म के अभिनेता और अभिनेत्री कौन-कौन थे। फिल्म देखने के पहले या बाद मे अभिनेता या अभिनेत्री का नाम जानने से कोई सुविधा होती है, मुझे ऐसा नहीं लगता। नायक या नायिका के माने ही है कहानी के पात्र-पात्री और जब तक फिल्म चलती है तब तक वे मेरे लिए कहानी के पात्र-पात्री के अतिरिक्त कोई नहीं हैं, कुछ नहीं हैं।

इस परिस्थिति से यह फिल्म मुझे अच्छी नहीं लगी। क्यो अच्छी नही लगी यह मैं समझा नहीं सकूंगा, क्योंकि मैं जो पहले कह चुका हूं वही अब भी कह रहा हूं, वह यह कि मैं सिनेमा का जानकार नहीं हूं। कहाँ कैमरा रखने से दृश्य या नाटक की क्या परिणति होती है, यह मैं जानता नहीं। फिल्म को मैं फिल्म के रूप मे ही देखता हूं। अच्छी फिल्म देखने से अच्छी लगती है, खराब फिल्म देखने से खराब लगती है। बस इतना ही।

किन्तु एक बात समझा कि फिल्म मे टामस हार्डी के साहित्य का स्पर्श नहीं है। यही साहित्य के लिए बहुत भय की बात है।

जिस पुस्तक को पढने पर आनन्द मिला है उसे चित्ररूप में देखने पर ठीक वैसा ही आनन्द मिलना चाहिए। यदि वह नहीं मिलता है तो किसे दोष दूँ—निर्देशक को, पटकथा-लेखक को, अभिनेता-अभिनेत्री को या कैमरामैन को ?

संगत कारणो से ही इसका उत्तर देना मेरे लिए सम्भव नहीं है।

अत: अपने उपन्यास के फिल्मीकरण के मामले में ठीक इसी कारण से मैं भयभीत था। जब स्वयं मुझे चलचित्र सम्बन्धी जानकारी नहीं है, पटकथा पढकर भी मैं यह नहीं समझ सकूँगा कि उस पर फिल्म अच्छी होगी या घटिया। यह तो दूसरे की बलि-वेदी पर अपनी गरदन रख देना जैसी ही बात है। जो व्यक्ति अपने श्रेष्ठ साहित्य को प्यार करता है उसमे इस आकांक्षा का होना अत्यन्त स्वाभाविक है। घटिया फिल्मीकरण की अपेक्षा छायाचित्र न बनना ही अच्छा है।

ग्राहम-ग्रीन के बारे में पहले ही कह चुका हूँ। उस समय अत्यन्त अर्थाभाव के कारण ही उन्हे हालीवुड के अनुबन्ध पत्र मे जो भी शर्तें थीं उन पर आँख मूंद कर हस्ताक्षर कर देना पड़ा था। किन्तु उनकी कहानी की फिल्म बन जाने पर उन्हें कितना अनुताप हुआ था इसे वे स्पष्टाक्षरो मे लिख गये हैं।

इसके बाद मैंने मार्गरेट मिचेल के बारे मे लिखा है। उनके साथ उल्टी बात हुई। आसपास के वातावरण के दबाव के कारण उन्हे अनुबन्ध-पत्र पर हस्ताक्षर करना पड़ा था। सुना है, वह फिल्म अच्छी ही थी।

सभी तो योगायोग है। साहित्य से सिनेमा का जो यह शुभ सम्पर्क है वह मलिन हो, यह कोई नहीं चाहता। ऐसा न तो साहित्यकार चाहते हैं और न सिनेमा के संचालक। मगर इस सम्बन्ध मे लेखक का भयभीत होना क्या अस्वाभाविक है ?

मैं भी ठीक इसी कारण भयभीत और संत्रस्त था किन्तु जब मैं कार्यालय के एक और कमरे के भीतर गया तब वहाँ न्यू थियेटर्स के मालिक बी०एन० सरकार को देखा। उनका चेहरा देखने से अनजाने ही एक आश्वस्तता का बोध हुआ। सौम्य मूर्ति। वे मेरी ही प्रतीक्षा कर रहे थे। मैं सामने की कुर्सी पर बैठ गया।

मिस्टर सरकार बोले, "बताइए तो इस फिल्म का निर्देशन किससे करवाऊँ ?"

मैं हतप्रभ हो गया। बी०एन० सरकार जैसे व्यक्ति मुझसे पूछ रहे हैं कि इस फिल्म का निर्देशक किसको चुनेंगे ?

मैंने सविनय कहा, "मैं किसी भी निर्देशक को नहीं पहचानता हूँ।"

वे बोले, "तब भी आप फिल्म तो देखते हैं।"

मैंने कहा, "फिल्म बीच-बीच मे देखता हूँ अवश्य, किन्तु निर्देशन किसका अच्छा होता है, यह सब समझने की क्षमता मुझमें नहीं है।"

तब तक हस्ताक्षर वगैरह का काम आरम्भ हो गया था। उन्होंने एक स्थान पर हस्ताक्षर किया, मैंने उसकी बगल में हस्ताक्षर किए। जहाँ-जहाँ काटना था वहाँ-वहाँ स्याही से संशोधन करके हम दोनों ने छोटे-छोटे हस्ताक्षर किये।

अचानक दुबारा पूछ बैठे, "हेमचन्द्र कैसे रहेंगे ?"

हेमचन्द का नाम मैंने सुना था किन्तु उनके द्वारा निर्देशित किसी भी फिल्म की बात याद नहीं आई।

मिस्टर सरकार बोले, "हेमचन्द्र बहुत बड़े आदमी के लड़के हैं। आपके 'साहब बीबी गुलाम' में जिस प्रकार का वर्णन है, ठीक उसी प्रकार का उन लोगों का परिवार है।"

मैं क्या कहूँ। तब मैं यह सोचकर अवाक् रह गया कि इस विषय में मेरी राय जानने को वे इतना दबाव क्यों डाल रहे हैं। मुझे ऐसी आशा नहीं थी।

'साहब बीबी गुलाम' का निर्देशन करने के लिए पुस्तक में वर्णित परिवार के जैसा ही आदमी होना होगा, यह कोई तथ्यपरक बात नहीं है। मैं तो स्वयं मध्यवित्त परिवार की सन्तान हूँ। फिर मैंने ही कैसे उच्चवित्त परिवार की जीवन-निर्वाह-प्रणाली पर लिखा?

"अच्छा, चित्त बोस आपको कैसा जँचता है?"

मिस्टर सरकार की बात पर मैं अधिक अवाक् हो गया। तब मैंने चित्त बसु नामक किसी निर्देशक का नाम नहीं सुना था।

उन समय घड़ी में दोपहर के दो बज रहे थे।

मन्तु बाबू कागज-पत्तर समेट कर खड़े हो गये। मैं भी खड़ा हो गया। अब करने को कुछ नहीं रह गया था। मैंने अनुबन्ध-पत्र पर अपना हस्ताक्षर कर दिया। अब 'साहब बीबी गुलाम' के छायाचित्र पर मेरा स्वामित्व ही न रहा। अब से कुछ बरसों के लिए वह सुविख्यात न्यू थियेटर्स के हाथों में चला गया।

बाहर निकलते ही छोटाई बाबू से भेंट हुई। बोले, "हो गया?"

मैंने कहा, "हाँ।"

छोटाई बाबू बोले, "महाशय, आपका बहुत लाभ हुआ।"

उनकी बात सुनकर मुझे आश्चर्य हुआ। छोटाई बाबू यह क्या कह रहे हैं?

उस दिन हिन्दी फिल्म का स्वामित्व बिक्री न करने के कारण मुझे तनिक भी दुःख नहीं हुआ, बल्कि मैंने इत्मीनान की सांस ली थी। पैसे की आवश्यकता सबको एक-सी होती है, विशेष रूप से मुझ जैसे मध्यवित्त समाज के लोगों को। लेकिन जब साहित्य से लौ लगा कर पेशा बना लिया था तब यही सोचा था कि साहित्य का कभी भी बाजारू माल के रूप में उपयोग नहीं करूँगा।

यद्यपि साहित्य जब पेशा हो तब वह एक तरह से बाजारू माल तो है ही। तब, माल हम उसे ही कहते हैं जिसका हम कारोबार करते हैं। जो अधिक व्यापार करता है उसे यदि माँ कम व्यापार करनेवाले लड़के से अधिक प्यार करती है तो वह प्यार प्यार नहीं, व्यापार की वस्तु के पर्याय में गिना जायेगा।

किन्तु इस सन्दर्भ में किसी में मतभेद नहीं हो सकता कि लेखक भी सामाजिक प्राणी है और परिवार के भरण-पोषण की आवश्यकता उसके लिए अनिवार्य है।

जब अनुबन्ध-पत्र पर यथारीति हस्ताक्षर आदि हो गया तो बी० एन० सरकार महाशय खड़े हो गये। घड़ी में लगभग दो बजे रहे थे। मेरे टालमटोल के कारण उस

दिन उन्हें भोजन मे देर हो गयी। टालमटोल करने के अनेक कारण थे। सबसे बड़ा कारण अनुबन्ध-पत्र की एक शर्त थी। उसमे लिखा था कि आवश्यकता पड़ने पर मैं फिल्म के काम मे 'लिटररी कोलेब्रेशन' करूँगा। अर्थात् मुझे साहित्यिक सहयोग करना होगा।

यह पढकर मुझे कुछ सन्देह हुआ। लगा, यह जाल बिछा कर कंपनी मुझसे पटकथा लिखा लेगी।

मैंने कहा, "यह 'क्लाज्' (वाक्यांश) हटा देना होगा।"

नन्तु बाबू पास ही बैठे थे, बोले, "इसको लेकर आप इतने परेशान क्यों हो रहे हैं? यह तो सबके लिए लिखा रहता है। आपकी कहानी है, आप यदि कलम से जरा छू देते हैं तो उससे आपका ही सुनाम होगा। आप इसके चलते इतने अशान्त क्यों हो रहे हैं?"

मैंने कहा, "आवश्यक होने पर मैं एक बार क्यों हजार बार वह करूँगा। लेकिन लिखा-पढ़ी मे यह बात नहीं रहेगी। यह मेरा नैतिक दायित्व होगा।"

अन्ततः श्री सरकार ने उस शर्त को कलम से काट कर हस्ताक्षर कर दिया, मैंने भी बगल मे हस्ताक्षर कर दिया। इसी प्रकार दो-चार और छोटी-छोटी बातें (जिन--जिन पर मुझे आपत्ति थी) उन लोगों ने मान लीं।

मैंने राहत की सांस ली।

बाहर निकलते ही छोटाई मित्र ने पूछा, "बस समाप्त हो गया?"

मैंने कहा, "हाँ।"

छोटाईदा बोले, "मैंने सुना है आप अत्यन्त निरीह सज्जन व्यक्ति हैं। इस समय आपको भिन्न देख रहा हूँ।"

यह कह कर वे हँस दिये।

मैं भी हँसी करने के लोभ का संवरण नहीं कर पाया। बोला, "आप स्वयं मित्र-वंशज होते हुए ऐसी बात कैसे कह रहे हैं छोटाईदा? मित्रवंश की सन्तान भी निरीह और सज्जन होती है?"

सुनकर वे भी खिलखिला कर हँसने लगे।

उसके बाद हँसी रोक कर बोले, "हिन्दी का स्वामित्व न बेचकर आपने खूब लाभ किया महाशय, खूब लाभ किया।"

मैंने कहा, "सुनिये छोटाईदा, मैंने लाभ के लिए यह पुस्तक नहीं लिखी है। फिल्म बनाने के लिए भी नहीं लिखी है। लिखी है तो अपनी गरज से। बहुत अपमान और अत्याचार से परेशान होकर मैने यह पुस्तक लिखी है। पाठकों को अच्छी लगी है, मैं इसी से प्रसन्न हूँ। मैं इस कहानी को फिल्म के लिए देना नहीं चाहता था। आपके दबाव के कारण ही दी है।"

फिर कुछ रुक कर बोला, "और आप हिन्दी फिल्म के स्वामित्व की बात कह रहे हैं। जब आप हिन्दी फिल्म बनाइएगा तब उसका स्वामित्व दूँगा। अभी तो हिन्दी

फिल्म बना नहीं रहे हैं।

उस दिन कुल इतनी ही बात हुई। मैं सबको नमस्कार कर चला आया।

उस दिन एक व्यक्ति ने पूछा था कि मैं साहित्य की इतनी वकालत क्यों करता हूँ। कारण मैंने स्वयं भी तो सिनेमा से कुछ धन उपार्जित किया है और अब भी कर रहा हूँ।

मगर पैसे की बात रहे। इस सम्बन्ध में पहले ही बता चुका हूँ। बचपन से लोगों की अवहेलना और अवज्ञा पाते-पाते मैं निःसंग हो गया था। निःसंग होना अनेक लोगों के लिए असह्य है। निस्संगता के अनेक दोष हैं। जो व्यक्ति निःसंग होता है वह कदम-कदम पर ध्वंस की ओर ही बढ़ता है। निस्संगता बहुत बार आदमी को पागल बना देती है और कभी-कभी आत्महत्या के लिए उत्तेजित कर देती है। निःसंग मनुष्य पर अनेक कहानी-उपन्यास हैं, अनेक फिल्में बनी हैं। लेकिन मेरे लिए वही निःसंगता जैसे आशीर्वाद के रूप में आविर्भूत हुई थी। उस निस्संगता के फलस्वरूप ही मैं साहित्य का भक्त बना। उस निःसंगता में मैंने साहित्य को घनिष्ठ साथी के रूप में पाया। साहित्य ही मुझे जीवित रखने में सहायक हुआ है। छुटपन में साहित्य के माध्यम से ही मैंने आत्मान्वेषण किया था और उसी से इस भीड़ के युग में भी जनसमूह के बीच में खो नहीं गया। साहित्य ने मुझे अपने धर्म से डिगाया नहीं।

टामस हार्डी के सम्बन्ध में पहले ही कह चुका हूँ। उनकी पुस्तक 'फार फ्राम द मैडिंग क्राउड' के बारे में भी कह चुका हूँ। उसी हार्डी की पुस्तक पढ़ते-पढ़ते मुझे लगा है कि हार्डी ने मेरे मन की बात कैसे जानी। डिकेन्स की भी यही बात है। उन्होंने 'आलिवर ट्विस्ट' जैसे मुझ पर ही लिखा। सारे संसार के लोग साहित्य के चरित्र के साथ तादात्म्य-बोध करते हैं, यह कैसे सम्भव हुआ? जातिभेद या देशभेद तो इसके बीच कोई दीवार खींच नहीं पाया है।

'टेल आफ टु सिटीज़' को मैंने कितनी बार पढ़ा होगा, इसकी कोई सीमा नहीं। सात बार से कम तो नहीं ही। एक फिल्म को पन्द्रह बार देखा हो, ऐसे व्यक्ति को मैं जानता हूँ। उस समय मैंने सोचा काश यदि इन्होंने असली पुस्तक एक बार भी पढ़ी होती तो और भी कितना आनन्द आता।

शायद यह १९३३-३४ ई० की बात है। कलकत्ते में 'टेल आफ टु सिटीज़' उपन्यास पर बनी फिल्म आयी थी। वह मेरा बड़ा ही प्रिय उपन्यास रहा है। इसके जितने प्रकार के सस्करण हैं, मैंने सब पढ़े हैं। फ्रांसीसी विद्रोह देखा नहीं, इसकी कथा सुनी है। इतिहास में भी पढ़ी है। किन्तु 'टेल आफ टु सिटीज़' पढ़ने के पूर्व उस सम्बन्ध में मुझे कोई जानकारी नहीं थी। भाषा का जो जादू है क्या वह कैमरे में आ सकता है? कैमरा वही दिखा सकता है जो आँखों से देखा जा सकता है। मगर मन? मन के भी तो एक जोड़ा आँख है। मन की उन आँखों की दृष्टि अन्तर्भेदी होती है। वे ऐसी वस्तु देखती हैं जो कल-पुर्जे से नहीं देखी जा सकतीं। कल-पुर्जे केवल दृष्टि दे सकते हैं किन्तु दर्शन नहीं दे सकते। वह मन ही दे सकता है। साहित्य उस मन को युक्ति और तर्क के ऊपर एक दूसरे ही लोक में ले जाता है जिसे कल्पनालोक कहा जाता है।

विख्यात समालोचक गेवर्ड जेनेट ने साहित्य के सम्बन्ध मे एक नयी वात वतायी है। उन्होंने कहा है, "ओनली ह्वेन लैंग्वेज़ लूजेज इट्स मीनिंग इज़ इट एचीव्स द स्टेट्स आफ लिटरेचर।"

यह सही है कि भाषा ही साहित्य का वाहन है। किन्तु उस भाषा की सीढियाँ तय कर जब हम वांछित लोक मे पहुँच जाते हैं तब भाषा का कोई तात्पर्य नहीं रह जाता। उस समय भाषा अपना अर्थ खो देती है। भाषा का अतिक्रम कर हम भाषाहीनता के राज्य मे विचरण करने लगते हैं, तभी साहित्य का मूल्य समझ पाते हैं। ऋषि-मुनियों ने इसे ही ब्रह्मानन्दसहोदर कहा है।

जब मैंने 'टेल ऑफ टू सिटीज़' पढा था, उस समय लगा कि मुझे यह अपार-अलौकिक अनुभूति हुई है। कई दिनों तक मैं उसी भाषाहीन भाव के राज्य मे विचरण करता रहा। फिर न जाने कौन-सी दुर्बुद्धि आयी कि मैं उसकी फिल्म देखने चला गया। मेरे साथ जिन्होंने देखी, मैंने देखा कि वे फिल्म देखकर प्रसन्न थे। बाहर निकलने पर बहुतों के मुँह से फिल्म की प्रशंसा सुनी। उसके बाद भी फिल्म के अभिनेता-अभिनेत्री की भूरि-भूरि प्रशंसा हुई। उन्होंने अभिनय की प्रशंसा की, फोटोग्राफी की प्रशंसा की। विभिन्न आंगिकों की थोड़ी-बहुत प्रशंसा की। कि तु एक मात्र मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि निश्चय ही उन्होंने डिकेन्स की उस पुस्तक को पढा नहीं है। अगर उन्होंने असली पुस्तक को एक बार पढा होता तो और भी कितना आनन्द आता।

एक प्रकार से उस फिल्म को देखकर मैं हताश ही हुआ। अपने प्रिय लेखक की अपमृत्यु देखकर मैं कितना व्यथित हुआ था, यह किसी को समझा कर नहीं कह सकता।

हालांकि डिकेन्स अपने जीवन मे यह कल्पना भी न कर सका होगा कि एक दिन ऐसा भी आयेगा कि कोई उसकी पुस्तक पढेगा ही नहीं, केवल सिनेमा देखकर ही कहानी पढने के दायित्व से मुक्ति मिल जायगी। आज के कितने युवक चार्ल्स डिकेन्स के नाम से परिचित हैं? किन्तु 'टेल ऑफ टू सिटीज़' फिल्म के नायक रोनाल्ड कोलमैन की जन्मपत्री अनेक धुरंधरों को कंठस्थ होगी।

आज के पाठको को यह बता देना ठीक होगा कि आधुनिक युग के सिनेमा अभिनेता-अभिनेत्रियों की तरह एक समय डिकेन्स मे भी एक ग्लैमर था। सारे यूरोप मे उसे देखने का जो आग्रह लोगों मे था वह किसी भी राजनीतिज्ञ या अभिनेता को देखने के आग्रह से कम न था। लोग यही चाहते थे कि एक बार वे उनके यहाँ आयें। आकर अपनी रचना सुनायें। आने-जाने और रहने-खाने का समस्त व्यय उनका होगा। इसके बदले मे उन्हे दस-पन्द्रह हजार पौंड तक की प्राप्ति हो सकती थी। वह एक अभूतपूर्व अनुभव था। डिकेन्स अपनी छपी पुस्तक से कहानी पढेंगे। लोग उसके मुँह से उसकी कहानी सुनेंगे। पिछली रात से ही टिकट के लिए भीड़ उमड़ पड़ी। मध्यवित्त लोग पहले से ही टिकट-घर के सामने खड़े हो गये हैं। टिकट-घर दूसरे दिन खुलनेवाला है। लेकिन उस समय यदि टिकट न मिले? वहाँ बाजार लग गया है। जो लोग खड़े-खड़े थक जाते हैं उनके लिए फेरीवाले खाने-पीने की दुकान खोल कर बैठे हैं। कोई-कोई

दरी-चटाई लाए है और उस पर खुले आसमान के नीचे सो जाते हैं, विश्राम करते हैं। जैसे भी हो प्रत्येक व्यक्ति को एक टिकट चाहिए।

ऐसी घटना एक या दो दिन ही नहीं होती थी। कभी आस्ट्रेलिया में, कभी अमरीका मे, कभी आयरलैंड मे और कभी अपनी जन्मभूमि इंगलैंड से बुलावा आता था। उसके बाद आमने-सामने प्रश्न होते थे। उन्हे अनेक प्रकार के प्रश्नों का उत्तर देना पड़ता था। आपको किसकी रचना अच्छी लगती है? आपका प्रिय लेखक कौन है? किसकी रचना पढ़कर आपको लिखने की प्रेरणा मिली?"

जिनकी रचना पढ़ने पर अच्छी लगती है उन्हे एक बार हम अपनी आँखों से देखना चाहते हैं। उन्हें छूना चाहते हैं। उनके मुख से कथा सुनना चाहते हैं?

एक बार किसी ने अनजाने मे उनके सिर के बालो का एक गुच्छा काट लिया था। यह कृत्य कितना ही विकृत रुचि का परिचायक और निन्दनीय हो फिर भी किसी व्यक्ति की श्रद्धाभिव्यक्ति को व्यक्त करता है। बहरहाल शोर-शराबा मचाने से कोई लाभ नहीं। कल-पुर्जों के प्रति हमें आभार व्यक्त करना ही होगा।

यन्त्र हमारे जीवन को जिस रूप मे ढालेंगे, हमे वही स्वरूप ग्रहण करना है। कल-पुर्जों का जैसे एक बुरा पक्ष है उसी तरह एक भला पक्ष भी तो है। उसे हम अस्वीकार कर सकते हैं?

जन-शिक्षा का ऐसा सहज और प्रत्यक्ष माध्यम और कहां मिलेगा? जो शिक्षित नहीं हैं उनके लिए सिनेमा के अतिरिक्त दूसरी कौन-सी गति है? इतने दिनों तक वे जानवर की तरह केवल परिश्रम करते रहे हैं और अवकाश के क्षणो मे नशे में चूर होकर थकावट दूर करते रहे हैं। उनके लिए शेक्सपीयर नहीं है, रवीन्द्रनाथ नहीं हैं, कालिदास, वाल्मीकि कोई नहीं। सिनेमा के आविर्भाव से वे जान पाए हैं कि यह संसार क्या वस्तु है। इस धरती पर जो उनकी आँखो से अगोचर और कितनी घटनाएँ घटती हैं, सिनेमा के अभाव में वे कैसे जानते? केवल यही नहीं, उनका हास-रुदन, सुख-दुःख जैसे उनके अपने लिए वास्तव मे सत्य है, वैसे ही कितने ही अन्यों के लिए भी उतने ही सत्य हैं—यह बोध उन्हें कैसे होता? और प्रचार की ही बात लीजिये। सभी देशों और सभी भाषाओ मे तो उत्कृष्ट साहित्य-रचना होती है। उन साहित्यिक रचनाओ का समाचार यदि उन पर फिल्म न बनी होती तो इतनी शीघ्रता से कैसे मिलता?

अब एक और पहलू पर विचार करें। उदाहरण देने पर बात स्पष्ट हो जायेगी। कलकत्ते मे एक फिल्म आयी थी जिसका नाम था 'गुडबाई मिस्टर चिप्स'। सभी फिल्म की प्रशंसा करते थे। सुना है इस प्रकार की फिल्म इससे पहले नहीं बनी थी। बंधु-बांधवों से भेंट होने पर वे पूछते 'गुड बाइ मिस्टर चिप्स' क्या अब तक नहीं देखा? सचमुच मैं अन्त तक फिल्म न देख सका। विभिन्न तबके के लोगो से फिल्म की प्रशंसा सुनते-सुनते यह धारणा बन गयी थी कि फिल्म सचमुच ही देखने योग्य है। कोई फिल्म अच्छी बनी है यह सुन कर आनन्दित होना स्वाभाविक है और केवल फिल्म क्यों, साहित्य की किसी अच्छी पुस्तक के प्रकाशित होने का समाचार क्या आनन्ददायक नहीं है।

परन्तु पुस्तक और सिनेमा मे यही मुख्य अन्तर है। किसी अच्छी फिल्म की सूचना मिलते ही उसे न देखने से बाद में देखने का सुयोग नहीं मिलता है। इसके बाद वह फिल्म कब आयेगी, इसका कुछ ठीक नहीं। हो सकता है, जब आये तो मैं अस्वस्थ रहूँ या विदेश मे छुट्टी बिता रहा होऊँ। किन्तु पुस्तक की बात भिन्न है। जब चाहें पुस्तकालय से ला सकते हैं या किसी दुकान से खरीद सकते हैं। समय और सुयोग मिलने पर धीरे-धीरे उसे पढ सकते हैं।

'गुड बाई मिस्टर चिप्स' नामक पुस्तक उसी प्रकार एक दिन हाथ लगी। लेखक हैं जेम्स हिल्टन।

भूमिका मे लिखा था, एक दिन किसी पत्रिका के संपादक का आदेश पाकर उन्होंने शायद कहानी लिखना आरम्भ किया। एक ही रात मे पूरी कहानी लिख डाली और प्रकाशित होते ही पुस्तक लाख-लाख अथवा करोड़-करोड़ प्रतियाँ बिक जाती थीं। लेखक की लोकप्रियता ने एक नये दिगन्त का स्पर्श किया। अलाउद्दीन के जादुई चिराग की कहानी सबने सुनी है, किन्तु यह उससे भी अधिक रोमांचकारी है। साहित्य की लोकप्रियता इतनी अधिक भी हो सकती है, इसके पूर्व किसी ने ऐसा नहीं देखा था।

भूमिका पढने पर पुस्तक पढने का लोभ और भी तीव्र हो उठा।

किन्तु पढते-पढते अवाक् रह गया। यह ऐसी क्या कहानी है? अत्यन्त साधारण कहानी की एक अत्यन्त साधारण उपस्थापना। चिन्तन की दृष्टि से लेखक मे कोई सामग्री देने का सामर्थ्य नहीं है। आगिक की दृष्टि से भी कोई नूतन चमत्कार नहीं है। कम में वृहत का संकेत हो सो भी नहीं है। समाचार-पत्र की रिपोर्ट की तरह रोचक और वियोगान्त है।

किन्तु सुना है फिल्म के हिसाब मे यह हृदयग्राही है। तब कौन-सा सिद्धान्त ग्रहण करूँ? सिनेमा क्या साहित्य का परिपूरक है? साहित्य की व्याख्या मे क्या सिनेमा कोई सहायता करता है? घटिया उपन्यास का यदि सफल फिल्मीकरण हो सकता है तो सफल उपन्यास का सफल फिलमीकरण क्यों संभव नहीं है?

जो नहीं होता है उसके लिए क्षोभ करने से लाभ नहीं। विशेष रूप से एक ऐसा भी दिन आ सकता है जब सिनेमा के लिए ही कहानी लिखी जायगी। वह पढने के लिए नहीं होगी। फिल्म बनाने के लिए ही होगी। एक पाठ्य साहित्य होगा और एक होगा चलचित्र-साहित्य। यदि ऐसा होता है तो मुझे कुछ नहीं कहना है। किन्तु जब तक ऐसा नहीं होता है तब तक साहित्य की वकालत करने का मेरा अधिकार रहेगा।

अब मैं अपने पुराने प्रसंग पर लौट रहा हूँ। साहित्य मेरा पेशा नहीं, उसके प्रति मेरा लगाव है इसीलिए मैं इतनी बात कह गया। सिनेमा बहुत दिनों से साहित्य को भुना कर पैसा कमा रहा है। ऐसा करने से भी किसी की हानि नहीं हुई है। किन्तु साहित्य की अमर्यादा की बात सोचकर ही मैं विचलित हो उठता हूँ—चाहे वह मेरी रचना हो अथवा दूसरे की।

सो जब एक दिन सिनेमा के संचालकों की ओर से मेरे पास पत्र आया कि मेरी

कहानी की पटकथा अमुक तारीख को सबके सामने पढ़ी जायेगी और उसमें मेरी उप-स्थिति भी आवश्यक है तो मैं आश्वस्त हो गया। फिर उन्होने मुझे मर्यादा प्रदान की है। सिनेमा के संचालक साहित्य को मर्यादा दे रहे हैं, मेरे जैसे अपात्र के लिए यह एक विचित्र अनुभव था।

निर्धारित तिथि पर मैं मिस्टर बी० एन० सरकार के एलगिन रोड स्थित निवास स्थान पर उपस्थित हुआ। देखा, अनेक गण्यमान्य अतिथि उपस्थित हैं। पटकथा-लेखक निताई भट्टाचार्य से मैं परिचित नहीं था। मिस्टर सरकार ने परिचय कराया और शिल्प-निर्देशक सौरेन सेन भी थे। इनके अतिरिक्त निर्देशक कार्तिक चट्टोपाध्याय तथा और भी कई विशिष्ट व्यक्ति थे। सबके नाम आज स्मरण नहीं है।

गृहस्वामी की ओर से प्रचुर अल्पाहार की व्यवस्था थी। खाने-पीने के बाद पढ़ने का काम आरम्भ होनेवाला था। सौरेन सेन बोले, मेरी ही कहानी दूसरे की कलम से लिखी हुई है। दूसरे के मुख से सुननी है। यह एक अनुभव ही है। मिस्टर बी०एन० सरकार ने सिगरेट सुलगायी। सब निस्तब्ध थे। धीरे-धीरे पढ़ना आरम्भ हुआ।

सौरेन सेन उन दिनो कलकत्ते के सिने जगत के एक नामी आर्ट डायरेक्टर थे। बंगाल की फिल्म देखने से ही ज्ञात हो जाता है कि उसके सर्वांग मे कितनी दारिद्रय है। बहिरंग का इतना दारिद्रय और किसी भाषा की फिल्म मे होगा, इसमें सन्देह है। उस दारिद्रय के कारण और कम पैसे से कम खर्च मे कला-निर्देशन करना सरल काम नहीं है। बहुत बड़े आदमी का विराटतम प्रासाद बनाना है लेकिन कम पैसे मे। इसका सामना करने को सौरेन सेन तैयार हैं। निर्माता मे अधिक व्यय करने का सामर्थ्य नहीं है लेकिन अधिक व्यय का रूपक किया गया है, इसके लिए सौरेन सेन हैं। बदनामी होगी तो कला-निर्देशक की।

बाद मे सौरेन सेन से और अधिक घनिष्ठता हो गई थी—उस समय मैं कुछ दिनों के लिए बंबई मे था।

लेकिन उस बात की चर्चा बाद मे करूँगा।

और कार्तिक चट्टोपाध्याय का नाम मैं पहले ही सुन चुका था। सिने-निर्देशक कहने से जो चेहरा आँखो के सामने तैर उठता है, उससे कार्तिक चट्टोपाध्याय के चेहरे या आचरण मे कोई समानता न थी। बिलकुल सीधे-सादे दाल-भात की भाँति चेहरे के आदमी थे। आवश्यकता पड़ने पर रामकृष्ण मिशन के कार्यकर्त्ता के रूप मे भी खप सकते थे और रैली ब्रदर्स के बैंच डिपार्टमेन्ट के बड़े बाबू के रूप मे भी।

पटकथा सुनने के लिए और जो-जो व्यक्ति आये थे उनमें अनेक सीधे-सादे साधारण लोग थे। मुझे ऐसा नहीं लगा कि जैसे मैं सिनेमा व्यवसायियों के बीच बैठा हूँ।

विशाल हॉल। हम चारो ओर फैलकर गोलाकार बैठे थे। निताई भट्टाचार्य महाशय अपनी पटकथा का पृष्ठ पर पृष्ठ पढ़ते जा रहे थे। सभी चुपचाप सुन रहे थे। मिस्टर बी०एन० सरकार सिगरेट पर सिगरेट फूँके जा रहे थे।

अचानक मेरी दृष्टि कला-निर्देशक सौरेन सेन पर पड़ी। वे खर्राटे भर रहे थे और गहरी नींद मे सो गए थे।

निताई भट्टाचार्य पटकथा पढ़ रहे थे और बीच-बीच में सिर उठाकर मिस्टर सरकार की ओर देख लेते थे।

किन्तु मिस्टर सरकार निर्विकार बैठे थे। वे मनोयोगपूर्वक सिगरेट पर सिगरेट फूंके जा रहे थे।

जब रात के साढ़े-नौ बज गये तो किसी ने कहा, "अब आज बस।"

तत्क्षण पटकथा पढ़ना बन्द हो गया। सब लोग ठीक से बैठ गए। सौरेन सेन भी तब तक जग चुके थे। बोले, "हाँ, आज यहीं तक रहने दो।"

रहने दो तो रहने दो। सभी उठकर खड़े हो गये। साथ ही मैं भी उठ गया। घर से निकलने पर मार्ग में एलगिन रोड पड़ी। उस समय लोग आपस में बातचीत करने लगे। उपन्यास अच्छा है या बुरा, यह प्रश्न उस समय अवान्तर था। प्रश्न यही था कि पटकथा अच्छी है या बुरी। किन्तु अच्छे-बुरे का विचार तभी हो सकता है जब पूरी सुनी जाय। उसके पहले तो मन्तव्य प्रकट नहीं किया जा सकता। अतः सब बच गये। मैं भी मन्तव्य प्रकट करने के दायित्व से उस दिन छुटकारा पा गया।

तय हुआ कि बाद में कोई दूसरी तिथि निर्धारित करके श्रोताओं को सूचना दे दी जायेगी।

उसके बाद हम अपने-अपने घर चले गये। एक दिन का या यों कह सकते हैं कि मात्र कुछ घण्टों का परिचय था। अतः विदा के दो-चार शुष्क शब्द कहकर मैं चला आया। इसके अतिरिक्त और किसको क्या कहता? पटकथा अच्छी है या बुरी, यह कहने का क्या मुझे अधिकार है।

मैं कहानी लिखता हूँ और कहानी-उपन्यास को मोटे तौर पर समझ लेता हूँ। किन्तु पटकथा न तो मैंने कभी लिखी और न सुनी।

कहानी-उपन्यास से पटकथा में जो एक मूलगत अन्तर है, यह मैंने उस दिन पहले-पहल समझा।

कहानी में हम (कम-से-कम मैं) संपूर्ण चित्र को स्पष्ट करके रखने की चेष्टा करते हैं। जिस घटना की कहानी लिखते हैं, उसके पात्र-पात्री, परिवेश आदि सबका विशद विवरण देकर दृश्य को जीवन्त बनाने की चेष्टा करते हैं। आवश्यकता-भर संलाप भी उसके साथ जोड़ देते हैं। कहानी का तात्पर्य चाहे जो हो, घटना की स्थापना और चरित्र-सृष्टि यदि यथार्थ न हो तो तात्पर्य स्पष्ट नहीं हो पाता।

उदाहरण देने पर बात स्पष्ट हो जायेगी।

देवदास शरतचन्द्र का उपन्यास है। उपन्यास पढ़ते-पढ़ते आँखों के सामने चित्र उभर आते हैं—वही गाँव, वही तालाब का घाट, वही घर, वही देवदास, वही पार्वती। शरतचन्द्र ने हर वस्तु का वर्णन किया है। जितना वर्णन नहीं किया है उसकी कल्पना करने में कोई बाधा नहीं होती। अपनी कल्पना के रंग और तूलिका से उसे हम मन में अंकित कर लेते हैं।

परन्तु पटकथा लगता है, भिन्न वस्तु है। वास्तव मे वह सिनेमा के निमित्त लिखी गयी खसरा विशेष होती है। मूर्ति गढने के पहले जैसे पुआल का ढाँचा। पुआल के उस ढाँचे* को देखकर पुजारी यह समझ नहीं पाता है कि उस ढाँचे पर मिट्टी और रंग चढाने से वह देखने मे कैसा लगेगा।

मेरी स्थिति उस समय पुजारी जैसी ही थी।

मैं चुप्पी ओढे उस दिन घर लौट आया था। बस इतना ही अहसास हुआ कि उस आंशिक पटकथा को सुनकर मैं समझ नहीं सका कि वह कहाँ तक मेरे उपन्यास के अनुरूप हुई है।

लेकिन यह सब सोचकर मुझे परेशान होने की जरूरत ही क्या है? जो लोग मेरे उपन्यास का फिल्मीकरण करने जा रहे हैं, वे ही इस पर सोचें। मान लें कि चलचित्र घटिया साबित होता है तो उससे मेरा क्या बनता-बिगड़ता है? उससे मेरी पुस्तक पर कोई आँच नहीं आयेगी।

आँच तब आती जब वह 'साहब बीबी गुलाम' न होकर कोई अल्प-पठित उपन्यास होता। जो पुस्तक प्रत्येक घर, प्रत्येक ड्राइंग रूम, प्रत्येक क्लब—यहाँ तक कि प्रत्येक रसोई घर मे पहुँच गयी है, उसका फिल्मी रूप यदि घटिया होगा तो निर्माता ही बदनाम होंगे। मेरे उपन्यास की उससे कोई हानि नहीं होगी। वह बदनामी मुझे छू नहीं पायेगी।

लेकिन छू नहीं पायेगी—यह कहना ठीक नहीं है।

क्योंकि बंगाल मे शिक्षित व्यक्तियों की संख्या ही कितनी है! जो लोग अपना हस्ताक्षर मात्र किसी तरह कर लेते है यहाँ उन्हीं लोगों की संख्या अधिक है। निरक्षरो की बात छोड़ ही दें। यही वजह है कि बंगाल मे पाठको की तुलना मे दर्शक ही अधिक हैं।

चूंकि मैं लेखक हूँ इसलिए चाहता हूँ कि दर्शको की तुलना में पाठकों की ही संख्या अधिक रहे। उनके विवेचन की क्षमता में अभिवृद्धि हो। जो लोग पुस्तक पढ़ते हैं उनके लिए सिनेमा देखना कोई जरूरी नही है। जिस देश के सब लोग शिक्षित हैं उस देश मे सिनेमा क्या नहीं चलता है? बल्कि वहाँ उसका चलन अधिक ही है। वे पुस्तक भी पढ़ते हैं और सिनेमा भी देखते हैं।

कई दिन बाद न्यू थियेटर्स के सचालको की ओर से पुनः एक निमंत्रण-पत्र मिला—एक निश्चित तारीख मे पटकथा का बाकी अंश पढा जायेगा। मुझसे अनुरोध किया गया था कि मैं निश्चित तारीख पर अवश्य ही उपस्थित होऊँ।

पत्र पढ़कर तय नहीं कर पाया कि मेरा जाना उचित है या नहीं।

बहुत देर तक सोचा। सिनेमा मे मेरा बहुपठित, बहुनिंदित और बहुप्रशंसित उपन्यास दिखाया जायेगा, यह कम प्रशंसा की बात नहीं है। खास तौर से मेरे जैसे नये लेखक के लिए।

---

* बड़ा मूर्ति बनाने के पहले पुआल का एक ढांचा बनाया जाता है जिस पर आगे मिट्टी चढाकर मूर्ति बनाई जाती है।—अनु०।

मैंने बहुत बार सोचा। सोचा, फिर क्या मैं सिनेमा के लिए ही साहित्य लिखता हूँ ? साहित्यकार की सफलता क्या यही है कि उसकी कहानी पर फिल्म बने ? मैं क्या अर्थोपार्जन के लिए ही साहित्य लिखता हूँ ? मैं मितव्ययी आदमी हूँ। एक मात्र पुस्तक पढ़ने और लिखने के अतिरिक्त किसी नशे का शिकार नहीं हूँ। नशेबाज को देखकर साधारणतः मेरे मन में भय और दया के अतिरिक्त कोई दूसरा भाव नहीं जगता। फिर मैं इतना क्यों सोच रहा हूँ ?

सोच इसलिए रहा हूँ कि मैं भी एक सामाजिक प्राणी हूँ। मैं समाज की उपेक्षा नहीं कर सकता, इसीलिए अपने उपन्यास पर फिल्म बनाने की मैंने स्वीकृति प्रदान की है। ग्राहम ग्रीन की जिस विवशता की चर्चा कर चुका हूँ वह विवशता मेरे साथ नहीं है।

निश्चित तिथि पर मैं गया नहीं। प्रथम दिन की तरह ही पटकथा अवश्य पढ़ी गयी होगी, मगर उसके बारे मे कोई खोज नहीं की। इस घटना के प्रायः एक मास बाद दो सज्जन मेरे घर पर आये।

उन्हे देखकर पहचान गया। एक व्यक्ति कार्तिक चट्टोपाध्याय और दूसरे सौरेन सेन थे।

वे आकर मेरे कमरे में बैठ गये।

कार्तिक चट्टोपाध्याय बोले, "उस दिन आप क्यों नहीं आये ?"

कैफियत के तौर पर मैंने कहा, "सिनोरियो मेरी समझ मे नहीं आती है।"

कार्तिक बाबू बोले, "आपने अच्छा ही किया। आपके न आने से कोई क्षति नहीं हुई।

मैंने पूछा, "कैसा रहा ?"

कार्तिक बाबू बोले, "यही बात तो आपसे कहने आया हूँ। सरकार साहब ने फिल्म के निर्देशन का भार मुझी पर सौंपा है।"

मैंने कहा, "आपकी दो-चार फिल्मे मैंने देखी है। खासकर 'महाप्रस्थानेर पथे' मुझे बहुत अच्छी लगी थी।"

कार्तिक चट्टोपाध्याय बोले, "आपने इतनी मोटी पुस्तक लिखी है कि क्या इस पर मैं फिल्म बना सकूँगा ?"

मैंने मार्गरेट मिचेल की 'गॉन विथ द विण्ड' पुस्तक का नाम लिया। दास्तोव्स्की की 'ब्रदर्स कारमाजोव' और तालस्तॉय की 'वार एण्ड पीस' पुस्तक का नाम लिया। उनसे कई छोटे लेखकों का भी नाम लिया।

कार्तिक चट्टोपाध्याय बोले, "उन लोगों के देश की बात छोड़ दें। हमारे बगाल प्रान्त में उतनी बड़ी पुस्तक नहीं है। आपने जनाब खाना-पीना ताक पर रखकर ईंट के बराबर एक किताब लिख डाली।"

मैंने कहा, "फिर भी तो लोग उसे पढ़ रहे हैं। कहते हैं, और मोटी होती तो अच्छा होता।"

कार्तिक चट्टोपाध्याय बोले, "आप तो लिखकर मुक्त हो गये। मुझे तो सिनेमा के

ढाई घण्टे में इसे खत्म करना है।"

मैंने कहा, "सिनेमा के लिए मैंने पुस्तक नहीं लिखी थी।"

इतनी देर के बाद अब सौरेन सेन बोले, "असल में हम जिस काम से आये हैं, वही बता रहा हूँ। आपको जरा कलम चलानी है। सिनोरियो आपको ही लिख देनी है।"

इतनी देर बाद उनके आने का उद्देश्य समझ में आया। मैंने कहा, "मैंने जान-बूझकर ही इस प्रकार का कोन्ट्रैक्ट नहीं किया है।"

कार्त्तिक बाबू बोले, "आपकी पुस्तक है, आप अगर कुछ नहीं करते हैं तो इससे आपकी ही बदनामी फैलेगी।"

मैंने कहा, "मेरी बदनामी तो फैलनी ही है 'सागर में जब सेज बिछायी, मुझे ओस का क्या भय'—मेरी यही हालत है। अखबारों में आपने देखा नहीं कि मेरे विरुद्ध कितनी कुत्सा प्रकाशित हुई है। लोगों का कहना है कि मैंने विश्वनाथ शास्त्री की पुस्तक से कहानी की चोरी की है।"

कार्त्तिक बाबू बोले, "मैंने भी सुना है। बात क्या है?"

मैंने कहा, "बाजार में तरह-तरह की अफवाहें हैं। एक पत्रिका में लिखा है—विमल मित्र इनकम टैक्स देते हैं या नहीं, सरकार इसका पता लगाये। अखबार वाले मेरे पास छपी निन्दाओं की कटिंग भेज देते हैं। मुझसे अनुरोध करते हैं कि मैं इसका प्रतिवाद करूँ—"

सौरेन सेन बोले, "आप जवाब क्यों नहीं देते हैं?"

मैंने कहा, "पागल क्या नहीं बकता, बकरा क्या नहीं खाता? साफ-सुथरा कपड़ा-लत्ता पहननेवाले सभी भलेमानस हैं मगर उनके मन में शैतानी भरी रहती है।"

सौरेन सेन बोले, "इन बातों पर सर खपाने की जरूरत नहीं। अब फिल्म बन रही है। देखिएगा, आपके कितने शत्रु पैदा हो जायेंगे। फिल्म बनाना बन्द नहीं करा सकेंगे लेकिन जब रिलीज होगी तो गुस्से में गाली-गलौज शुरू करेंगे।"

मैंने कहा, "यह सब जानने के बावजूद आपलोग फिल्म तैयार क्यों कर रहे हैं?"

कार्त्तिक बाबू बोले, "अखबारों की निन्दा-प्रशंसा की कोई कीमत नहीं। हमलोग यह सब बहुत देख चुके हैं। पैसा मिलेगा तो वे ही लोग प्रशंसा में मोटे-मोटे ग्रन्थ लिख डालेंगे।"

मैं यह सब नहीं जानता था। जानना भी मेरे लिए जरूरी नहीं था। जहाँ तक साहित्यिक आलोचना का प्रश्न है, यह बात अक्षरशः सत्य है। पाठक आलोचकों की निन्दा या प्रशंसा की परवाह नहीं करते, यह मैं जानता था। खास तौर से बंगाल के पाठक-पाठिकाओं के संबंध में अपनी धारणा से बता सकता हूँ कि वे बुद्धिमान और विचक्षण होते हैं। लेकिन सिनेमा के दर्शकों के साथ भी वही बात है, मुझे इसकी उस दिन पहले-पहल जानकारी हुई।

कार्त्तिक बाबू ने पूछा, "आप सिनोरियो तैयार कर रहे हैं न?"

मैंने कहा, "सिनोरियो के बारे में मुझे कोई जानकारी नहीं है। जिन्दगी में कभी

यह सब काम नहीं किया है।"

कार्तिक बाबू बोले, "चाहे न किया हो, मगर कोशिश करने में हर्ज ही क्या है ?"

साहित्यकार के जीवन में यह एक बहुत बड़ी समस्या है। एक ओर आराम है और दूसरी ओर बेहद परिश्रम। मुझे स्मरण है, जब मैं सिनोरियो के लिए पृष्ठ पर पृष्ठ लिखता जा रहा था, उस समय न तो मुझे शारीरिक और न ही मानसिक कष्ट का अनुभव हुआ था। बातचीत और अड्डेबाजी करते-करते लिखता रहा। इतने दिनों से कहानी-उपन्यास लिखता आ रहा हूँ। उनके लिए जो परिश्रम करना पड़ा है, उसकी भी स्मृति ताजी है। उस परिश्रम के बारे में सोचने पर डर लगता था। कितनी ही रात जागकर लिखना पड़ा है। एक 'सिच्यूएशन' के लिए परेशान-परेशान हो जाता था। या फिर एक कथोपकथन के लिए सिर के बाल नोचने का मन करने लगा था। दुनिया के तमाम लोग जब नींद में मशगूल रहते थे तब मेरी आँखों से नींद कतराती रहती थी। तन्द्राहीन प्रहरी के भाँति मैं उपन्यास का सृष्टिकर्त्ता होकर चारों ओर निगाह रखे रहता था ताकि कहीं कोई दोष न रह जाये। कहानी का कोई धागा यदि कहीं ढीला रह गया हो तो उसे मजबूती से कसकर सामंजस्य स्थापित करना होगा। एक प्रकार से ख्याल और ठुमरी गीत की तरह राग-रागिनी के एक बँधे-बँधाये पथ का शास्त्र में उल्लेख है। लेकिन उसमे प्राणों का संचार करना क्या सहज काम है ? स्वयं ही कहानी को जटिल जाल में उलझाना होगा, उसके बाद उस जाल को काटकर कहानी को परिणति (क्लाइमेक्स) के सुष्ठु समाधान के प्रान्तर में लाकर खड़ा करना होगा। वहाँ सहायता करने के लिए कोई नहीं रहता, और न ही समाधान बनाने के लिए। तुमने जिस जटिलता की सृष्टि की है उसे आसान बनाना तुम्हारा ही फर्ज है।

लेकिन सिनोरियो और ही वस्तु है।

वहाँ निर्देशक और उसके सहकर्मी बैठे रहते हैं। आवश्यकता पड़ने पर कैमरामैन और अभिनेता-अभिनेत्री भी आकर दो-एक प्वाइन्ट बता सकते हैं।

सिनोरिया तैयार करते-करते मुझे लगा, बस यही, इसीका नाम सिनोरियो है ?

सचमुच सिनोरियो यदि इतना सहज है तो फिर कौन कष्ट स्वीकार कर उपन्यास लिखने जाये ? इतनी आसानी से यदि पैसा आ जाये तो फिर रात में जगकर और कमरे में अकेले बैठकर मैं उपन्यास ही क्यों लिखूं ?

सिनेमा चूंकि एक सामूहिक कर्म है इसीलिए इतना सहज है और साहित्य चूंकि एकल लेखक का कार्य है इसीलिए वह इतना कष्टकर है। लेकिन कष्टकर रहने के बावजूद पढ़ने में वह कष्टदायक नहीं होता। जो पढ़ता है उसे पढ़ते-पढ़ते लगता है कि लेखक आनन्द के आवेग में पुस्तक लिख गया है। लेखक रात्रि-जागरण कर पुस्तक लिखता है परन्तु उस जागरण की छाप कहीं नहीं रहती है। कितने ही शब्द और पंक्तियों को बार-बार काट कर लिखता है परन्तु उसका परिचय कहीं नहीं मिलता।

चूंकि यह सहज-सरल काम है इसलिए इसमें मुझे आकर्षण प्रतीत नहीं हुआ।

उस दिन मैं आमंत्रण पाकर एक सिने क्लब की फिल्म देखने गया। यह देखकर

अवाक् रह गया कि नायक और नायिका बिलकुल नंगे थे। उस दृश्य ने तो जैसे साहित्य को भी पीछे छोड़ दिया था। इसमें शिल्प कहाँ है? आज के साहित्य में जिस प्रकार प्लॉटहीन कहानी रहती है सिनेमा भी उसी प्रकार निराकार हुआ करता है। पहले ऐसा युग नहीं था कि शिल्प के चमत्कार से जो कुछ चलाया जाये, उस पर वाह-वाही मिल जाये। गुरुडम का युग चला गया तो उससे कोई क्षति नहीं हुई है। लेकिन कला की भी एक मूल शर्त हुआ करती है। सिर्फ हवा पीकर जिस तरह आदमी जिन्दा नहीं रह सकता, जड़ न रहने से वृक्ष जिस तरह सजीव नहीं रह सकता, उसी तरह चिरन्तन शर्त को स्वीकार किये बिना कला कला नहीं बन सकती। गीत गाया जाये और उसमें स्वर का स्पर्श न हो तो उसे गीत के रूप में स्वीकार क्यों किया जायेगा और वह गीत सुनने में अच्छा ही कैसे लगेगा?

उस दिन रास्ते में एक पागल से भेंट हो गयी। जाना-पहचाना व्यक्ति था। कुछ दिनों से उसका दिमाग गड़बड़ा गया था। मुझ पर दृष्टि पड़ते ही पागल मेरे निकट आया।

मैंने पूछा, "कैसे हो?"

पागल ने कहा, "सोचता हूँ, दिमाग एक बार डॉक्टर को दिखाऊँ।"

"क्यों दिमाग में क्या हुआ है?"

पागल ने कहा, "देखिए न, मैं अंग्रेजी बोलता हूँ तो वह किसी की समझ में नहीं आती है।"

मैंने अपनी हँसी दबाते हुए कहा, "और बंगला बोलने से?"

पागल ने कहा, "बंगला बोलता हूँ तो लोग आसानी से समझ जाते हैं। कठिनाई सिर्फ अंग्रेजी के साथ है। शायद आधा दिमाग ऑपरेशन कराना होगा।"

सिने क्लब की फिल्म देखते हुए मुझे वैसा ही लग रहा था। सोच रहा था, इन फिल्मों के बनानेवालों का आधा दिमाग गड़बड़ा गया है क्या?

रोम साम्राज्य का पतन नाना प्रकार के कारणों से हुआ था। उन कारणों में से एक कारण था कला की मृत्यु। उस समय कुछ ऐसे साहित्यकार हुए थे जो विकृत रुचि को ही कला के नाम पर चला रहे थे। स्याफो एक ऐसी ही साहित्यकार थी। हर युग में कला के रीति-रिवाज में बदलाव आता रहा है। लेकिन मूल रीति में कोई बदलाव नहीं आया है और वह मूल रीति है संयम। सहज भाषा में इसे ही ग्रहण-वर्जन का समन्वय कहा जाता है। जीवन का क्षेत्र विशाल है। कला में उसके कुछ अंशों को ग्रहण करना पड़ता है और कुछ अंशों को वर्जित करना पड़ता है। कितना ग्रहण किया जाये और कितना वर्जन, यह कलाकार का निजी कर्म है। यह उसकी सामर्थ्य पर निर्भर करता है। लेकिन उसकी माप का भी कोई न कोई मानदण्ड ही है। उस मानदण्ड का निर्धारण कौन करेगा? यह काम महान् कलाकार का है।

सूर्य प्रतिदिन सवेरे पूर्व दिशा में उगता है।

कोई यदि कहे, "हे सूर्य, अब तुम्हारा युग बीत गया, अब तुम पश्चिम में उगो—"

सूर्य कहेगा, "मेरा युग बीत गया है, इसका प्रमाण क्या है ?"

वह कहेगा, "प्रमाण यही है कि अब हम और अधिक सभ्य हो गये हैं। बैलगाड़ी के युग का अतिक्रमण कर हम जेट प्लेन के युग मे पहुँच गये हैं। अब हम न तो नंगे रहते हैं और न वल्कल धारण कर घूमते-फिरते हैं। अब हम धोती-कुरता, कोट-शर्ट पहनते हैं, चाँद के इर्द-गिर्द चक्कर काटते हैं, उपनिषद-वेद छोड़कर आधुनिक उपन्यास पढ़ते हैं, पॉप सॉंग गाते हैं।"

सूर्य कहेगा, "तुम आधुनिक हो तो मैं अत्याधुनिक हूँ। यही वजह है कि मुझमें वदलाव नही आता है। चूंकि मैं प्रतिदिन नया जन्म-ग्रहण करता हूँ इसलिए नवीन हूँ। हर रोज पूर्व दिशा मे उगते रहने पर भी मैं नये का नया ही रहूँगा और तुम लोग पॉप सॉंग गाने पर भी आहिस्ता-आहिस्ता पुराने पड़ जाओगे।"

यही वजह है कि रवीन्द्रनाथ ने लोकेन पालित को एक पत्र मे लिखा था : मनुष्य का प्रवाह तीव्र गति से प्रवाहित होकर चला जा रहा है, उसके संपूर्ण जीवन की समष्टि कहीं नही टिक पाती है—एकमात्र साहित्य ही रह जाता है। संगीत, चित्र, विज्ञान, दर्शन मे संपूर्ण मानव नहीं है। इसीलिए साहित्य को इतना सम्मान दिया जाता है। इसीलिए साहित्य सभी देशो की मनुष्यता का अक्षय भंडार है। इसीलिए प्रत्येक जाति इतने अनुराग और गर्व के साथ अपने साहित्य की रक्षा करती है।"

खैर यह बात अभी रहे। जो कह रहा था, वही बताता हूँ।

मिस्टर सरकार के एलगिन रोड स्थित निवासस्थान के एक एकान्त कमरे में वैठकर हम दोनों पटकथा लिखते थे। उस समय मिस्टर सरकार सपरिवार सिमुलतल्ला मे छुट्टी बिताने गये थे।

एक दिन लिखने का काम समाप्त हो गया।

कार्त्तिक बाबू बोले, "कल सरकार साहब कलकत्ता आ रहे हैं। कल ही उन्हे सिनोरियो सुनायेंगे। जरा जल्दी चले आइएगा।"

"ठीक है।" मैंने कहा।

उसके बाद कार्त्तिक बाबू बोले, "एक बात और सरकार साहब अगर पूछें कि सिनोरियो आपको कैसा लगा तो कहिएगा कि अच्छा लगा है।"

यह बात मुझे अच्छी नहीं लगी। जिसे समझ नहीं सका उसके बारे मे कहना होगा कि समझ गया यह मुझे अच्छा नहीं लगा। तब हाँ, एक बात का अवश्य ही पता चल गया और वह यह कि मुझे जैसे अनाड़ी आदमी की बात की भी कोई कीमत है। तेरह वर्ष की उम्र मे साहित्य लिख रहा हूँ। इतने दिनों के बाद मुझे लगा कि एक व्यक्ति ऐसा है जो मेरी बात को महत्त्व देगा। सच बता रहा हूँ, उस दिन यह सोचकर मुझे प्रसन्नता हुई थी।

लेकिन इस संबंध मे मैंने कार्त्तिक चट्टोपाध्याय के सामने एक शर्त रखी और वह यह कि मैंने पटकथा लिखी है, इसका कहीं उल्लेख न रहना चाहिए।

कार्त्तिक बाबू ने आश्चर्य मे आकर कहा, "क्यों ? आप पटकथा लिख सकते हैं, इस

बात का प्रचार-प्रसार होने से तो आपको ही लाभ होगा।"

"लाभ नहीं, बल्कि नुकसान ही होगा।" मैंने कहा।

आप यह क्या कह रहे हैं साहब ! मैंने तो देखा है, सभी अपना नाम देने को बेचैन रहते हैं। आप नाम कमाने को इच्छुक नहीं हैं ?"

मैंने कहा, "पटकथा-लेखक की हैसियत से मैं नाम नहीं कमाना चाहता। यह मेरे लिए बदनामी ही होगी। लेकिन पटकथा-लेखक की जगह आप किसी का भी नाम नहीं दे सकेंगे। यह भी मेरा एक अनुरोध है।"

पचीसेक दिन तक निर्देशक के साथ एक ही मेज पर बैठने के कारण हमारा परिचय घनिष्ठता में बदल गया था। पटकथा-कर्म कुछ ऐसा ही होता है कि घनिष्ठ हुए बगैर काम अच्छी तरह चल नहीं सकता। निर्देशक और पटकथा-लेखक को तदात्म होना होगा, एकाकार होना होगा। दोनों का सोच एक जैसा ही होना चाहिए। रवीन्द्रनाथ ने लिखा है : 'गीत अकेले गायक की चीज नहीं है, दोनों को ही गाना पड़ेगा।' एक कलम से लिखेगा और दूसरा उसे मन ही मन लिखेगा। इस बीच मैंने कार्तिक बाबू को पूरे तौर पर पहचान लिया और कार्तिक बाबू ने भी मुझे पहचान लिया। हम दोनों के बीच अपरिचय या अर्ध-परिचय की कोई दीवार नहीं रही।

हर रोज दोपहर को हम एलगिन रोड स्थित उस खाली मकान में जाते थे। गरमी के दिन थे। मकान के निकट ही एक बगीचा था। घास से भरी बहुत बड़ी जमीन थी। मकान के अन्दर धूप आती थी। हम दोनों सब कुछ भूलकर साठ-सत्तर वर्ष पहले के कलकत्ते में लौट जाते थे। कभी मैंने अपनी पसन्द से पुस्तक लिखी थी। उस समय मैं किस्सागोई के व्याकरण से परिचित नहीं था। कहानी के किस स्विच को दबाने से रोशनी जलती है, पुस्तक पढ़कर लोग क्यों हँसते-रोते हैं, इन सब नियमों की भी मुझे कोई जानकारी न थी। पटकथा लिखने के दौरान मुझे इन नियमों का पता चला। अरे, इसीलिए मैंने यह बात लिखी है, इसीलिए यहाँ यह वाक्य लिखा है। नियम जाने बिना मैंने जो कुछ लिखा था, नियम जानने के बाद वैसा लिख सका हूँ या नहीं, कौन जाने ! नियम जानना अच्छा है या बुरा, यह मैं बता नहीं सकता। यह बहुत कुछ सहजात कर्म की तरह है। अच्छे-बुरे के विवेचन की क्षमता सहजात है, शिक्षा-सापेक्ष नहीं। मोटे तौर पर यह देखने में आता है कि हम जिन्हें अशिक्षित कहते हैं शिक्षितों की तुलना में रसबोध उनमें अधिक मात्रा में रहता है। रामप्रसाद के गीत जिस दिन किसान-मजदूरों के होठों पर गूंजने लगे उसी दिन रामप्रसाद की ठीक से पहचान हुई। कॉलिज के प्रोफेसर छात्रों को क्लास में जो कुछ पढ़ाते हैं, वह उन्हें परीक्षा में सफलता प्राप्त करने में सहायता कर सकता है लेकिन जहाँ तक रसबोध की बात है, वह शिक्षा कभी सहायक सिद्ध नहीं हो सकती। कोई खाद्य पदार्थ खाने में अच्छा लगा या बुरा, इसे समझने के लिए पाक-प्रणाली की पुस्तक पढ़ने से काम नहीं चलता। जो अच्छी रसोई पका सकता है उसकी रसना भी निर्दोष होगी, ऐसी कोई बात नहीं। उसी प्रकार जिसकी रसना निर्दोष है वह रसोई पकाने की कला में निपुण होगा, ऐसा भी दावा नहीं

किया जा सकता । जो लोग भोजन विलासी हैं उनका श्रेष्ठ परीक्षक उनकी जीभ है और जो लोग रसोई के पारदर्शी हैं उनका मूलधन उनकी लगन और अनुभव है ।

एक विख्यात फ्रांसीसी लेखक अपनी रचना अपनी घरेलू दाई को सुनाकर यह जानना चाहता था कि रचना किस प्रकार की है। दाई जब कहती कि रचना अच्छी है तभी उन्हें प्रसन्नता होती थी । पंडित मे पांडित्य हो सकता है लेकिन रस एक अलग ही वस्तु है । रस का आवेदन सबसे बड़ा आवेदन होता है । वह न तो देश भेद और न ही जातिभेद का कायल है । ब्राह्मण लालन फकीर के घर पर पत्तल बिछाकर खाना खाने नहीं बैठते थे परन्तु उनके गीतों के रस का आस्वादन करने मे उन्हे कोई हिचक महसूस नहीं होती थी । दुनिया के किसी विश्वविद्यालय मे धरना देने पर इस रस की डिग्री प्राप्त नही हो सकती है ।

माइकेल मधुसूदन दत्त ने जब 'मेघनाद वध' काव्य लिखा तो पंडितों ने उसके विरुद्ध राय जाहिर की । विद्यासागर ने व्याकरण की गलती भी दर्शायी । लेकिन माइकेल पंडितों के फेरीवाले नहीं थे, वे तो रस का कारोबार करनेवाले थे । यद्यपि वे मन ही मन क्षुब्ध हुए परन्तु सुदिन की प्रतीक्षा करने लगे ।

एक दिन वह रास्ते से पैदल जा रहे थे । एकाएक बारिश होने लगी । वह निकट के एक पंसारी की दुकान की चाल के नीचे जाकर रुक गये । पंसारी के घर के अन्दर एक व्यक्ति कोई पुस्तक जोर-जोर से पढ़ रहा था और कुछ व्यक्ति मन लगाकर उसे सुन रहे थे ।

अचानक उन्हे लगा, वे लोग उन्ही की पुस्तक पढ रहे हैं—'मेघनाद वध' ।

माइकेल चौंक पड़े । जिस पुस्तक की पंडितो ने निन्दा की है, विद्यासागर ने जिसमे व्याकरण की अशुद्धि बतायी है, वही पुस्तक साधारण पंसारी की दुकान मे पढी जा रही है और साधारण लोग इसे सुन रहे हैं ।

जब तक वे वहाँ खड़े रहे तब तक वे उस पुस्तक का पाठ करते रहे और उसके रस का उपभोग करते रहे । जब बारिश थमी तो वह पुनः रास्ते पर निकल आये । अपनी पुस्तक 'मेघनाद वध' के संबंध मे उन्होंने निश्चिन्तता की साँस ली, भय की कोई बात नहीं । साधारण लोगो ने जब उनकी रचना को ग्रहण कर लिया है तो पंडित चाहे जो कुछ कहें, इससे उनका कुछ बनता-बिगडता नही ।

× × ×

बहुत दिन पहले की बात है लेकिन मुझे अब भी याद है । सुदूर बिहार मे उन दिनों बंगाली-उच्छेद का आन्दोलन चल रहा था । प्रान्तीयता के पाप ने तब बिहार में उग्र रूप धारण कर लिया था । जिनके पुरखे बिहार के अधिवासी रहे हैं, उन्हें भी डोमिसाइल सर्टिफिकेट लेना होगा वरना उन्हे बिहार छोड़कर बंगाल लौट जाना होगा । प्रवासी बंगालियों को वहाँ सरकारी नौकरी नही मिलेगी । वहाँ व्यवसाय कर वे जीविका का उपार्जन नहीं कर सकते हैं । एक शब्द मे यही कहा जायेगा कि उस समय बिहार के बंगाली-समाज मे भय का वातावरण फैला हुआ था ।

मेरे भैया विहार में डॉक्टर थे। डॉक्टर विजयकुमार मित्र का उन दिनों समस्तीपुर मे बहुत नाम और प्रभाव था। प्रत्येक दिन सवेरे से ही रोगियों का क्यू लग जाता था। तमाम रोगियों की चिकित्सा करने मे रात के दस-ग्यारह वज जाते थे। उस पर भी रोगियो को देखना खत्म नहीं हो पाता था। वे लोग वहीं रह जाते थे। उन लोगों के रहने और रसोई बनाने की भी वहाँ व्यवस्था थी।

अखबारो मे जब बंगालियों को भगाने का समाचार पढता तो भैया के लिए मन ही मन भयभीत हो उठता था। भैया को भी क्या कलकत्ता लौट आना पडेगा?

एक बार कॉलेज मे छुट्टी होने पर मैं वहाँ गया। लेकिन आश्चर्य की बात है कि वहाँ जाने पर डिसपेन्सरी मे मरीजों की वैसी ही भीड देखी। वहाँ मैंने बंगाली-विद्वेष नामक कोई चीज नही देखी। बिलकुल स्वाभाविक और सहज संबंध था।

एकान्त होते ही मैंने पूछा, "अखबारो मे तो बंगाली-विद्वेष की बात पढने को मिली, आपके यहाँ तो वैसा कुछ नहीं देख रहा हूँ।"

भैया ने हँसते हुए कहा, "मैं तो डॉक्टर हूँ, मेरे साथ तो जात-पाँत की बात कहाँ आती है?"

बात भी सही है। साहित्य भी एक ऐसी ही वस्तु है जो देश-काल-जाति का विभेद नहीं मानता। यही वजह है कि तालस्तॉय की रचना जब पढता हूँ तो ऐसा नहीं लगता कि मैं किसी विदेशी की रचना पढ रहा हूँ। उसी प्रकार इंग्लैंड के आदमी जब रवीन्द्रनाथ और शरतचन्द्र की रचनाएँ पढते हैं तो उन्हे ऐसा महसूस नहीं होता कि वे विदेशी की रचना पढ रहे हैं।

हाल मे एक समाचार प्रकाशित हुआ है—एक रूसी सज्जन तालस्तॉय की जीवनी पर फिल्म बना रहा है। उस सज्जन का नाम हमारे लिए दुर्बोध है—Seriojha Yvemoluisky इतनी-इतनी चीजों के रहने के बावजूद वह तालस्तोय की जीवनी पर फिल्म क्यो बना रहे हैं, इस संबंध मे एक दिलचस्प कहानी है।

वही कहानी बता रहा हूँ।

साहित्य की सफलता किसमे है, इस संबंध मे दुनिया के तरह-तरह के लोगों के मन मे तरह-तरह के सवाल पैदा हुए हैं। साहित्य क्या यश के लिए है या अर्थ के लिए या कि आत्म-प्रतिष्ठा के लिए? साहित्य की संज्ञा के संबध मे कभी किसी विद्वान के मन मे विरोध पैदा नहीं हुआ है, यह सच है, लेकिन साहित्यकारों से व्यक्तिगत तौर पर परिचित होने पर उनके आचरण और आदर्श मे आकाश-पाताल का अन्तर पाकर अनेक को आश्चर्य हुआ है।

जिनकी रचनाओ मे सारे गुणों का परिचय रहता है, व्यक्तिगत जीवन में, हो सकता है कि वे तामसिक आचरण करते हों।

सबका जीवन और जीविका क्या एक जैसी ही होती है?

परन्तु तालस्तॉय संभवतः इस मामले मे दुनिया के इतिहास मे अकेले और एकमात्र अपवाद हैं।

जानता हूँ, इस पर बहुत तरह के मतभेद हो सकते हैं। फिर भी जहाँ जितने भी साहित्यकारों की जीवनियाँ मेरे हाथ में आयी हैं, मैंने सबको पढ़ा है। ऐसी घटना कहीं भी नहीं मिली है जहाँ जीवन से लेखक की रचना की टकराहट हुई हो।

इसीलिए रवीन्द्रनाथ ने लिखा है, प्रत्येक लेखक की हर कहानी का नायक लेखक स्वयं ही हुआ करता है। यह बात झूठी नहीं है।

जिस बालक ने १९०९ ई० मे पत्र लिखा था वह अब विज्ञ हो गया है। उसने महामान्य जार का रूस देखा है। अब वह काफी उम्रदार हो गया है। अब वह सारी दुनिया का चक्कर लगाते हुए हिन्दुस्तान आया है।

उस दिन समाचार-पत्रों के पृष्ठ मे देखा, संवाददाताओं ने उससे सवाल किया था, "इतनी विषयवस्तु रहने के बावजूद आप तालस्तॉय की जीवनी पर फिल्म क्यों बनाना चाहते हैं?"

उन्होंने कहा, "जीवन-भर मैं सिर्फ तालस्तॉय के बारे में ही सोचता रहा हूँ। उन्हे ही सपनों मे देखा है।"

यह कहकर उन्होंने संवाददाताओं को तालस्तॉय के द्वारा लिखा गया पत्र दिखाया।

वह वही पत्र था जो १९०९ ई० मे तालस्तॉय ने अपने हाथ से लिखकर उनके पास भेजा था। वे बहुत सँभालकर अमूल्य संपदा की तरह उस पत्र को अपने पास रखे हुए हैं।"

बोले, "मैं लेखक नहीं हुआ या यो कह सकते हैं कि लेखक बन नहीं सका। लेकिन इसके लिए मुझे कोई दुःख नहीं। क्योंकि उनकी चिट्ठी पढ़ने के बाद मेरी समझ मे आ गया कि लेखक होना कोई बड़ी बात नहीं है। दुनिया मे और भी बड़े-बड़े कितने ही काम हैं, जिन्हे अगर कोशिश करूँ तो कर सकता हूँ—इसीलिए मैं एक फिल्म का निर्देशन करना चाहता हूँ जिसमे तालस्तॉय के जीवन की वाणी साकार हो सके।"

मैक्सिम गोर्की से तालस्तॉय का जो साक्षात्कार हुआ था, उसकी बात मुझे याद है। तालस्तॉय ने जब घोषणा कर दी थी कि अब वे लिखेंगे नहीं। लिखना बन्द कर देंगे। क्योंकि कहानी-उपन्यास लिखकर वह दुनिया के लोगों का कोई उपकार नहीं कर पा रहे हैं। फायदा हो रहा है तो सिर्फ उनकी पुस्तकों के प्रकाशकों को और खुद उन्हे। उन दिनों वह समुद्र के किनारे एक कुटिया तैयार कर वहीं रह रहे थे।

उनकी घोषणा पर मैक्सिम गोर्की को बहुत दुःख हुआ। उन्होंने तालस्तॉय से मिलने का निश्चय किया। तालस्तॉय से मिलकर वह उनसे अनुरोध करेंगे कि वह अपना यह विचार त्याग दें।

इसी उद्देश्य से गोर्की तालस्तॉय के आश्रम में पहुँचे। आश्रम शहर से बहुत दूर, लोगों की आबादी के बाहर समुद्र के किनारे अवस्थित था।

वहाँ जाने पर गोर्की को पता चला कि वह आश्रम मे नहीं हैं, समुद्र के किनारे ध्यान मे तल्लीन हैं। गोर्की उसी ओर चल पड़े। गोर्की ने वहाँ जाकर देखा, तालस्तॉय खुले आकाश के तले समुद्र की लहरों की ओर दृष्टि टिकाये बैठे हैं।

कार्त्तिक बाबू पृष्ठ पर पृष्ठ पढते जा रहे थे और मिस्टर सरकार एक के बाद दूसरी सिगरेट फूँकते जा रहे थे ।

मैं श्रोता था, लेखक और दर्शक भी ।

एक ऐसा समय आया जब पढना खत्म हो गया और कार्त्तिक बाबू ने उत्सुकता के साथ मिस्टर सरकार की ओर देखा ।

मिस्टर सरकार ने एक दूसरी सिगरेट सुलगायी ।

उसके बाद बोले, "यह तो मँझले बाबू की कहानी हो गयी—"

बस, इतना ही कहा, और कुछ भी नहीं । यह कहकर उन्होंने सिगरेट से एक कश लेकर धुएँ का एक लंबा गुबारा छोडा ।

कार्त्तिक बाबू का चेहरा उतर गया । मेरी समझ मे आया कि मैं फेल हो गया ।

याद है, उस दिन सरकार साहब की बात सुनकर मेरे मन मे शुरू मे यद्यपि कष्ट पहुँचा लेकिन बाद में महसूस किया कि उन्होंने ठीक ही कहा है । अगर वह यह बात न कहते तो हम पटकथा के संबंध मे फिर माथापच्ची नहीं करते । उस पर हम सोचते-बिचारते भी नहीं ।

एक बात सोचकर मुझे बेहद प्रसन्नता हुई कि सरकार साहब ने मन लगाकर मेरी पुस्तक पढी है और सिर्फ पढी ही नहीं है, उसकी मार्मिक कथावस्तु का भी पता लगा लिया है ।

फिल्म का व्यवसाय बहुतेरे लोग करते हैं । क्योंकि यह बहुतों की उपजीविका भी है । अनेक नामी फिल्म स्टार और प्रसिद्ध उपन्यास प्राप्त कर लेने से ही उनका काम चल जाता है । उन्ही को तुडाकर पैसा कमाते हैं और, जिनके लिए पैसा ही सब कुछ है वे ऐसा करते भी हैं ।

लेकिन मैं अपने निजी अनुभव से कह सकता हूँ कि न्यू थियेटर्स के मिस्टर बी०एन० सरकार इसके विरल अपवाद थे ।

मैं सिनेमा के संबंध मे अनाड़ी ही कहा जाऊँगा । उन्नीस सौ चौवालीस के मेरे 'मैं' से आज के मेरे 'मैं' मे बहुत बड़ा अन्तर आ गया है । उस समय मेरी उम्र ही कितनी थी । उस समय मुझे सिनेमा के अन्दरूनी मामले की जानकारी ही कितनी थी । अभिभावको की अनिच्छा के कारण सिनेमा देखने का मुझे चस्का भी नहीं लगा था । इसके अलावा मैंने जिस युग मे जन्म लिया था उस समय आज की तरह सिनेमा देखना जरूरी भी नहीं था । यही वजह है कि उन दिनों जो लोग शिल्प कला के संबंध मे उत्साही थे वे या तो गीत-वाद्य की चर्चा करते थे या साहित्य गढते थे ।

उन दिनो साहित्य-सृजन सचमुच ही एक शौकिया काम था । एक बारगी विशुद्ध शौक ।

लेकिन दुनिया में कोई-कोई ऐसा व्यक्ति भी होता है जो विशुद्ध शौक के लिए जीवन उत्सर्ग कर देता है । वैसे लोग यह नहीं सोचते कि साहित्य-सृजन करने से उन्हे दुनिया का कितना सुख-वैभव मिला और कितना नहीं मिला ।

मैं ऐसे बहुतेरे व्यक्तियों को जानता हूँ जिन्होंने पंद्रह-सोलह मोटे-मोटे उपन्यास लिख डाले हैं। उसके बाद भी वे उपन्यास पर उपन्यास लिखते जा रहे हैं। वे पुस्तकें किसी पत्र-पत्रिका मे प्रकाशित नहीं होती हैं और न ही होनेवाली हैं। लेकिन इससे उनके उत्साह मे कोई कमी नहीं आती है। अवकाश मिलते ही वे कागज-कलम लेकर बैठ जाते हैं और रात बिता देते हैं।

इसी कोटि के एक अवज्ञात लेखक का मुझे पता चला था।

बहुत दिन पहले मैं देश गया था। देश का मतलब है एक घनघोर देहात। वह एक ऐसा जनपद है जहाँ सभ्यता का कोई उपकरण नही पहुँचा है। बागला देश की सीमा और हिन्दुस्तान की सीमा का अन्त। वहाँ न तो बिजली या ट्रेन पहुँची है और न ही नल का पानी मिलता है। नलकूप हैं लेकिन गिनती के ही। अखबार वहाँ नही पहुँच पाता है। अगर कोई अखबार लिए पहुँच जाता है तो उस बासी अखबार के लिए ही लोगों मे छीना-झपटी मच जाती है। छीना-झपटी पढ़ने के लिए नही, जिल्द के तौर पर उसे इस्तेमाल करने के लिए मचती है। वहाँ डॉक्टर, दवा, डाकघर वगैरह नहीं हैं। सप्ताह में एक रोज, जब हाट लगती है तो पोस्टमैन आता है, सो भी गाँव के किसी आदमी की चिट्ठी वगैरह है तो वरना आता ही नहीं। वह चिट्ठी भी बाँटता है और जरूरत पड़ने पर टिकट, लिफाफा और पोस्टकार्ड भी बेचता है।

उस गाँव के एक बढ़ई के घर मे एक साहित्यकार को पाकर मैं आश्चर्यचकित हो गया।

बूढ़ा आदमी। साठ या सत्तर की वय-सीमा पार कर चुका है। लेकिन अब भी बसूला और आरी लेकर दुर्बल हाथ से बैलगाड़ी का पहिया तैयार कर देता है। मेरा परिचय पाकर बहुत ही खुश हुआ। चेहरे पर चमक आ गयी। एक बार मुझे अकेले पाकर बोला, "जानते हैं बिमल बाबू, मैं भी लिखता हूँ।"

मैंने पूछा, "क्या लिखते हैं?"

"उपन्यास।"

मुझे उसकी बात पर विश्वास नहीं हुआ। मै व्याकुल हो उठा। कुछ देर तक मेरे मुँह से कोई शब्द बाहर नहीं आया। गाँव के रास्ते के किनारे बढ़ई की एक छोटी-सी कर्मशाला। उस व्यक्ति के एक हाथ मे बैलगाड़ी का अर्ध समाप्त पहिया है और दूसरे मे बसूला। मेरी कलाई घड़ी बारह बजा रही है।

मैंने पुनः पूछा, "उपन्यास?"

उसने उत्साहित होकर कहा, "हाँ, उपन्यास।"

यह कहकर उसे अहेतुक लज्जा का अनुभव हुआ। बोला, "आप लोगों के जैसा उपन्यास नहीं, साधारण उपन्यास है।"

मैंने कहा, "साधारण उपन्यास का मतलब?"

उसने कहा, "यानी आपके 'साहब बीबी गुलाम' जैसा उपन्यास नहीं, यों ही एक

सामाजिक उपन्यास।"

मैंने कहा, "सामाजिक उपन्यास का मतलब ?"

उसने कहा, "माणिक भट्टाचार्य का उपन्यास आपने पढा है ?"

हीरे का हार, 'चन्द्र-सूर्य', 'यौवन की लहरी', जैसा ही उपन्यास।"

मैंने कहा, "शरतचन्द्र का कोई उपन्यास आपने पढा है ?"

उसने कहा, "मैं तो आपको बता चुका हूँ कि मैंने पौराणिक या ऐतिहासिक उपन्यास नहीं पढा है। मैं उतना पढा लिखा भी नहीं हूँ।"

मैंने कहा, "कम से कम शरतचन्द्र का नाम तो आपने अवश्य ही सुना होगा।"

उसने विनम्रता के साथ कहा, "यह तो बताइए कि उन्होंने कौन-कौन सा उपन्यास लिखा है। दो-चार किताबों का नाम लीजिये फिर बता दूँगा कि मैंने पढा है या नहीं।"

समझ गया, मैंने अपना प्रश्न-बाण अपात्र पर चलाया है।

उसने कहा, "आप सारी बात समझते ही होंगे। हम गाँव में रहते हैं, आप जैसे लोगों से मिलने-जुलने का सुयोग भी नहीं मिलता। किस तरह पुस्तक लिखनी चाहिए, इसकी तालीम भी किसी से नहीं मिली। अनादि मौलिक की पाठशाला में कुछ दिनों तक पढा था, बस इतनी ही तालीम मुझे मिली है। इतनी कम तालीम पाकर बड़े-बड़े लेखकों की पुस्तक कैसे पढ़ूँ और किताब मिलेगी ही कहाँ ? इस गाँव में पुस्तकालय भी नहीं है।"

मैंने कहा, "फिर माणिक भट्टाचार्य की 'हीरे का हार', 'यौवन की लहरी' वगैरह पुस्तक आपको कहाँ से मिल गयी ?"

उसने कहा, "हम लोगों के देश में विवाह के मौके पर लडकों को उपहारस्वरूप पुस्तकें दी जाती हैं। उन्हीं पुस्तको को माँगकर बीच-बीच में पढ़ता हूँ और उन्हीं को पढने से तालीम मिलती है।"

इसी बीच एक किसान जैसा गाहक उसकी दुकान पर पहुँच गया।

बोला, "चाचा जी, मेरा पहिया कहाँ तक बना है ?"

बढई ने उस आदमी की ओर तिरस्कारपूर्ण दृष्टि से ताकते हुए कहा, "तुम्हारा पहिया तैयार हो गया है, बाद में दे दूँगा।"

किसान को संभवतः पहिये की बहुत जरूरत थी। उसने विनम्रता के साथ सूचित किया कि पहिये के अभाव के कारण काम में बहुत हर्ज हो रहा है।

लेकिन उसका ध्यान उस ओर नहीं था।

बोला, "अभी तुम चले जाओ मदन। कल सवेरे आना, अभी मैं बहुत व्यस्त हूँ। देख रहे हो न, एक भले आदमी से बातचीत कर रहा हूँ। तुम इन्हें पहचानते हो ?"

किसान बोला, "आप मित्र-परिवार के छोटे बाबू है। अब ये लोग तो देश आते ही नहीं।"

बढई मदन की बात सुन झुंझला उठा। बोला, "तुम कुछ भी नहीं जानते। 'साहब बीबी गुलाम' बाइस्कोप देखा है ?"

मदन की समझ में कुछ भी नहीं आया।

बोला, "बाइस्कोप? बाइस्कोप कैसे देखूंगा?"

बढ़ई ने कहा, "अभी तुम चले जाओ मदन, मुझे इनसे काम है। तुम अभी चले जाओ भैया।"

मदन अब क्या करे, अन्ततः उठकर खड़ा हो गया।

मदन के जाने के बाद उसकी जान में जान आयी। हाथ की लकड़ी को बगल में रखते हुए कहा, "अभी आपके पास वक्त है?"

मैंने कहा, "क्यों, किसलिए?"

उसने कहा, "फिर आपको मैं जरा अपना उपन्यास दिखाता।"

मेरे हृदय में अहेतुक श्रद्धा-भाव जग पड़ा। इस घनघोर देहात में इतनी गरीबी और बिगड़ी हुई तन्दरुस्ती लेकर यह आदमी उपन्यास लिख रहा है। मैं अचानक भले आदमी के चेहरे की ओर ताकने लगा। यह भी कलाकार है? बैलगाड़ी का पहिया बनाता है और उपन्यास लिखता है! इसे कहां से इतना उत्साह मिलता है। कौन इसके लिए रस की सृष्टि करता है? वह अदृश्य महान् उपन्यास लेखक कौन है? वह कहां रहते हैं? उन्होंने मुझे लेखक बनाया है लेकिन इसे भी क्या लेखक बनाया है? इसमें और मुझमें कौन-सा अन्तर है?

बढ़ई एकाएक चिल्ला उठा, "क्षिरि!"

पुकार सुनते ही अन्दर से एक लड़की एक फटी मैली-सी फ्राक पहने बाहर आयी।"

बढ़ई ने कहा, "बिटिया, मेरी कापी जाकर ले आ तो।"

लड़की दौड़ती हुई अन्दर चली गयी। उसके बाद बहुत सारी कापियां ले आयी और सामने रख दिया। कुल मिलाकर लगभग पचीस-तीस कापियां होंगी।

मैंने कहा, "आपने इतने सारे उपन्यास लिखे हैं?"

उसने कहा, "हां।"

उसके बाद कृतार्थपूर्ण हँसी हँस दिया।

बोला, "पढ़ूं?"

× × ×

जब मैं सरकार साहब के घर पर बैठकर नये सिरे से 'साहब बीवी गुलाम' की पटकथा लिख रहा था तो उन्हीं दिनों की बात सोच रहा था।

कार्त्तिक बाबू ने एक दिन कहा था, "अब कैसा हुआ?"

मैंने कहा था, "अब भी अच्छा नहीं लग रहा है कार्त्तिक बाबू।"

कार्तिक बाबू ने कहा था, "क्यों?"

मैंने कहा था, "लगता है, सारी बातें नहीं कही गयी हैं। बाबुओं के कबूतर उड़ाने का सीन देने से अच्छा रहता।"

कार्त्तिक बाबू बोले, "यह आप लोगों का उपन्यास नहीं, सिनेमा है साहब। इसमें

दर्शकों को इतना धीरज नहीं रहता। आप लोग अपने उपन्यास में जितनी मर्जी हो लिख सकते हैं, खुला मैदान पड़ा है। कोई मना नहीं करने आयेगा। लेकिन सिनेमा में यह सब सुविधा नही है। उपन्यास से आप लोग जिस्ता पर जिस्ता कागज खरीदते जाइएगा और पृष्ठ पर पृष्ठ लिखते जाइएगा—"

उनके सामने बैठे-बैठे मुझे उन्हीं बातों का स्मरण होने लगा। उस बढ़ई ने कितना अधिक लिखा है। जिस्ता पर जिस्ता कागज खरीदता गया है और लिखता गया है। कौन पढ़ेगा और कौन इसे प्रकाशित करेगा, इसका हिसाब उसने नहीं रखा है। एक पर एक पुस्तक लिखता गया है और आलमारी में जमा करके रखता गया है।

कार्तिक बाबू की बात पर मेरा ध्यान भंग हुआ।

बोले, "बताइए, कैसा लग रहा है? कुछ बन पड़ा है या नहीं।"

× × ×

जिस दिन पटकथा लिखना खत्म हुआ, उस दिन मैंने भी यही सवाल सरकार साहब से किया, "कैसा लग रहा है? अब ठीक हुआ या नहीं?"

इसीको परीक्षा देना कहते हैं। हम हर रोज परीक्षा में शामिल होते हैं। हमें जीवन-भर परीक्षा देनी पड़ती है। केवल जीवितावस्था ही काल नहीं है, मेरा विचार है, आगामी काल में भी हमें परीक्षा में शामिल होना है। आज से सौ वर्ष बाद के पास-फेल की दुश्चिन्ता में हमें दिन बिताना पड़ता है। शेक्सपीयर और कालिदास को इतने दिनों के बाद भी इस युग में परीक्षा देनी पड़ती है। क्योंकि देखने में आता है कि सारी दुनिया के अनुसंधानकर्ता उनकी चीर फाड़ कर रहे हैं।

तब हाँ, मेरे लिए यह परीक्षा उतनी संकटजनक नहीं है। क्योंकि सिनेमा का शिल्प मेरे अधिकार के बाहर की चीज है। उस विषय के विशेषज्ञों के समक्ष परीक्षा देने में मुझे लज्जा या संकोच नहीं हो सकता। जो कहानी लिख सकता है वह गणित का प्रश्न भी हल करे, ऐसी कोई बात नहीं।

मिस्टर सरकार ने दो-चार बार सिगरेट के कश लिये। उसके बाद एक गोल मटोल-सा जवाब दिया, "नहीं, अब की कोई बुरा नहीं हुआ है।"

कार्तिक बाबू बगल में ही बैठे थे। वह प्रसन्न हो गये। अब उनका काम शुरू होने की बात है। असल में पहली परीक्षा में उन्हें सफलता हासिल हो गयी। यह हिट हुआ। इसके बाद सेमि-फाइनल होना है। सेमि-फाइनल का अर्थ है सेंसर-बोर्ड। उसके बाद फाइनल। यानी दर्शकों की राय।

लेकिन मेरे साथ यह सब झमेला नहीं है। सौभाग्य या दुर्भाग्य कहिये कि पुस्तक मैंने लिखी थी और चूंकि पटकथा मनोनुकूल नहीं हुई थी इसीलिए मुझे कलम उठानी पड़ी। इसके लिए मैंने एक पैसा भी नहीं लिया था। कहीं मेरी बदनामी न फैल जाये इसीलिए मैंने कलम पकड़ी थी।

उस दिन घर लौटते समय मैंने कार्तिक बाबू से कहा था, "कार्तिक बाबू, पटकथा-लेखक की जगह मेरा नाम नहीं दीजिएगा।"

मुझे विश्वास है

गाँव का वह बढ़ई जब मुझे अपना उपन्यास पढ़कर सुना रहा था तो मेरा ध्यान उस ओर नहीं था ! मैं तब उन्हीं दिनों की बात–पटकथा लिखने के समय की घटनाओं–के बारे मे सोच रहा था।

"आपको और एक प्याली चाय दूँ ?"

मैं जैसे पुनः सशरीर मर्त्यलोक में लौट आया।

मैंने पूछा, "आप यह सब कितने दिनों से लिख रहे हैं ?"

बढ़ई बोला, "यह बात मैंने किसी से भी नहीं कही है, आप से ही कह रहा हूँ। आप समझदार आदमी हैं। बचपन से ही मैं इसका अभ्यस्त रहा हूँ यानी जब मैं सोलह-सत्रह साल का था।"

यह कहकर उसने अन्दर की ओर ताकते हुए पुकारा, "क्षिरि...."

मैंने समझा, वह मुझे और एक प्याली चाय पिलायेगा।

संभवतः मेरे जैसा श्रोता उसे इसके पहले नहीं मिला था।

मैंने कहा, "इसके पहले आपने किसी को सुनाया है ?"

बढ़ई बोला, "किसे सुनाऊँ ? हमारे गाँव में कोई भला आदमी है ही नहीं। तब हाँ, एक व्यक्ति ने सुनकर बहुत तारीफ की थी।"

"किसने ?"

बढ़ई ने कहा, "मेरे समधी—लड़की के ससुर ने। वह बंगलोर के एक बड़े गजटेड अफसर हैं, लगभग एक हजार रुपया उन्हें तनख्वाह मिलती है। उन्होंने सुनकर कहा था कि बहुत ही अच्छा है।"

मैंने कहा, "आपको कभी अपनी पुस्तक छपाने की इच्छा नहीं हुई थी ?"

"नहीं, मुझे लिखना ही अच्छा लगता है।"

मैंने विस्मित होकर साधारण शिक्षा-दीक्षा प्राप्त उस ग्रामीण मनुष्य की ओर देखा। कम ही आय में गृहस्थी का खर्च चलाता है। लेकिन उसकी बात सुनकर इच्छा हुई कि मैं उसे प्रणाम निवेदित करूँ।

और मैंने उसे प्रणाम ही किया। बोला, "मैं आपको प्रणाम करता हूँ कर्मकार जी।"

कर्मकार जी को अस्वस्ति का अनुभव होने लगा। अचानक उसने मेरे हाथों को कसकर पकड़ लिया और बार-बार प्रणाम करने लगा।

कहने लगा, "छिः छिः मुझे बड़ा ही पाप होगा। आप शहर के पढ़े-लिखे आदमी हैं। आपके सामने मेरी हस्ती ही क्या है ? मैं कुछ भी नहीं हूँ। आपने मुझे प्रणाम क्यों किया ?"

मैंने कहा, "आप महान् व्यक्ति हैं कर्मकार जी। आपने हम लोगों के इस युग के शहरी लोगों को पीछे छोड़ दिया। आप नाम नहीं चाहते, ख्याति नहीं चाहते, अर्थ की भी आपको चाह नहीं है। आपको अपने काम के बीच ही आनन्द का उपकरण मिल जाता है, यह क्या कोई साधारण बात है ! आपकी तुलना में हम कुछ भी नहीं हैं। हम प्रतिष्ठा चाहते हैं, ख्याति और अर्थ की चाह करते हैं, तमाम दुनिया को अपनी

मुट्ठी मे बन्द करना चाहते हैं—" .

एक और बात का मुझे स्मरण आ रहा है। १९६० ई० की बात है, आज से कुछ ही वर्ष पहले की। बंबई से मैं लोनावला जा रहा था। तब रात के दस बज चुके थे। शचीन वर्मन और मैं एक गाड़ी की पिछली सीट पर बैठे थे। १९३२-३३ ई० से हीं हममे घनिष्ठ संबंध है। उन दिनों शचीनदेव वर्मन की ख्याति-प्रतिष्ठा फैली नहीं थी। कुल मिलाकर उन दिनों उनके गीतों के रेकार्ड बाजार में पहुँचकर तेजी से बिकने लगे थे। बहुत दिनों के बाद उनसे जब दुबारा बंबई मे मुलाकात हुई तो पुरानी मित्रता पुनः दृढ हो गयी।

हमारी गाड़ी के साथ बहुत सी गाडियाँ थीं। शचीनदा ने कहा, "विमल, तुम मेरी गाडी मे चले आओ, हम गपशप करते हुए एक साथ चलेंगे।"

गपशप का मतलब है पुराने दिनो की स्मृतियों को दुहराना। उन दिनों विख्यात गायक कुन्दन लाल सहगल बंगाल आकर सब जगह छा गये थे। उनके गीत से बाजार मे चहल-पहल मची रहती थी। उन दिनों सहगल, शचीनदेव वर्मन, पंकज मल्लिक, अनुपम घटक बाजार के श्रेष्ठ गायक थे। मैं आज जैसा साधारण व्यक्ति हूँ उन दिनों भी वैसा ही था। गीत गाता नहीं था परन्तु गीत लिखता था। कॉलेज में बी० ए० क्लास मे पढता था और छुट्टी होते ही छह नंबर अक्रूरदत्त लेन स्थित हिन्दुस्तान स्टूडियो चला आता था। वहाँ रात के कभी दस बज जाते, कभी ग्यारह, कभी बारह और कभी एक। उस समय युद्ध के पूर्व का कलकत्ता था। रात तीन-चार बजे तक बस चलती थी। कभी-कभी हम कर्जन पार्क की घास पर बैठकर अड्डेबाजी करते थे।

सो शचीनदा मिल गये तो उन्हीं दिनो का जिक्र छिड़ गया। दूसरी गाड़ियों मे सिनेमा के निर्देशक, कहानी-लेखक, संवाद-लेखक और प्रेस रिपोर्टर थे। सभी अपनी-अपनी गाड़ी में बैठे थे।

जब हम लोनावला होकर जा रहे थे तो शचीनदा ने एकाएक कहा, "बायीं ओर देखो विमल। वह जो पहाड़ दिखायी पड़ रहा है, वहाँ एक गुफा है। नाम है 'कार्ले केव्स'।"

'कार्ले केव्स'-तब मेरे लिए नया शब्द था।

"तुमने कभी 'कार्ले केव्स' देखा है?"

"नही।" मैंने कहा।

"उस पहाड़ की गुफा के अन्दर तरह-तरह के अद्भुत चित्र हैं। विदेशी सैलानी लगभग हर रोज इस गुफा की चित्रकारी देखने आते हैं।"

गाड़ी चल रही है और मैं शचीनदा गप किये जा रहे हैं।

अचानक शचीनदा ने प्रसंग बदलते हुए कहा, "तुम्हारे 'साहब बीवी गुलाम' पर गुरुदत्त फिल्म बनाने जा रहे हैं। इस फिल्म के लिए गुरुदत्त लाखो रुपया खर्च करेंगे। इस फिल्म का जो नायक होगा, उसका नाम पोस्टर मे बड़े-बड़े अक्षरों मे छपाया जायगा। अगर न छपाया जाये तो वह फिल्म का बॉयकाट करेगा। उसके बाद मान

लो मीना कुमारी इसकी नायिका होती है । उसका नाम अगर सबसे ऊपर नहीं छापा जायेगा तो वह भी शूटिंग मे शामिल नहीं होगी । उसके बाद मेरी बात लो । मुझे अगर इस फिल्म का म्यूजिक डायरेक्टर बनाया जाता है तो मैं भी चाहूँगा कि पोस्टर मे मेरा नाम बड़े-बड़े अक्षरों मे छापा जाये । उसके बाद छोटे-छोटे एक्टर और एक्ट्रेस की बात है । वे भी अपना नाम पोस्टर मे देखना चाहेंगे । रुपये की माँग तो करेंगे ही, साथ ही साथ नाम की भी चाह करेंगे । बाकी बचे तुम । तुम्हारी कहानी पर फिल्म बनने जा रही है । लेकिन कहानी के लिए कौन माथा खपाने जाता है ? गुरुदत्त तुम्हारा नाम पोस्टर में दे सकते हैं और नहीं भी दे सकते हैं । लेखक के नाम के लिए दुनिया में कोई भी माथापच्ची नही करता । मगर गुफा के ये चित्रकार ?"

गाड़ी तीव्र गति से भागी जा रही है । शचीनदा बात करते-करते जैसे लाचार हो गये ।

मेरी ओर देखते हुए कहने लगे, "किसी दिन अन्दर जाकर गुफा के चित्रों को देखो । देखोगे, कितने बेजोड़ चित्र हैं । उन लोगों ने कितने दिनों तक कितनी लगन और आन्तरिकता के साथ उन चित्रों को बनाया होगा । लेकिन वे कौन थे, उनका परिचय क्या था, उनका नाम क्या था---इसकी वे कुछ भी निशानी नही छोड़ गये हैं । ग्रेट-ग्रेट--- वे लोग महापुरुष थे । और हम ?"

उस दिन शचीनदा की बातें सुनकर मेरे मुँह से बहुत देर तक शब्द नहीं निकले । सचमुच हम किसलिए लिखते हैं ? सिर्फ पैसे के लिए, या नाम के लिए या कि ख्याति-प्रतिष्ठा के लिए ? मन के किसी कोने में क्या मनुष्य की कल्याण-कामना की तनिक भी इच्छा निहित नहीं रहती है ? हम क्या मात्र आत्माभिव्यक्ति के लिए लिखते हैं ? और किसी भी चीज के लिए नहीं ? हम मे क्या सिर्फ अमर होने की ही आकांक्षा है ?

फिर इतनी-इतनी चीजो के रहने के बावजूद हम लेखन-कार्य क्यो करते हैं ?

मैंने अपने आपसे यह प्रश्न अनेक बार किया है । अन्य लोगों की तरह खा-पीकर मौज-मस्ती मनाते हुए भी जीवन व्यतीत किया जा सकता था, जैसा कि मेरे पुरखो ने किया था ।

एक बार रवीन्द्रनाथ की एक बात से बेहद शान्ति एवं सात्वना मिली थी । उन्होंने कहा था, मनुष्य और पशु मे कौन-सा अन्तर है ? दुनिया मे कुछ ऐसी वस्तु हैं जिनका उपभोग मनुष्य और पशु दोनो करते हैं, जैसे चाँदनी, वायु, धूप और वर्षा । इसके लिए किसी को कोई कीमत या टैक्स नहीं देना पड़ता है । पशु तो इनका निर्विवाद उपभोग करते हैं । इसके लिए उन पर कोई जिम्मेदारी नहीं है । लेकिन मनुष्य को जिम्मेदारी का पालन करना पड़ता है । मनुष्य को यह कर्ज तरह-तरह से चुकाना पड़ता है । कोई चित्र बनाकर कर्ज चुकाता है, कोई गाकर, कोई ईश्वर का नाम लेकर और कोई समाज-सेवा कर । दरअसल मनुष्य ही ऐसा जीव है, जिसे यह कर्ज चुकाना पड़ता है, पशुओं पर इसकी कोई जिम्मेदारी नहीं है ।

लेकिन कर्ज चुकाने के लिए अपने नाम के प्रचार की कामना क्यों की जाती है ?

दरअसल हमारे जैसे जो साधारण लोग है, वे सबके सब आत्मकेन्द्रित हैं। देवताओं को जो प्राप्य है, हम उसका भी अंश लेना चाहते हैं। हम पुरोहित बनकर देवता के नैवेद्य की चोरी करते हैं। हम स्वयं को तो छलते हैं साथ-साथ देवता को भी छलते हैं। इसीलिए हम पाई-पाई वसूल लेना चाहते है। जो हमारा नहीं है, उसे पाने के लिए भी हम दौड़-धूप करते हैं।

इस संदर्भ मे एक और सांप्रतिक घटना का उल्लेख कर रहा हूँ।

बंबई का एक सुविख्यात गैर बंगाली फिल्म स्टार कलकत्ता आया था। कलकत्ता आना उनके फैशन मे शुमार है। यहाँ आकर कुछ रुपये उड़ाकर वह प्रसन्न होते हैं।

अपने एक मित्र के साथ मै सौजन्य के नाते उससे मिलने होटल गया। बहुत दिनों पर मुलाकात हुई थी, सब खुश थे। एकाध वर्ष पहले फिल्म स्टार को 'पद्मश्री' मिली थी। मेरे गैर-बंगाली मित्र ने एकाएक पूछा, "यार, पद्मश्री होने मे तुम्हारा कितना खर्च हुआ ?"

फिल्म स्टार ने निष्कपट भाव से कहा, "तीन लाख।"

गैर बंगाली मित्र ने तत्क्षण कहा, "झूठी बात है, पद्मश्री तीन लाख में कहीं मिलती है ? आजकल दर बढ गयी है। पाँच लाख दर हो गयी है।"

अन्ततः बहस होने लगी। फिल्म-स्टार यह स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था कि तीन लाख से ज्यादा खर्च हुआ है और मेरे गैर-बंगाली मित्र भी यह मानने को तैयार नहीं था कि पाँच लाख से कम मे पद्मश्री मिलती है।

मैं एक निरीह दर्शक था। मेरे लिए पाँच लाख और तीन लाख एक जैसा ही है। क्योंकि मेरी दृष्टि मे पद्मश्री का कोई मूल्य नहीं है—यहाँ तक कि पद्मभूषण और भारतरत्न का भी नहीं। जिससे मनुष्य का कल्याण न होता हो उसकी कोई कीमत नहीं है। इसके अलावा नाम का भी मेरे लिए कोई मूल्य नहीं है। मैं एकमात्र काम को ही महत्व देता हूँ। यानी कर्म को। मेरे लिए कर्म ही मनुष्य और मनुष्य ही कर्म है। कर्म से ही मैं मनुष्य का विवेचन करता हूँ। न कि पदवी या उपाधि से।

इसलिए जब मैं सिनेमा से संपृक्त हुआ तो मुझे सब कुछ देखने पर आश्चर्य हुआ। यह बात सिर्फ सिनेमा के साथ ही नहीं है। साहित्य-क्षेत्र मे जब कदम रखा था तब भी वैसी ही बात हुई थी। सब जगह एक ही मांग है—नाम चाहिए, पैसा चाहिए, खिताब चाहिए। इनके अतिरिक्त भी बहुत कुछ चाहिए। लेकिन जिससे मनुष्य का मंगल हो, जिससे मन को मलिनता से मुक्त कर सके, वह हमे नहो चाहिए।

अपने बचपन के एक मित्र की बात सुनकर मैं किसी दिन हतवाक् हो गया था। वह बहुत दिनो के बाद मेरे घर पर आया था।

आते ही कहा, "कंग्रैच्यूलेशन ! तुम्हारा अभिनन्दन करता हूँ।"

मैं आश्चर्य मे खो गया। कहा, "अचानक ऐसा क्यो ? मैंने क्या किया है ?"

मित्र ने कहा, "तुम्हारा नाम चारो तरफ फैल गया है।"

मुझे और अधिक आश्चर्य हुआ। बचपन के मित्र के सामने नाम-अनाम का सवाल

पैदा ही नहीं होता।

मैंने कहा, "तुमने क्या मेरी पुस्तक पढ़ी है?"

मित्र बोला, "नहीं, तुम्हारी पुस्तक मैं क्यों पढने लगा? पुस्तक तुमने अच्छी लिखी है या बुरी, यह देखने की मुझे जरूरत ही क्या है? तुम्हारा नाम फैल गया है, इसीलिए तुम्हे अभिनन्दन जता रहा हूँ।"

शचीनदा की बात पर सोचते-सोचते मुझे बार-बार उन्हीं बातो का स्मरण हो रहा था—'कार्ले केव्स' और उसके महान् चित्रकारों की बात। उन्हे अर्थ, पद्मश्री और पद्मभूषण की चाह नहीं की थी। आज की दुनिया की सबसे बड़ी काम्य वस्तु ख्याति की भी उन्होने चाह नही की थी। वे वर्षो तक अपने मन की माधुरी मिश्रित कर चित्र पर चित्र उकेर गये हैं।

गाड़ी तब भी भागी जा रही थी। मैंने उस चलती गाड़ी मे बैठे-बैठे, रात के दूसरे पहर उन कलाकारों के प्रति निःशब्द प्रणाम निवेदित किया। पता नहीं, उस दिन उन्होंने मुझे जैसे बीसवीं शताब्दी के कामना-वासना से जड़ित नगण्य व्यक्ति का प्रणाम स्वीकार किया या नहीं।

"*कैसा लगा?*"

मेरा ध्यान एकाएक टूट गया। देखा, कर्मकार जी अवाक् होकर मेरी ओर ताक रहे हैं।

मैंने स्वयं को संयत करके कहा, "बहुत ही सुन्दर।"

कर्मकार बोला, "आप क्या कह रहे हैं! मेरे समधी के अतिरिक्त किसी ने इसे अच्छा नहीं बताया था। तब हाँ, किसी और को पढने भी नहीं दिया है। पढने दूँ ही किसे? इस गाँव में वैसा कोई आदमी भी नहीं है।"

मैंने कहा, "यकीन कीजिये आप महान् हैं—"

"आप सच कह रहे हैं?"

मैंने कहा, "यकीन कीजिये, मैं सच-सच कह रहा हूँ।"

"लोगो को यह अच्छा लगेगा?"

मैंने कहा, "लोगों को अच्छा लगेगा या नहीं, मैं यह नहीं सोच रहा हूँ। मैं आपके उपन्यास पर माथापच्ची भी नहीं कर रहा हूँ। लेकिन आप निष्काम, निर्लोभ और निर्लिप्त होकर यह जो काम किये जा रहे हैं, आज की दुनिया के लिए यह एक विस्मयकारी घटना है। मनुष्य के रूप मे आप महान हैं। मैं जो कर नहीं सका, आपने वह कर दिखाया है। आपने मुझे पीछे छोड़ दिया है, कर्मकार जी—"

मिस्टर सरकार के कमरे से निकलकर कार्तिक बाबू बोले, "मिस्टर सरकार को स्क्रिप्ट अच्छा लगा है।"

"आपने कैसे समझा?" मैंने पूछा।

कार्तिक बाबू बोले, "वह बगैर कुछ बोले सिगरेट पीने लगे। यही अच्छा लगने का लक्षण है।"

ट्राम से उतर कार्तिक बाबू अपने घर की ओर चले गये। मैं ट्राम पर बैठा रहा। सोचा, यह क्या हुआ! मैंने क्या स्वयं ही अपनी मृत्यु का हथियार तैयार किया? मैंने क्या अपने सृजन से व्यवसाय करना शुरू कर दिया? चौदह वर्ष तक जिस कहानी को अपने मन में निभृत में सतर्कता के साथ लालन-पालन कर रहा था, उसे एक बार पुस्तकाकार छपवा कर मैंने व्यवसाय किया, अर्थोपार्जन किया। अब सिनेमा के परदे पर उतार उससे भी बड़ा व्यवसाय करने जा रहा हूँ? लेकिन उस समय कोई दूसरा चारा नहीं रह गया था। उस समय मैं अपने ही जाल में फँस गया था। अब मुझे छुटकारा नहीं मिल सकता था।

मेरे अन्दर कहीं न कहीं कोई गड़बड़ी है अन्यथा फिल्म बनने से जहाँ मुझे प्रसन्न होना चाहिए, उसके बदले मैं हादसे में क्यों आ गया? सभी अर्थ, ख्याति और प्रभाव चाहते हैं। मैं भी तो अन्य लोगों की तरह हमेशा इन्हीं वस्तुओं की चाह करता रहा हूँ। लेकिन जब यह सब मेरी मुट्ठी में आ गया है तो इन्हें स्वीकारने में मुझे संकोच का क्यों अनुभव हो रहा है?

इस 'क्यों' का उत्तर मैंने बहुत बार मन की गहराई में खोजा है।

बचपन से ही बार-बार मन की गहराई में एक इच्छा सजग होकर मुझे पीड़ित करती आयी है। वह इच्छा है, कोई मेरे बारे में सोचे, कोई मुझे पहचाने, कोई मेरे मन को समझे। स्वयं को जानने की इच्छा क्या कोई अपराध है?

दरअसल छुटपन से ही मन के कोने में इस इच्छा को पालता आया हूँ इसीलिए एक दिन सब कुछ छोड़-छोड़कर, लोगों की निगाहों से बचकर, लिखना शुरु कर दिया था। लिखने का मतलब है, अपनी बात, भावना और कल्पनाओं को अपनी आँखों से देखना चाहता था। लेकिन देखने की यह लालसा एक दिन धीरे-धीरे इतनी प्रबल हो गयी कि मन में हुआ, बाहर के लोगों को भी उसके दर्शन कराऊँ। अपनी भावनाओं को सिर्फ मैं ही नहीं देखूँ, और-और लोग भी देखें। सभी देखेंगे और देखने पर उन्हें अच्छा लगेगा तभी वे सार्थक होंगी।

बंगाल में सभी—विशेषकर अपने बचपन में—लेखक बनना चाहते हैं। कोई कविता लिखता है कोई कहानी और कोई आलोचना। —उम्र थोड़ी बढ़ती है तो लिखने का यह क्रम रुक जाता है। उस समय कोई डॉक्टर बन जाता है, कोई किरानी, कोई वकील और कोई व्यवसायी। या फिर जज, मैजिस्ट्रेट, मुंसिफ या स्कूल-मास्टर।

हमारे देश के युवकों की मोटे तौर पर यही आकांक्षा है।—लेखन-कार्य में वे लगे नहीं रहते। विद्यार्थी-काल में ही उसे छोड़कर जीवन-संग्राम में शामिल हो जाते हैं। परन्तु मेरे जैसे भी कुछ आवारा युवक हुते हैं जो किसी की बात नहीं मानते, किसी के उपदेश पर कान नहीं देते। वे वही करते हैं जो सोचते हैं। किसी प्रकार की बाधा उन्हें कर्तव्यच्युत नहीं कर पाती है।

तब हाँ, इस सन्दर्भ में आज के युवा लेखकों को एक बात याद करा देना ठीक रहेगा। जीवन और साहित्य अलग-अलग चीज नहीं है। जिन लेखकों के लिए ये दो

वस्तुएँ भिन्न हैं, वे असल में लेखक की श्रेणी मे आते ही नही। कोई सत्-प्रसंग लिखे और असत्-प्रसंग मे जीवन व्यतीत करे, ऐसा नहीं होता। लेखक का अर्थ ही आचरण है। जिस तरह की बात लिखे, वैसा ही आचरण करे, तभी कोई लेखक कहला सकता है। इन्हीं लेखकों के प्रति जॉन स्टुअर्ट मिल ने कहा था,द राइटिंग बाइ व्हिच ए मॅन कॅन लिव आर नॉट दोज दॅट देमसेल्व्स लिव।

यदि कोई लेखक अपने लेखन और जीवन के आचरण मे ताल-मेल बिठाता है तो उसके लिए भय की कोई बात नहीं है। वह अपना पैर जमा लेता है। उसके खाने-पीने और जीवन-निर्वाह का भार पाठक उठा लेते हैं।

एक और व्यक्ति के बारे मे बता रहा हूँ।

उनका नाम सिरिल कनौली था।

सिरिल कनौली ने इस बात को और स्पष्टता के साथ कहा है।

द मोर बुक यू रीड द क्लियर इट बिकम्स दॅट द ट्रू फंक्शन ऑफ ए राइटर इज टु प्रोड्यूस ए मास्टर पीस एण्ड दॅट नो अदर टास्क इज ऑफ एनी कॉन्सिक्वेन्स''' एवरी इक्स्कर्शन इन्टु जर्नलिज्म, ब्रॉडकास्टिंग, प्रोपोगॅण्डा एण्ड राइटिंग फॉर फिल्म्स हाउ एवर ग्रॅन्डिओस, विल वि डूम्ड टु डिसापॉएन्टमेन्ट। टु पुट ऑवर बेस्ट इनटु हीज इज ऑवर अनदर फॉलि, सिन्स देयरबाइ यू कन्डेम गुड आइडियाज एज वेलएज बॅड टु ऑब्लिविएन।*

यह बात मैंने बहुत पहले पढ़ी थी। उस समय लगा था, तमाम लेखन लेखन तो है परन्तु प्रीति का लेखन नहीं। समाचार-पत्र का फीचर, रेडियो के भाषण और सिनेमा की पटकथा को हम आमतौर से लेखन ही कहते है। उस तरह के लेखन से भी हम जीविका का उपार्जन कर लेते हैं, हमारी गृहस्थी का खर्च चल जाता है। लेकिन वह नकद पावना है। नकद पावना में दोष यही है कि इसकी प्राप्ति होते ही हम चुक जाते हैं। इसलिए साहित्यिक मूल्य की दृष्टि से उसकी कीमत कानी कौडी के बराबर है।

लेकिन ऐसा भी पावना है जो न केवल आज के नकद प्रयोजन की पूर्ति करता है वरन् अन्तिम काल के प्रयोजन की भी पूर्ति करता है। बकौल रवीन्द्रनाथ, नकद पावना 'भत्ता' है और अन्तिम काल का पावना 'वेतन' है। भत्ता लोग तुरन्त खर्च कर डालते हैं क्योंकि खर्च करने के लिए ही वह दिया जाता है। लेकिन वेतन ?

महीने का जब तक अन्त नहीं हो जाता है वेतन नहीं मिलता। जीवित अवस्था मे उसकी प्राप्ति ठीक भी नहीं होती। इसका हिसाब चित्रगुप्त के खाते मे सही-सही लिखा रहता है।

---

* हम जितनी भी पुस्तकों का अध्ययन करते हैं, हमारे लिए यह स्पष्ट से स्पष्टतर होता जाता है कि लेखक का सही कार्य श्रेष्ठकृति का प्रणयन करना ही है। पत्रकारिता प्रसारण, प्रचार और फिल्म लेखन का कार्य चाहे जितना ही महान् क्यों न हो उससे निराशा ही हाथ आती है। इन चीजों में अपनी सारी शक्ति लगा देना एक दूसरी मूर्खता का सूचक है, क्योंकि ऐसा करके हम अच्छे और बुरे विचारों को विस्मृति के गर्भ में डाल देते हैं।

कनोली साहब से 'मास्टर पीस' कहने का मतलब यही है कि इसका वेतन तो इस जीवन में मिलेगा ही, दूसरे जीवन में भी लेखक इससे वंचित नहीं होगा।

घटना-चक्र के कारण मैं सिनेमा से व्यावसायिक तौर पर बीच-बीच में संपृक्त हो जाता हूँ और यही वजह है कि सिनेमा के बारे में मेरा अनुभव व्यक्तिगत दायरे तक ही सीमित है। कार्तिक चट्टोपाध्याय एक तरह से मेरे प्रथम परिचित फिल्म-निर्देशक हैं तथा पटकथा-लेखन के मामले में कार्तिक बाबू के पास ही मैंने ककहरे का प्रारंभ किया था।

फिल्म की तैयारियाँ जोर-शोर से चलने लगीं। जिन लोगों ने फिल्म के लिए पैसा खर्च किया था, वे फिल्म के व्यावसायिक पहलू के लिए उद्विग्न थे। और मैं? मैं अपने बारे में उद्विग्न था। सोचता था, क्यों कुछ रुपयों के लिए मैंने फिल्म बनाने की अनुमति दी?

मनुष्य का मन अजीब होता है। मन कहने लगा, फिल्म बनने दो, तुम नाहक ही इतना सोच रहे हो। बंगाल के अधिकांश व्यक्ति निरक्षर हैं। वे लिखना-पढ़ना नहीं जानते। उन्होंने तुम्हारी पुस्तक नहीं पढ़ी है, फिल्म देखने पर वे तुम्हारी कहानी से परिचित होंगे। दीवारों पर तुम्हारी पुस्तक का इश्तहार चिपकाया जायेगा। चारों ओर तुम्हारा नाम और ख्याति फैलेगी।

खैर, मेरा जो कर्त्तव्य था। उसे मैंने किया। अब निर्माता और निर्देशक का काम है। उन्हें अपनी जिम्मेदारी निभाने दो।

सहसा एक दिन देखा, 'आनन्द बाजार पत्रिका' में एक खबर छपी है। 'साहब बीबी गुलाम' की भूमिका-लिपि के संबंध में दर्शकों की राय माँगी गयी है। यानी किस भूमिका में वे किस-किस अभिनेता-अभिनेत्रियों को देखना चाहते हैं। पत्र के द्वारा वे इसका उत्तर दें।

इस खबर को मैंने कोई महत्त्व नहीं दिया।

लेकिन कुछ लोग बार-बार मेरे घर पर आने-जाने लगे। उन्हें मैंने कभी देखा तक नहीं था और न पहचानता था। साथ ही साथ कुछ ऐसे लोग भी आने लगे जो मेरे परिचित हैं।

सबका निवेदन यही था कि मैं उन्हें एक चान्स दूँ।

मेरे जीवन का यह भी एक नया अनुभव था। पुस्तक लिखकर जितनी हलचल पैदा नहीं कर सका था, फिल्म बनने की खबर से जैसे उससे अधिक हलचल पैदा कर रहा हूँ। मानो पुस्तक का कोई महत्त्व नहीं, अगर कुछ महत्त्व है तो फिल्म का ही है। दरअसल पुस्तक लिखकर मैंने बहादुरी का कोई काम नहीं किया है, फिल्म बनना ही जैसे मेरा बहुत बड़ा कृतित्व है।

उसी दिन से बहुतेरे सगे-संबंधी मेरा हाल-चाल पूछने लगे। मेरी तबीयत कैसी है, यह जानने की भी उनमें उत्सुकता जगी और सिर्फ बाहर के सगे-संबंधी ही नहीं, घर के सगे-संबंधियों ने भी फुसफुसाना शुरू कर दिया। सबों ने धारणा बना ली कि मैं

संभवतः बहुत पैसे का मालिक हो गया हूँ। लाख तो मिला ही होगा मगर कितने लाख इस संबंध में वे ठीक-ठीक धारणा नहीं बना सके।

इतने दिनों के बाद सारे रहस्य का समाधान हुआ। एक आदमी ने साफ-साफ पूछा, "पुस्तक के लिए आपको कितना पैसा मिला?"

मैंने कहा, "पुस्तक आपने पढ़ी है?"

वह बोले, "आपने मुझे उसकी कोई प्रति दी है कि उसे पढ़ूँ?"

उसके बाद जरा रुक कर बोले, "पुस्तक पढ़ूँ ही क्यों? जरूर ही अच्छी होगी, वरना इतनी खपत होती ही क्यों? दूसरी बात है। सिनेमा-कंपनी बेवकूफ नहीं है कि इतना पैसा खर्च कर फिल्म के लिए रद्दी पुस्तक खरीदे।"

जो लोग अभिनय का सुयोग पाने के लिए आते थे, उनके साथ भी यही बात थी।

कहते, "मैं सोलह साल से इस लाइन में हूँ। छह-छह मेडल मिल चुके हैं। मगर बोलवाला नहीं रहने के कारण फिल्म में उतरने का मौका नहीं मिलता है।"

मैं कहता, "आप कौन-सा पार्ट चाहते हैं?"

वे लोग कहते, "कोई भी रोल मिले तो काम चल जाये।"

"फिर भी कोई न कोई नाम तो बताइए।"

वे कहते, "पुस्तक अभी ठीक से पढ़ी नहीं है—लाइब्रेरी से लाकर पढ़ लेंगे।"

उन्हें मैं क्या जवाब देता! इसी वजह से सिनेमा के प्रति मैं इतना अनासक्त हूँ। लोग शेक्सपीयर का 'हैमलेट' नहीं पढ़ेंगे, हैमलेट फिल्म देखकर कहेंगे कि 'हैमलेट' पढ़ा है। आज के कितने व्यक्ति तालस्तॉय, दास्तोव्स्की पढ़ते हैं, पता नहीं, लेकिन उनसे पूछा जाये तो 'रेजरेक्शन' या 'ब्रदर्स कारमाजोव' की कहानी धड़ल्ले से कह जायेंगे।

इसीलिए मेरी राय है, अच्छे उपन्यास का सिनेमा-स्वत्व शुरुआत में नहीं बेचना चाहिए। क्योंकि लोग असली पुस्तक पढ़ने का कष्ट करते हैं। कम से कम कुछ लोग तो पढ़ते हैं! अच्छी तरह प्रचार होने के पूर्व यदि सिनेमा का स्वत्व बेच दिया जाता है तो लेखक की आर्थिक और आत्मिक क्षति तो होती ही है, साथ ही साथ प्रकाशक को भी क्षति उठानी पड़ती है।

सुना, फिल्म का काम जोर-शोर से चल रहा है। स्टूडियो के कुछ आदमी मेरे पास आते थे।

वे पूछते, "आपकी फिल्म का सिलसिला कहाँ तक आगे बढ़ा है?"

मैं कहता, "फिल्म तो मेरी नहीं है।"

वे लोग आश्चर्यचकित हो जाते और कहते, "आप क्या स्टूडियो नहीं जाते हैं?"

"नहीं।" मैं कहता।

क्यों? उन्होंने आपसे आने नहीं कहा है?"

मैं कहता, "आने को तो कहा है, मगर मैं जाऊँ ही क्यों? फिल्म के बारे में उनको मुझसे ज्यादा समझदारी है। मैंने अपना काम कर दिया, अब मेरे लिए करने को कुछ रह नहीं गया है।"

वे कहते, "सभी साहित्यकार तो जाते हैं।"

यह कहकर उन लोगों ने कई साहित्यकारों के नामों का उल्लेख किया। इससे भी बढ़कर आश्चर्य मुझे तब हुआ जब पता चला कि जो लोग सिनेमा के गीत लिखते हैं वे भी फिल्म बनने के समय स्टूडियो जाते हैं।

मैं कहता, "जो लोग गीत लिखते हैं उनके लिए जाना क्या जरूरी है?"

वे कहते, "नहीं।"

"फिर ?"

वे हँसते हुए कहते, "सिर्फ स्टूडियो ही नहीं जाते हैं, आउटडोर शूटिंग के समय भी जमात के साथ बाहर जाते हैं।"

"वे वहाँ क्या करने जाते हैं?"

इस प्रश्न का उत्तर वे दे नहीं पाते थे। मुँह छिपाकर हँसने लगते।

स्टूडियो न जाने पर भी खबर मेरे कान में पहुँच जाती थी। 'नन्दन पिक्चर्स' के हारु बाबू (लोग उन्हें हारुदा कहकर ही पुकारते थे) से एक दिन मुलाकात हुई।

बोले, "विमल बाबू, मार खाने के लिए तयार हो जाइये।"

मैंने आश्चर्य में आकर कहा, "क्यों ?"

उन्होंने कहा, "लोग मुझे बेहद परेशान किये चल रहे हैं। मैं भागता-फिरता हूँ।"

हारुदा बोले, "आपने कैसी पुस्तक लिखी है साहब! लोग-बाग मुझे खोद-खोदकर पूछते हैं : गोरों की मारपीट वाला सीन है न? पकौड़े बनाने वाले का सीन है न? तिलचट्टा वाला सीन है या नहीं? उसके बाद है कबूतर उड़ाने का सीन—कबूतर उड़ाने का सीन मैं कैसे दिखाऊँ, बताइए तो! कलकत्ते में टेली-फोटो कैमरा नहीं मिलेगा।"

मैंने कहा, "सब कुछ जोड़ दीजिए न।"

हारुदा बोले, "जोड़ने के लिए कहने से ही क्या जोड़ा जा सकता है? कितनी घटनाओं को जोड़ूँ? लोगों को तो आपकी पुस्तक जबानी याद है। वे चाहते हैं, आपकी पूरी पुस्तक सिनेमा में घुसेड़ दूँ। ऐसा कहीं किया जा सकता है? लेंथ के बारे में सोचना नहीं पड़ेगा? आप तो ईंट-भर मोटी पुस्तक लिखकर निश्चिन्त हो गये। लेकिन मैं तो ऐसा नहीं कर पाऊँगा।"

मैंने पूछा, "भूतनाथ का पार्ट कौन कर रहा है?"

हारुदा बोले, "अभी तक किसी से तय नहीं किया है, लेकिन उत्तम कुमार बहुत जोर लगा रहे हैं।"

मैंने कहा, "उन्हीं को दे दीजिए।"

हारुदा बोले, "कर पायेंगे या नहीं, समझ में नहीं आ रहा है। बराबर रोमान्टिक प्रेमी का पार्ट करते रहे हैं, यह टाइप-पार्ट क्या कर पायेंगे? हालाँकि मैं खाना खाने बैठा था कि मेरी पत्नी के माध्यम से मुझ पर दबाव डालने लगे।"

उसके बाद जरा रुककर बोले, "तब हाँ, 'चाँपा डांगार बौ' में उसका टाइप-रोल

कोई बुरा नहीं था। आपने 'चाँपाडोंगार बौ' देखा है ?"

"नहीं।" मैंने कहा।

हाल्दा को पता नहीं था कि जीवन में कभी सिनेमा देखने की समझ मुझमें नहीं थी। अपने पैसे से टिकट कटाकर कभी सिनेमा देखने गया होऊँ, ऐसी घटना मुझे याद नहीं। इसके अलावा मेरी कहानी में किसने नायक का रोल अदा किया, इसके बारे में भी मैं मायापच्ची नहीं करता था। क्योंकि उत्तम कुमार अच्छे अभिनेता हैं या बुरे, उस समय मैं यह बात भी नहीं जानता था।

सिर्फ एक ही बात याद है, मिस्टर बी०एन० सरकार से जब इस सन्दर्भ मे अन्तिम मुलाकात हुई तो उन्होंने कहा था, "पटेश्वरी बड़ी बहू का पार्ट किसे देने से अच्छा रहेगा ?"

मैंने कहा था, "अभिनेत्रियों के बारे में मैं कुछ भी नहीं बता सकता हूँ।"

मिस्टर सरकार ने कहा, "मिसेज सुचित्रा सेन नायिका का रोल करने के लिए छह हजार रुपये की माँग कर रही हैं—लेकिन नौ हजार रुपये में मुझे सुमित्रा देवी मिल जायेंगी। इसीलिए सोचता हूँ, सुमित्रा देवी को ही यह रोल दूँगा। आपका क्या ख्याल है ?"

"मेरी समझ में कुछ भी नहीं आ रहा है" उस दिन यही कहकर मैं चला आया था। उसके बाद उनसे फिर मुलाकात नहीं हुई।

लेकिन उस दिन किसी को समझा नहीं सका, यहाँ तक कि किसी से कह भी नहीं सका कि उस समय मुझे भय का अहसास हो रहा था। क्यों भय का अहसास हो रहा था, यह बात क्या आज भी समझाकर कह सकता हूँ ? बस, कनोली साहब की ही बात याद आ रही थी जो लिख गये है कि द ट्रू फंक्शन ऑफ ए राइटर इज टु प्रोड्यूस ए मास्टर पीस एण्ड दैट नो अदर टास्क इज आफ एनी कॉन्सिक्वेन्स।

●

असंख्य चिट्ठियाँ आती थीं। कोई भूरि-भूरि प्रशंसा करता था तो कोई निन्दा। एक व्यक्ति ने मुझे अपने पत्र में लिखा था—आप इसका प्रतिवाद क्यों नहीं करते हैं? उत्तर मे मैंने लिखा था, यदि दस वर्ष बाद भी यह अभियोग टिका रहेगा तो मैं इसका जवाब दूँगा।

लेकिन मन ही मन चाह रहा था कि निन्दा का यह क्रम और चलता रहे। मनु-संहिता मे पढ़ा था—निन्दा को अमृत समझो और प्रशंसा को विष। भर्तृहरि सम्राट के साथ-साथ संन्यासी भी थे। उन्होने कहा था—कोई तुम्हें साधु कहेगा, कोई चण्डाल, कोई पागल कहेगा कोई दानव। तुम बिना किसी ओर ध्यान दिये अपने पथ पर चलते जाओ, किसी से डरो नहीं।

इस बात मे सच्चाई है, इसका प्रमाण भी मिला। इतनी कुत्सा और गाली-गलौज की बदौलत मुझे आर्थिक लाभ ही हुआ। इसके फलस्वरूप मुझे हमेशा के लिए दासता से मुक्ति मिल गयी। मेरे प्रकाशक को भी अकल्पित धनराशि प्राप्त हुई।

खैर यह सब जाने दें, असली प्रसंग सिनेमा है। विवाह-घर मे एक नवविवाहित वधू को एक ही पुस्तक की सत्ताईस प्रतियो की प्राप्ति ने निर्माताओ को व्यावसायिक बुद्धि को जाग्रत कर दिया—जिस पुस्तक को इतनी लोकप्रियता प्राप्त है, उसका हरेक पाठक यदि एक बार भी फिल्म देखे तो बेहिसाब पैसे की आमदनी होने की संभावना है।

हिसाब करने पर पता चला, कुल आमदनी लाखों की हो सकती है। उस समय मेरी खोज होने लगी।

तीन-तीन निर्माता मेरी खोज करने लगे। तीनो कम्पनियों के प्रतिनिधि मेरे घर पर आते थे परन्तु मुझसे मुलाकात नहीं होती थी। उस समय मेरे पास टेलीफोन भी नहीं था। मैं उन लोगों को अनदेखा करने के खयाल से भागता-फिरता था और वह इस-लिए कि अपनी पुस्तक पर अगर फ़िल्म बनाने देता हूँ तो वह एक बुरी बात होगी और मेरी पुस्तक की खपत भी कम होने लगेगी। उस समय ज्यादा कीमत देकर पुस्तक कौन खरीदेगा जब कि दस आने मे ही कहानी के असली मजे का फ़िल्म में पूरे तौर पर उपभोग किया जा सकता है। दरअसल पुस्तक और सिनेमा क्या एक ही वस्तु है? मेरी राय मे सिनेमा आदमी को मजा तो देता है जरूर किन्तु उसे चिन्तनहीन बना देता है; और साहित्य मनुष्य को चिन्तनशील बनाता है। मैंने इतने यत्न के साथ रात्रि-जागरण कर, इतनी पुस्तकों को छापने के बाद जिन शब्दों को कहानी के आवरण और पंक्ति-पंक्ति मे उड़ेल दिया है, उसे क्या फिल्म में दो घण्टे के दरमियान चित्रायित किया जा सकता है?

मगर पहले ही कह चुका हूँ कि लोगों की साजिश के कारण भगवान् को भूत बनना पड़ा था। मेरी भी वही हालत हुई। किंवदन्ती को एन० सी० सरकार एण्ड सन्स के श्री सुधीरचन्द्र सरकार ने चरितार्थ किया। एक दिन घर से भागकर मैं कॉलेज स्ट्रीट में उनकी दुकान पर बैठा था, अचानक उन्होंने एक सज्जन से कहा, "नन्दु बाबू, आप जिन्हें खोज रहे थे, आप वही विमल मित्र हैं।"

मैं तब जैसे साँप देखकर पीछे हटने लगा था। मगर नन्तु बाबू ने इस सुनहले मौके को हाथ से जाने नहीं दिया। बोले, "अरे, आप ही हैं! आइये-आइये, मेरे साथ आइये।"

यह कहकर वह मुझे खींचते हुए श्याम बाजार स्थित 'रूपवाणी' सिनेमा घर के दो मंजिले पर ले गये। कहीं से बढ़िया सन्देश मँगाया। उन्होंने सोचा, "खाकर मैं द्रवित हो जाऊँगा।"

इतना जरूर है कि अन्ततः मैं द्रवित हो भी गया। द्रवित न हुआ होता तो फिल्म कैसे बनती? अन्त में किस कौशल से उन्होंने मुझे अपनी मुट्ठी में कर लिया, उसका विशद विवरण प्रस्तुत करने से यहाँ स्थानाभाव हो जायेगा। अतः वह प्रसंग यहीं समाप्त कर रहा हूँ। बस इतना कहना ही काफी होगा कि एक दिन वह मुझे धर्मतल्ला स्ट्रीट ले गये। उस समय दो-दो निर्माता न्यू थियेटर्स के कला-कौशल को अमल में लाकर हार चुके थे और उन्होंने पाँव पीछे हटा लिये थे।

अनुबंध-पत्र में एक यह भी शर्त थी कि पटकथा-लेखन में मुझे अनिवार्यतः सहयोग करना होगा। यानी लिटररी कॉलबरेशन करना होगा।

मैंने कहा, "इस शर्त को हटा देना पड़ेगा।"

नन्तु बाबू न्यू थियेटर्स के लॉ एडवाइजर थे। वह बगल में ही खड़े थे। बोले, "अपनी कहानी की पटकथा देख लीजिएगा, यह आपका ही स्वार्थ है।"

मैंने कहा, "कहीं इस शर्त के बहाने आप लोग मुझसे पूरी पटकथा ही न लिखा लें।"

बी० एन० सरकार न्यू थियेटर्स के मालिक थे। मेरे दबाव में आकर उन्होंने उस शर्त को हटा दिया। उसके बदले लिखा गया, पटकथा चाहे किसी से भी लिखाई जाये परन्तु वह मेरे मनोनुकूल होनी चाहिए।

हस्ताक्षर वगैरह का काम समाप्त हो गया। अन्त में मिस्टर सरकार ने पूछा, "निर्देशन का भार किसे दिया जाये?"

उस समय मुझे किसी निर्देशक का नाम मालूम नहीं था। हेमचन्द्र और चित्त बोस के नामों का उल्लेख किया गया। मैं किसी के नाम पर अपनी सहमति नहीं दे सका क्योंकि तब मैंने किसी का काम नहीं देखा था।

उसके बाद अभिनेता-अभिनेत्रियों के नामों का उल्लेख किया गया। उस संबंध में भी मैं कोई सहायता नहीं कर सका।

मैं चेक लेकर चला आया।

इस घटना के लगभग एक महीने बाद मुझे एक पत्र मिला। उस पत्र में मुझसे अनुरोध किया गया था कि अमुक तिथि को अमुक समय आप बी० एन० सरकार के भवन में आने का कष्ट करें। आने से हम आभारी होंगे।

यह एक तरह का अनुभव ही था। निताई भट्टाचार्य ने पटकथा पढ़ना शुरू किया। विशिष्ट-विशिष्ट संचालक स्थानीय व्यक्ति सुनने लगे। नाश्ते का भरपूर आयोजन

किया गया था। उपस्थित लोगों में से एक नाम कार्तिक चट्टोपाध्याय और दूसरे का सौरीन सेन था। सौरीन सेन न्यू थियेटर्स के आर्ट-डायरेक्टर थे।

पढ़ते-पढ़ते बीच में मेरी ओर देखते हुए निताई भट्टाचार्य बोले, "पटकथा एक दवाई मुर्गी जैसी चीज होती है।"

उनकी बात सुन कर मैंने सिर हिलाया। मानों उनकी बात का मर्म मेरी समझ में आ गया। असल में मैंने अपने चेहरे से यही भाव व्यक्त किया कि पटकथा के मामले में मैं अनाड़ी हूँ।

एकाएक देखा, सौरीन सेन खर्राटे भर रहे हैं। वह अपनी कुरसी पर बैठे-बैठे ही गहरी नींद में सो गये। उनके खर्राटे की आवाज इतनी तीव्र थी कि किसी को यह जानना बाकी नहीं रहा।

इसके बाद एक वक्त ऐसा आया कि पढ़ने का क्रम थम गया। बाकी अंश दूसरे दिन पढ़ा जायेगा, यही तय किया गया। सौरीन सेन की नींद टूट चुकी थी। वह आँख मलकर सीधे होकर बैठ गये।

निताई भट्टाचार्य ने मेरी ओर देखते हुए कहा, "आपकी कहानी में मैंने जरा भी परिवर्तन नहीं किया है। पटकथा आपको जरूर ही अच्छी लगेगी।"

हम अपने-अपने घर लौट आये। कुछ दिनों के बाद पटकथा की दूसरी किस्त सुनने के लिए पुनः पत्र आया। लेकिन उस दिन मैं इसलिए नहीं गया कि कहीं ऊबने न लगूं। चाहे जो कुछ हो, फिल्म के मामले में मैं माथापच्ची क्यों करने जाऊँ?

इसके बाद एक दिन कार्तिक चट्टोपाध्याय और सौरीन सेन मेरे घर पर आ धमके। बात क्या है, तो मुझे 'साहब बीबी गुलाम' की पटकथा लिखनी है।

मैं अवाक् हो गया। पटकथा के बारे में मेरी समझदारी ही कितनी है!

उन लोगों ने कहा, "पटकथा लिखना बहुत आसान है। आप कहानी लिखते हैं, पटकथा लिखने की तालीम लेने में आपको एक मिनट लगेगा। इसके अलावा हम भी बता देंगे। आप आपत्ति नहीं करें।"

आपत्ति करने से उस समय लाभ भी नहीं था। क्योंकि पटकथा की सफलता पर ही मेरी फिल्म का सुनाम-दुर्नाम निर्भर करता था। अतः मुझे राजी होना पड़ा। दस दिन तक हर रोज पाँच-छः घण्टे तक काम करना होगा। पटकथा किसे कहते हैं, यह भी नहीं जानता था। सिनेमा भी मैं कभी-कदा ही देखता हूँ। देख कर फिल्म की कहानी के संबंध में ही मैंने सोचा-विचारा है, कैमरा, निर्देशन, अभिनय, पटकथा इत्यादि के बारे में कभी माथा-पच्ची नहीं की है। इसके अतिरिक्त कभी इसकी कल्पना नहीं की थी कि उपन्यास लिखने पर पटकथा भी लिखनी होगी।

जार्ज बर्नार्ड शा जब अपनी फिल्म की पटकथा लिखने हालीवुड गये थे तभी उन्हें अपनी रचना और उसके आंगिक के बारे में पता चला था। लिखने के समय वह नियमों का पालन किये बगैर कहानी लिख गये थे, मगर पटकथा लिखने के समय ही

उन्हें पहले-पहल पता चला था कि कहानी लिखने के तमाम नियमों का उन्होंने पालन किया है।

पटकथा लिखने के समय कार्तिक चट्टोपाध्याय मेरे सामने बैठे रहते थे और मैं उनसे विचार-विमर्श करते हुए लिखता जाता था। किसी मामले में मैं आपत्ति करता तो कार्तिक बाबू कहते, "यह कोई उपन्यास लिखना नहीं है जनाब, यह पटकथा है। यह और ही तरह की चीज होती है।"

लेकिन मुझे लगता, उपन्यास और पटकथा असल में एक ही चीज है। कोई-कोई लेखक वर्णनात्मक कहानी लिखता है। जैसे, मान लीजिए लेखक ने लिखा—रामबाबू का चेहरा बड़ा ही गोरा है।

मेरे लिखने का तौर-तरीका दूसरी ही तरह का है। मैं एक घटना की सृष्टि करता हूँ। रामधन बाबू को एक दिन रास्ते से पैदल चलाते हुए लाता हूँ। उनकी बगल से दो मित्र पैदल चले जा रहे हैं। एक मित्र दूसरे से रामधन बाबू की ओर इशारा करते हुए कहता है, "देखो, इस आदमी का नाम रामबाबू है। इनके चेहरे का रंग कितना गोरा है!"

पहली घटना वर्णनात्मक है और दूसरी चित्रात्मक। जिस उपन्यासकार की शैली चित्रात्मक होती है उसकी रचना लोकप्रिय होती है। पढ़ते-पढ़ते पाठक सिर्फ कहानी ही नहीं सुनते, पात्र-पात्री की त-वीर भी देखने लगते है। तसवीर मन को जितना आकर्षित करती है, उस अनुपात मे वर्णन अपनी ओर आकर्षित नहीं कर पाता है। यही वजह है तसवीर से पाठको के मन को जितनी तृप्ति मिलती है, आँखो को उससे अधिक तृप्ति मिलती है। चलचित्र चूँकि मुख्यतः आँख और कान को सक्रिय करता है, इसलिए पटकथा-लेखक मनोवैज्ञानिक विश्लेपण के बनिस्वत घटना का सहारा ले चरित्रो को उभारने की ओर अधिक ध्यान देते हैं। यही वजह हैं कि जो लोग वर्णनधर्मा लेखक हैं उनकी अपेक्षा चित्रधर्मा लेखक पटकथा लिखने के मामले मे अधिक सफल होते हैं।

शरतचन्द्र इसी प्रकार के चित्रधर्मा लेखक थे। इसी वजह से शरतचन्द्र की कहानी के लिए पटकथा-लेखक को अधिक श्रम नहीं करना पड़ता था।

कार्तिक चट्टोपाध्याय के साथ पटकथा लिखते-लिखते महसूस किया कि चरित्र की सृष्टि करने के निमित्त घटना का सहारा लेना होगा। नायक अगर ईमानदार है तो उसकी ईमानदारी के उदाहरण के निमित्त कई घटनाएँ गढ़नी होंगी जिससे प्रमाणित हो सके कि वह ईमानदार है। साहित्यकार ईमानदार शब्द का व्यवहार करके ही छुटकारा पा लेता है लेकिन पटकथा-लेखक का कार्य इतना सरल नहीं होता, उसे दिमाग पर जोर देकर ईमानदारी की कई घटनाओं का उदाहरण लेना पड़ता है। जो लेखक अपने उपन्यास मे घटनाओ का सविस्तार वर्णन करता है उसकी कहानी की पटकथा लिखने में पटकथा-लेखक को अधिक परेशान नहीं होना पड़ता है। घटना का सिच्यूएशन के आविष्कार की मौलिकता पर ही उपन्यास और पटकथा-लेखक की सफ-

लता निर्भर करती है। डिकेन्स, बालजाक, तॉलस्तॉय, शरतचन्द्र इत्यादि लेखक घटना-आविष्कार मे माहिर थे।

खैर, मेरे द्वारा लिखी गयी कहानी थी और मैं ही उसकी पटकथा लिख रहा था अतः मिस्टर सरकार को कोई चिन्ता नहीं थी। उस समय वे हम दोनों को काम मे नियुक्त कर सिमुलतल्ला विश्राम करने चले गये। गरमी के दिनो मे जब लौटकर आये तो पूछा, "कैसा हुआ ?"

कार्तिक बाबू ने मुझे पहले से ही सिखा दिया था कि सरकार साहब अगर पूछें तो मैं बताऊँ कि अच्छा हुआ है।

जैसा कि उन्होंने सिखाया था, मैंने भी कहा, "अच्छा।"

उसके बाद सुनाने की बारी आयी। मिस्टर सरकार अल्पभाषी थे—मुझसे भी अधिक अल्पभाषी। कार्तिक चट्टोपाध्याय पटकथा पढने लगे और हम दोनों श्रोता की हैसियत से सुनने लगे। पढ़ना खत्म हुआ।

मिस्टर सरकार ने सिगरेट का कश ले धुएँ का गुबारा छोड़ा। उसके बाद बोले, "यह तो मझले बाबू की कहानी हो गयी।"

बस, इतना ही कहा। लेकिन इतने ही शब्दो मे वह सो सब कह गये जो उन्हें कहना था। यानी कहानी का केन्द्र गलत जगह स्थापित किया गया है। गढ़ना था शिव, मगर बन गयी बन्दर की आकृति।

अतः हमे स्क्रिप्ट लेकर पुनः बैठना पड़ा। कुछ ग्रहण और कुछ वर्जन के बाद कहानी का केन्द्र हमने यथास्थान स्थापित किया। वह मझले बाबू की कहानी न होकर छोटे बाबू की कहानी हो गयी—यानी जो 'साहब बीबी गुलाम' का मूल है और जिसे केन्द्र बना कर पूरी कहानी का ढाँचा तैयार किया गया है।

केन्द्र-निर्वाचन के मामले मे उपन्यास या पटकथा का मौलिक सत्य एक ही है। केन्द्र अगर जरा भी इधर-उधर हट जाये तो सारी कहानी विशृंखल हो जायेगी। नतीजा यह होगा कि पटकथा मे भी विशृंखलता दीख पड़ेगी। उस समय कहानीकार को दोष दिया जाता है, निर्देशक, कैमरामैन, अभिनेता-अभिनेत्री को दोष दिया जाता है। अच्छी और घटिया कहानी मे केन्द्र-निर्वाचन के मामले मे ही अन्तर होता है। धरती के लिए जिस प्रकार मध्याकर्षण अपरिहार्य है, पटकथा के लिए उसी प्रकार केन्द्र-निर्वाचन अपरिहार्य है। मध्याकर्षण शक्ति का अस्तित्व न रहने से धरती की जो हालत हो सकती है, पटकथा मे केन्द्र इधर-उधर हो जाये तो फिल्म की वही हालत हो जायेगी। उदाहरण के लिए मान लीजिए कहानी केन्द्र का राजा है लेकिन पटकथा-लेखक के दोष से यदि राजा के बदले सेनापति ही प्रधान हो जाये तो फिर सब चौपट हो जायेगा। फिल्म रसातल मे चली जायेगी।

'साहब बीबी गुलाम' की पटकथा की इस गलती को मैं समझ नहीं सका, समझा तो मिस्टर सरकार ने। वह बहुत सारे चलचित्रो के निर्माता रह चुके हैं। अतः उनके अनुभवों के समक्ष मुझे अपना मस्तक नत करना पड़ा। पहले मैं अपना उपन्यास लिखता

ई था, मगर उसके नियमों से परिचित नहीं था। अब मुझे उसकी पहचान हुई।

एक तरह से यह मेरा पटकथा-लेखन आ अक्षरारंभ था। सोचा था, पटकथा-लेखन के अक्षरारंभ और अन्त का सिलसिला यहीं समाप्त हो जाये।

लेकिन वैसा नहीं हो सका। पटकथा अच्छी रहने के कारण ही 'साहब बीबी गुलाम' ने फिल्म की हैसियत से नाम कमाया, ऐसी बात नहीं। पटकथा फिल्म की अच्छाई की सबसे प्रमुख शर्त होती है। इसकी जानकारी मुझे बाद में जीवन गांगुली के द्वारा निर्देशित 'यौतुक' फिल्म के समय हुई।

एक विशेष कारणवश 'यौतुक' फिल्म की पटकथा लिखने का भार मुझे सौंप दिया गया। शर्त यही थी कि पटकथा मैं लिखूंगा तभी निर्देशक को उस फिल्म के निर्देशन की जिम्मेदारी सौंपी जायेगी अन्यथा उन्हें हमेशा सहायक निर्देशक बन कर ही रहना होगा।

'यौतुक' फिल्म के कथाकार स्वर्गीय उपेन्द्र नाथ गंगोपाध्याय थे। फिल्म के निर्माता शचीन वारिक ने मुझसे बार-बार कहा, "फिल्म अच्छी बने इसके लिए आप कहानी में जैसा चाहे परिवर्तन कर सकते हैं। कथाकार से मैंने इसी तरह शर्तनामा किया है।"

तब उपेन्द्र नाथ गंगोपाध्याय जीवित थे। मैं उनकी बात पर सहमत नहीं हुआ क्योंकि कथाकार मेरे परम आदणीय अग्रज थे। चलचित्र की दृष्टि से उनकी कहानी में परिवर्तन लाना यद्यपि अपरिहार्य था लेकिन ऐसा करना अनुचित जानकर ही मैंने नहीं किया। उपेन्द्र नाथ की अनुमति के बिना वैसा करना अन्याय होगा, यही सोच कर मैंने नहीं किया। इतना जरूर है कि व्यावसायिक दृष्टि से वह फिल्म काफी सफल हुई थी।

लेकिन अधिकांश समय वैसा करना भी पड़ता है। परिवर्तन न करने पर फिल्म घटिया साबित होती है। किसी विख्यात लेखक की कथा को पटकथा मे परिवर्तित करने के समय ही आमतौर से इस प्रकार के खतरे का सामना करना पड़ता है। ऐसे बहुतेरे निर्देशक हैं जो प्रसिद्ध कहानी को परिवर्तित कर उसे चलचित्रोपयोगी बनाने मे सकोच का अनुभव करते हैं। परिवर्तन न करने के कारण निर्देशक, पटकथा-लेखक तथा फिल्म से जुड़े हुए लोगों की बदनामी होती है।

पटकथा-लेखन के एक और खतरे के बारे मे बताता हूँ। यह खतरा 'तानसेन' फिल्म की पटकथा लिखने के समय उपस्थित हुआ था। नीरेन लाहिड़ी मेरे पास पटकथा लिखने का प्रस्ताव लेकर आये। मैं तानसेन के बारे मे जानता ही कितना था या संगीत के बारे मे मेरी जानकारी ही कितनी थी। इसके अलावा पटकथा लिखने का मुझे अनुभव ही कितना था।

लेकिन पता नहीं क्यो, 'साहब बीबी गुलाम' की सफलता से आकर्षित हो एक-एक कर अनेक लोग मेरे पास आने लगे और पटकथा लिखने का प्रस्ताव रखने लगे। नीरेन लाहिड़ी बड़े ही मजलिसी आदमी थे। उनके मजलिसी तौर-तरीके ने ही मुझे सबसे अधिक आकर्षित किया। उनकी बातों को सजाया जाये तो वही पटकथा हो जाय, वह

इसी प्रकार के कथावाचक थे। मैंने उनकी बात मान ली। एकाध महीने तक उनके साथ अड्डेबाजी करने पर मुझे इतनी कहानी और उपन्यासों की रसद प्राप्त हुई जिसकी कोई सीमा नहीं। असली लाभ मुझे यही हुआ था। हानि हुई तो फिल्म की। व्यावसायिक दृष्टि से उस फिल्म को सफलता नहीं मिली थी। मैं इसके लिए दोषी नहीं हूँ। फिल्म बनाने के समय यदि शिल्प-सृष्टि के उद्देश्य के पीछे कोई बुरा मतलब रहे तो उसमे सफलता किसी भी हालत मे नहीं मिल सकती है। नायिका के चुनाव के मामले मे ही इस रहस्य का मण्डाफोड हो गया। इससे अधिक न कहना ही ठीक होगा।

इसके बाद मैं पुनः एक और मुसीबत मे फँस गया। मैं कहानी-उपन्यास लेखक हूँ, पटकथा-लेखक की हैसियत से सस्ती लोकप्रियता की मुझे चाह नहीं थी। उपन्यास-लेखन एक सृष्टि है। उसमे यातना भोगनी पडती है लेकिन वह यातना आनन्द की यातना है। निरर्थक होने के बावजूद वह यातना प्रत्येक कलाकार को काम्य होती है। क्योंकि वह स्वय मे एक संपूर्ण कला है। लेकिन पटकथा सिनेमा-शिल्प का एक मन्नारा है। उसमे जितनी कम जिम्मेदारी रहती है, यातना भी उतनी ही कम रहती है—वह एक आनन्द-हीन यांत्रिक यातना होती है। उस यातना मे रचनाकार को आनन्द मिले तो यही समझना होगा कि वह कलाकार नहीं, बल्कि कुछ और ही है।

ऐसी घटना 'नीलाचले महाप्रभु' फिल्म के वक्त घटित हुई थी। स्वर्गीय नृपेन्द्र कृष्ण चट्टोपाध्याय ने इसकी पटकथा लिखी थी परन्तु निर्माता से मतभेद हो जाने के कारण उन्होंने इस काम से हाथ मोड़ लिया।

मैंने विनम्रता के साथ कहा, "नृपेन बाबू की पटकथा में संशोधन करूँ, उतना मैं दुस्साहसी नहीं हूँ।"

लेकिन निर्माता मोहन मजुमदार ने मुझे नृपेन बाबू का पत्र दिखाया। उसमें लिखा था कि उन्होंने पटकथा का जितना अंश लिखा है, उस पर किसी प्रकार का दावा नहीं करते।

जब मैंने देखा, निर्माता ने फिल्म के पीछे काफी पैसा खर्च कर डाला है और वह फिल्म बनाने को बद्धपरिकर है तो मैंने अपनी सहमति जाहिर कर दी। मैंने पटकथा लिख दी। जब फिल्म बनकर तैयार हो गयी तो नृपेन बाबू ने लिखा कि पटकथा-लेखक की हैसियत से उनका नाम रहना चाहिए।

मैं अगर जानता कि इस तरह की घटना घट सकती है तो पटकथा लिखता ही नहीं। खैर अन्ततः फिल्म मे पटकथा-लेखक की हैसियत से हम दोनों का नाम दिया गया। उस फिल्म को काफी लोकप्रियता प्राप्त हुई थी।

उस वक्त 'एन्टोनी फिरंगी' पर मुझे एक उपन्यास लिखने की इच्छा हुई। एन्टोनी फिरंगी के संबंध मे इतिहास मे कोई सामग्री उपलब्ध नहीं है। अस्सी भाग कल्पना और बीस भाग सच्चे तथ्य को लेकर मैंने मन ही मन कथा का एक ढाँचा तैयार किया था। यह बात किसी तरह अभिनेत्री सुनन्दा बंद्योपाध्याय के कानों मे पहुँच गयी। उनके पति एक दिन उस कहानी पर फिल्म बनाने के उद्देश्य से मेरे घर पर आ धमके।

मैंने कहा, "यह कहानी तो मैंने अभी तक लिखी नहीं है।"

सुधीर बाबू बोले, "लिखना शुरू कर दीजिये।"

मैंने लिखा। लिखने में एक महीने का समय लगा। इस संबंध में पुरानी पोथियाँ और विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित रचनाएँ मेरे लिए बहुत ही उपयोगी साबित हुई थीं। नायिका का नाम आमतौर से लोगों को सौदामिनी ही मालूम है। लेकिन मैंने नायिका का नाम 'अनुपमा' रखा। मुझे इतिहास में ही यह नाम मिला था। कहानी शुरू से अन्त तक कल्पित थी। कहीं कोई ऐतिहासिक आधार नहीं था। किसी भी प्रकाशित दूसरी कहानी से उसमें साम्य नहीं था।

लेकिन जब फिल्म बनी तो सुनने में आया, फिल्म में कहीं कहानी और पटकथा-लेखक का नाम नहीं है। मुझे कोई आश्चर्य नहीं हुआ, क्योंकि तब तक मुझे फिल्मी दुनिया के छल-कौशल का बहुत कुछ पता चल चुका था।

उस समय मुझे सिर्फ कनोली साहब की ही बात याद आयी। सोचा, अब यह सब नहीं करूँगा। मेरा काम उपन्यास और कहानी लिखना है। 'साहब बीबी गुलाम' के बाद सिनेमा-जगत् के सुधीजनों ने मुझे इस तरह घेर लिया था कि मुझे उनके हाथ से छुटकारा ही नहीं मिल रहा था। इस घटना के बाद जो भी मेरे पास पटकथा के लिए आया उसे मैंने वापस कर दिया। कहा, "अब नहीं, अब मैं दूसरे का काम नहीं करना चाहता। अब मुझे अपना काम करने दीजिये। असलियत यही है कि मैं पटकथा लिखना नहीं जानता हूँ।"

उनसे छुटकारा पाने के लिए मैंने 'देश' पत्रिका में पुनः एक धारावाही उपन्यास लिखना शुरू कर दिया। नाम रखा—'कड़ी दिये किनला' (खरीदी कौड़ियों के मोल)। उस समय पटकथा का प्रस्ताव आता तो मैं कह देता, "अभी मेरे पास समय नहीं है मैं उपन्यास लिखने में व्यस्त हूँ।"

१९६० ई० का जनवरी महीना था। उसके तीन महीने बाद १८ मार्च को अचानक एक गैर बंगाली सज्जन मेरे घर पर आये। पूछा, "आपके 'साहब बीबी गुलाम' की हिन्दी फिल्म का स्वत्व क्या बिक चुका है?"

मैंने कहा, "नहीं बिका है। लेकिन खरीदना कौन चाहता है? कौन-सी कंपनी?"

उस आदमी ने कहा, "गुरुदत्त।"

मैंने कहा, "तीन वर्ष पहले तो आप लोग एक बार आ चुके हैं।"

"हाँ, आये थे। तब हम 'एटरनल राइट' खरीदना चाहते थे। लेकिन आपने बेचना नहीं चाहा। अब हम आपकी ही शर्त पर खरीदने को तैयार हैं। गुरुदत्त ने मुझे दुबारा आपके पास भेजा है। आप कल बंबई चल सकते हैं?"

"नहीं", मैंने कहा, "अभी कलकत्ता छोड़ कहीं दूसरी जगह जाना मेरे लिए संभव नहीं है।"

मैं जाने को तैयार नहीं था और वह भी मुझे छोड़ने को राजी नहीं थे। कलकत्ता छोड़ने में मेरे सामने सबसे बड़ी रुकावट यही थी कि मेरा लिखना बन्द हो जाता। मुझे

प्रत्येक सप्ताह पत्रिका मे अपनी रचना भेजनी पडती थी, साथ ही साथ उसका प्रूफ भी देखना पड़ता था। लिखने का मतलब था—इन्द्रिय का द्वार बन्द कर योगासन करना। हिन्दी फिल्म बनाने का मतलब था मुझे कई हजार रुपये मिल जाते। लेकिन मेरे लेखन की *क्या हालत होती? लेखन का अर्थ है मेरा अस्तित्व—मात्र शारीरिक अस्तित्व नहीं,* आत्मिक अस्तित्व। पैसे की आवश्यकता अस्वीकार नहीं की जा सकती है, यह सच है; परन्तु रुपया क्या आत्मा की आवश्यकता की पूर्ति कर सकता है? मैंने कहा, "मैं बंबई नहीं जा सकूंगा, उन्हीं लोगों को कलकत्ता आने को कहिये।"

वह बोले, "वे अगर कलकत्ता आयेंगे तो बेहद खर्च हो जायेगा, इससे तो अच्छा यही है कि आप एक दिन के लिए बंबई चलें।"

फिर भी मैंने कहा, "मेरे लिए पहले मेरा उपन्यास है, उसके बाद ही सिनेमा का नंबर आता है।"

वह बोले, "इतनी जल्दी आप 'ना' नहीं कहें। आप तीसरे पहर चार बजे तक सोचकर देख लें, उसके बाद टेलीफोन से 'हां' या 'नहीं' सूचित कर दीजिएगा।"

अच्छी बात है। यही किया जायेगा। वह चले गये। मैंने तीसरे पहर चार बजे उन्हे सूचित कर दिया कि मेरा जाना नहीं हो सकेगा।

"देखिये", उन्होंने कहा, "मैं कल सवेरे के प्लेन की टिकट कटा लेता हूँ, उसके बाद आप गुरुदत्त से रात के समय ट्रंक-टेलीफोन से बातचीत कर लें।"

यह प्रस्ताव मुझे बुरा नहीं लगा। रात में जब मैंने ट्रंक-टेलीफोन से गुरुदत्त से बातचीत की तो मैं आश्चर्य मे खो गया। मैंने सोचा था, गुरुदत्त पजाबी भाषाभाषी हैं, लेकिन बंगाली की तरह ही साफ-साफ बंगला भाषा मे उन्होंने मुझसे बातचीत की। गुरुदत्त बोले, "आप चले आइये विमल बाबू, आपको किसी असुविधा का सामना नहीं करना पडेगा। आपकी मर्जी होगी तो दस्तखत कीजिएगा, नहीं तो नहीं कीजिएगा।"

अतः मुझे सहमत होना पड़ा। दूसरे दिन सवेरे दमदम से हवाई-जहाज रवाना हुआ। नयी अनजानी जगह जा रहा हूँ, पता नहीं क्या होगा। सिनेमा के लोगो से मैं हमेशा भयभीत रहता था। कहीं ऐसा न हो कि मुझे अपने कब्जे मे पाकर वे गलत शर्तें करा लें।

लेकिन वहाँ जाने पर दो दिनो के दरमियान ही मेरी धारणा बदल गयी। देखो, कोंकणी भाषाभाषी होने के बावजूद गुरुदत्त सांस्कृतिक दृष्टि से खाँटी बंगाली हैं। हर कमरे मे पुस्तको का अंबार लगा है। जहाँ बिस्तर है, उसकी बगल मे ही पुस्तकालय है। पुस्तकें ऐसी-वैसी नहीं, सबकी सब क्लासिक साहित्य। डिकेन्स, शोलोखोव, बालजाक, रवीन्द्र, नजरुल, शरतचन्द्र कौन नहीं हैं? पुस्तकें सिर्फ शोभा के लिए नहीं हैं, उन्हें वह पढते भी हैं। अगर उन्हे गवाह की हैसियत से कचहरी जाना पड़ रहा है तो साथ मे पुस्तक रहती है, स्टूडियो मे भी पुस्तको की आलमारी है। रात मे सोने के पहले उन्हें पुस्तक चाहिए ही। उनके यहाँ बंगला, हिन्दी, अंग्रेजी तथा कितनी ही अन्यान्य भाषाओं की पुस्तकें हैं। चपरासी यदि उनके साथ चलता है तो झोली मे

सिगरेट, दियासलाई, चश्मे की खोल और रुपया पैसे के साथ पुस्तक भी रहती है। गुरुदत्त पुस्तकों के पीछे पागल रहनेवाले आदमी हैं। सुनने में आया, गुरुदत्त ने बहुत सारी फिल्में बनायी हैं, व्यावसायिक दृष्टि से उन्हें काफी सफलता प्राप्त हुई है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि तीन-तीन दिन तक दाढ़ी ही नहीं बनाते, हालांकि स्टूडियो में वेतनभोगी नाई है। लुंगी और मोटे कपड़े का एक कुरता पहन स्टूडियो पहुँच जाते हैं। कुरते की जेब में कानी कौड़ी तक नहीं रहती, सब कुछ चपरासी के झोले में रहता है। चपरासी के झोले में क्या रहता है और क्या नहीं, इसका पता गुरुदत्त को भी नहीं रहता। दो दिन के दरमियान ही मैंने सारा कुछ गौर से देख लिया। हर रोज तीन-चार बजे तक अड्डेबाजी चलने लगी। अड्डेबाजी का केन्द्र साहित्य ही रहता था। इतने दिनों के बाद मन के लायक अड्डेबाज आदमी को पाकर मुझे बेहद प्रसन्नता हुई।

तीसरे दिन बहुत काटने-छाँटने के बाद अनुबन्ध-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिया।

मैंने कहा, "अब चलूं।"

गुरुदत्त बोले, "और एक दिन रुक जाइये, कल पत्रकार आयेंगे। प्रेस-कान्फ्रेंस बुलाया है। उसके बाद चले जाइएगा।"

प्रेस-कान्फ्रेन्स हुआ। मुझे तरह-तरह के प्रश्नों का उत्तर देना पड़ा। उसके बाद हम दोनों की एक साथ तसवीर ली गयी।

दूसरे दिन मैंने कहा, "अब मुझे जाने दीजिये।"

गुरुदत्त बोले, "आप ही इसकी पटकथा लिख दें विमल बाबू।"

"मैंने उपन्यास लिखना शुरू कर दिया है।" मैंने कहा।

गुरुदत्त बोले,"इसमें हर्ज ही क्या है ? उपन्यास लिखने से पटकथा क्या नहीं लिखी जा सकती है ?"

"लिखी जा सकती है" मैंने कहा, "लेकिन यह 'कड़ी दिये बिन लाम' उपन्यास मेरे लिए एक चुनौती है। पटकथा लिखने से इस पुस्तक के लिखने का काम आगे नहीं बढ़ पायेगा।"

यह कहकर मैंने उन्हें समस्त आनुपूर्वी घटना के बारे में कहा। चुनौती क्यों है, इसके बारे में भी बताया। बंगाल में जन्म ले लोकप्रिय उपन्यास लिखना कितने पाप का काम है, यह भी बताया। उसके बाद कहा, "मेरा मित्र नवेन्दु घोष यहीं रहता है, वह भी पटकथा लिखता है, उसीसे लिखा लें।"

दूसरे दिन नवेन्दु घोष को बुलाया गया। उसके जाने के बाद गुरुदत्त बोले, "विमल बाबू, आप इस पुस्तक के लेखक हैं। लेखक के रहते दूसरे से क्यों लिखाने जाऊं ? इससे तो अच्छा यही है कि आप कलकत्ता चले जाइये। सात दिन के बाद चले आइये, हम दोनों शहर छोड़ लोनावाला की पहाड़ पर चले जायेंगे और वहीं एकान्त में पटकथा लिखेंगे।"

मैंने कहा, "सवेरे से दोपहर दो बजे तक अगर आप मुझे अपना उपन्यास लिखने का वक्त दें तो फिर जितनी रात तक कहें पटकथा लिख सकता हूँ।"

यही तय पाया। मैं चला आया। सात दिन के बाद पुनः बंबई रवाना हो गया। देश पत्रिका के सागरमय घोष ने कहा, "आप चिन्ता नहीं करें। वहाँ हम लोगों का दफ्तर है, वहीं से आपके उपन्यास की किस्त लाने की व्यवस्था करा लेंगे।"

बंबई जाने पर देखा, मेरे लिए एक सहायक की नियुक्ति की गयी है। मैं कहता जाऊँगा और वह लिखता जायेगा।

बंबई से नब्बे मील दूर पहाड़ी पर एक बंगला। वहीं जाकर ठहरा। दो-दो खानसामा, एक बावर्ची, एक गैर बंगाली महिला स्टेनोग्राफर और एक हिन्दी संवाद लेखक वहाँ पहुँच गये। सोचा था, एकान्त मे लिखूंगा, लेकिन यह क्या हुआ!

मैं भयभीत हो उठा। इतनी भीड़ में अपने उपन्यास की किस्त और पटकथा कैसे लिखूंगा? इसके पहले जितनी बार पटकथा लिखी है, एकान्त स्थान में ही लिखी है। लेकिन यह तो मेला लग गया है!

कुछ ही दिनों के दरमियान अपरिचय का संकोच दूर हो गया। मेरे 'कड़ी दिये किन लाम' उपन्यास के लिए जब लाखो लोग टकटकी लगाये बैठे थे तो मैं सबेरे तल्लीन होकर उपन्यास लिखता था। दोपहर के समय सबके साथ 'साहब बीबी गुलाम' की पटकथा लिखने बैठ जाता था। सवेरे 'दीपंकर', 'सती' 'लक्ष्मी' वगैरह रहते थे—और तीसरे पहर के बाद 'भूतनाथ', 'पटेश्वरी' वगैरह। एक बारगी विरोधी चिन्तन की रस्साकशी चल रही थी।

गरमी का समय था, अप्रैल का महीना। गुरुदत्त से विचार-विमर्श करता था, तब लिखता था। मैं एक-एक दृश्य लिखता जाता था और स्टेनोग्राफर महिला उसे टाइप करती जाती थी। संवादो का अंग्रेजी मे अनुवाद किया जा रहा था। हिन्दी संवाद-लेखक अबरर अल भी उसका हिन्दी मे अनुवाद करते जा रहे थे। बंगला के लिए आदमी नियुक्त था ही। वह मेरा डिक्टेशन लेता था।

समय कैसे बीतता जाता, समझ नही पाता था। काम करते-करते जब नशा धर दबाता तो दृश्य बिना समाप्त किये उठ नहीं पाता था। बहुत सी-पटकथाएँ लिखने के बाद यह समझ गया कि पटकथा मे कथा के केन्द्र को ठीक रखना पड़ता है। उपन्यास में जिस तरह इस बात पर ध्यान रखना पड़ता है कि राजा से प्रजा बड़ी न हो जाये, उसी तरह पटकथा में भी इस बात पर ध्यान रखना पडता है कि ठीक इसका सन्तुलन कहीं गडबडा न जाये। जिस प्रकार उपन्यास मे इस बात पर ध्यान रखना पड़ता है कि किस दृश्य के बाद कौन-सा दृश्य रहेगा, पटकथा में भी उसी नियम का पालन करना पड़ता है। अन्तर बस एक ही है। वह यह कि पटकथा मे चिन्तन की कोई गुंजाइश नहीं रहती। कहानी के प्रयोजन के निमित्त यदि चिन्तन की जरूरत पड़े तो उसके लिए कैमरा है। कैमरा से वह काम नहीं होता है तो स्वर है या फिर म्युजिक। उनसे भी अगर उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती है तो फिर संवाद है। अच्छे पटकथा-लेखक संवाद की सहायता लेने के बजाय अधिकांशतः कार्य-व्यापार (एक्शन) की सहायता लेते हैं। कुल मिलाकर पटकथा की असली चीज है नाटक। उसके बाद चित्रों का स्थान है।

काम करते-करतेमुझे लगा, गुरुदत्त यदि सिनेमा के क्षेत्र की ओर न जाते तो वह एक अच्छे कहानीकार हो सकते थे। लेकिन अपने चरित्र की एक विशेषता के कारण ही वैसा नहीं हो सके या फिर कह सकते हैं कि उन्होंने वैसा होना नहीं चाहा। इसे आप अच्छा या बुरा जो कह लें, गुरुदत्त एक ही स्थान पर अधिक देर तक चुपचाप बैठे नहीं रह सकते थे। अचानक अगर झमाझम पानी बरसना शुरू हो जाये तो उस समय उन्हें चुपचाप कमरे के अन्दर बिठाकर रखना मुश्किल हो जाता था। उस समय वह हम लोगों का काम रुकवा कर कहते, "चलिये, बाहर निकल पड़ें।"

उस झमाझम बारिश में ही वह गाडी चलाते हुए हमें अपने साथ लेकर लापता हो जाते थे। उस बारिश मे ही किसी घर की चाल के नीचे खड़े हो फरही खाने लगते थे। ऐसे आदमी को साथ ले एक महीने में काम खत्म करना मुश्किल की बात है। हर वक्त बच्चे की तरह छटपटाते रहते थे। जब पटकथा लेकर सोचने लगते थे तो कितनी तल्लीनता मे डूब जाते थे। लेकिन वह तल्लीनता अधिक देर तक टिक नहीं पाती थी। पटकथा की गति रुक जाती है तो वह उपन्यास लिखने जैसा ही कठिन काम हो जाता है। उस समय सोचते-सोचते नसें तन जाती हैं, परन्तु कोई समाधान नहीं मिलता। इस तरह की घटनाएँ मेरे जीवन मे बहुत बार घट चुकी हैं। उपन्यास-लेखक को अकेले ही उस समस्या का समाधान खोजना पड़ता है। लेकिन पटकथा-लेखक के साथ यही सुविधा है कि वह निर्देशक से विचार-विमर्श कर सकता है।

इन मामलों मे गुरुदत्त बेहद असहिष्णु थे।

एक दिन इसी तरह की बात हुई। एक दृश्य की उलझन किसी भी तरह सुलझ नहीं रही थी। मैं जितनी ही बार उसका समाधान बताता, गुरुदत्त कहते, "नहीं, पसन्द नहीं आ रहा है।" गुरुदत्त भी जो-जो समाधान बताते, मैं कहता, "नहीं, पसन्द नहीं आ रहा है।"

उस समय गुरुदत्त बोले, "यहाँ घर मे बैठकर समाधान नहीं मिलेगा। चलिये, कहीं बाहर निकल चलें।"

कहीं का मतलब है किसी नदी के किनारे या किसी मैदान मे या खुले नीले आकाश के नीचे या फिर किसी होटल का कमरा किराये पर लेकर दिन बिता दें। कहानी का उलझाव जब किसी भी हालत मे नहीं सुलझता तो फिर हम मछली पकड़ने लेक चले जाते।

एक बार मुझसे कहा, "कश्मीर चलिएगा ?"

मैं अवाक् हो जाता। मानो कश्मीर जाने से कहानी का उलझाव दूर हो जायेगा। पटकथा लिखते-लिखते मैंने किसी और को इतना अस्थिर होते नहीं देखा है। वे अन्तर मे कलाकार थे। रात के कभी एक, कभी दो, कभी तीन और कभी चार बज जाते लेकिन उस तरफ ध्यान ही नहीं रहता। उस समय भी केवल कहानी की चिन्ता लगी रहती थी। नाटक की बेहद जानकारी थी।

जिस दिन पटकथा समाप्त हुई, गुरुदत्त ने कहा, "जीवन में यह पहली बार पूरी

पटकथा के साथ फिल्म शुरू करने जा रहा हूँ। देखें, क्या होता है।"

इसके पहले पटकथा-लेखन का कार्य थोड़ा-थोड़ा चलता रहता था और साथ ही साथ शूटिंग भी चलती रहती थी। सुनने मे आया, बंबई की फिल्मी दुनिया का यही नियम है।

फिल्म जब खत्म होने-होने पर थी उस समय हर जगह के वितरक फिल्म का नमूना देखने पहुँचे। फिल्म के थोड़े से अंश को देखकर सबका चेहरा लटक गया।

बोले, "फिल्म मे नाच कहाँ है ?"

उन्हे इस बात पर आश्चर्य हुआ कि नाच न रहेगा तो फिल्म कैसी लगेगी।

गुरुदत्त बोले, "कहानी की नायिका नाचना नहीं जानती। नाच क्यो दूँ ?"

उन्होंने कहा, "कहानी की नायिका भले ही नाचना न जानती हो मगर वहीदा रहमान को आपने फिल्म मे लिया मगर उसे नचवाया नही ?"

गुरुदत्त बोले, "इन लोगों की बात सुन रहे हैं न। मैं हिन्दी फिल्म को जितना ही लॉजिकल बनाना चाहता हूँ वे लोग उतना ही शोर मचाते हैं। इन्हीं लोगों के कारण हिन्दी फिल्मों की आज यह हालत है।"

एक दिन गुरुदत्त ने कहा था, "जानते हैं, मेरे वितरक क्या कहते हैं ? कहते हैं— Don't give logic in your picture, logic is a s'ow process,give some convincing none-sense *

मैंने भी एक दिन फिल्म को प्रोजेक्शन मे देखा। सबने देखा एक जगह नायिका एक अजीब अंग-भंगिमा के साथ गाती हुई दिखायी पड़ रही है।

मुझे हैरानी हुई। पटकथा में यह गीत नहीं था। यह गीत कहाँ से आया ?

वहीदा रहमान ने कहा, "इस सीन को काट दें गुरुजी, मुझे बहुत शर्म महसूस होती है।"

गुरुदत्त बोले, "तुम्हें भले ही शर्म महसूस हो, टिकट घर को ओर भी मुझे निगाह रखनी ही पड़ेगी। डिस्ट्रिब्यूटरो के स्वार्थ पर ध्यान देना ही होगा।"

फिल्म बनने का काम खत्म हो गया।

इसके बाद एक और मुसीबत आयी। बंबई से एक दिन बुलाहट आयी। फिल्म का प्रथम प्रिमियर था।

फिल्म शहर के एक नामी सिनेमा घर मे शुरू हुई। समय पर खत्म भी हुई। जब खत्म हुई तो रात के बारह बज रहे थे। सभी के चेहरे पर गंभीरता छायी हुई थी। कोई किसी से बातचीत नहीं कर रहा था। गाड़ी थी के० आसिफ के घर मे पहुँची। उस समय वे लोग भी फिल्म देखकर लौट चुके थे। उनके चेहरे पर भी गंभीरता तैर रही थी। यह फिल्म नहीं चलेगी। जिन लोगों ने इस फिल्म मे पैसे लगाये हैं, उन्हे नुकसान उठाना होगा।

* अपने चलचित्र में तर्कशीलता नहीं दीजिये, तर्कशीलता एक स्लथ प्रक्रिया है। कुछ विश्वासप्रद लगनेवाली अर्थहीन चीजें दीजिये।

बहुत देर तक सलाह-मशविरा चलता रहा। के० आसिफ ने कहा, "एक काम करो गुरु, अन्त में मिलन दिखा दो। ट्रैजडी के बदले कॉमडी बना दो।"

"किनका मिलन ?"

"पति-पत्नी का मिलन। अब भी समय है। पटकथा बदल दो। फिर से शूटिंग करो।"

"शूटिंग किस चीज की करूँ ?"

अन्त इस तरह करो। छोटी बहू ने शराब पीना छोड़ दिया और उसकी सेहत मे सुधार आ गया। छोटे बाबू और छोटी बहू में मिलन हो गया। वे लोग सुख से घर-गृहस्थी चलाने लगे।"

यह बात सबको युक्तिसंगत प्रतीत हुई। हाँ, आसिफ साहब ने ठीक ही कहा है। पहले आर्ट है या पैसा।

इस पर बहुत देर तक तर्क-वितर्क चलता रहा। अन्त मे जब रात के तीन बजे तो हम पाली हिल स्थित गुरुदत्त के घर पर चले आये। रात मे विश्राम करना है मगर मस्तिष्क मे जब उद्वेग है तो कहीं नींद आ सकती है ? भोर होते न होते हम बिस्तर छोड़कर उठ बैठे।

गुरुदत्त ने मुझसे कहा, "क्या करना चाहिए विमल बाबू ? आपकी क्या राय है ?"

मैंने कहा, आपको पैसे का नुकसान उठाना पड़े, मैं यह नहीं चाहता। मेरे 'साहब बीबी गुलाम' की कहानी का प्रवेश हर घर मे हो चुका है, आपकी फिल्म की कहानी चाहे जो रहे, मेरी पुस्तक की कोई हानि नहीं होगी—इसकी कहानी हिन्दुस्तान की हर मापामापी की जुबान पर है, अतः आप जो कुछ चाहे, बदल सकते हैं, मुझे कोई आपत्ति नहीं है। बदनामी होने को होगी तो आपकी ही होगी।"

गुरुदत्त बोले, "फिर आप आखिरी सीन की पटकथा नये सिरे मे लिख डालिये।"

मैं भी तैयार हो गया। अबरर अल की बुलाहट हुई। हम पुनः कागज कलम लेकर बैठ गये। तय पाया कि कहानी के अन्त मे छोटे बाबू और छोटी बहू से मिलन होगा।

गुरुदत्त कमरे मे सोने चले गये।

मैं कागज-कलम ले लिखने गया। मगर लिखूँ क्या ? मैं अपने गढ़े हुए चरित्र की इस तरह हत्या करूँगा ? इतनी-इतनी रात का जागरण, इतने-इतने गाली-गलौज, इतनी प्रशंसा, इतनी सफलता, इतने अभिसंपात के बाद मुझे अपनी ही हत्या करनी है ? जिस कहानी को लिखने मे चौदह वर्ष का अरसा लगा है, जरा-सा कलम से छूकर उसे नष्ट कर दूँ ? इसीका नाम क्या सिनेमा है, इसीका नाम क्या हिन्दी सिनेमा है ?

मैंने मुड़कर देखा, अबरर अलमी थकावट मे चूर हो मेरे बिस्तरे पर सो गया है।

मैं उस समय कागज-कलम लिये हतप्रभ बैठा था। कलम चलने का नाम नहीं ले रही थी।

अचानक गुरुदत्त ने व्यस्तता के साथ कमरे के अन्दर प्रवेश किया। अबरर अलमी

गुरुदत्त की आवाज सुन उठकर बैठ गया।

गुरुदत्त बोले, "नहीं विमल बाबू, मैं उसमें परिवर्तन नहीं लाऊँगा। फिल्म जैसी है वैसी ही रहेगी। आसिफ चाहे जो कहे, फिल्म मे अगर नुकसान होगा तो हो, भले ही दिवालिया क्यों न हो जाऊँ, फिर भी फिल्म जैसी है वैसी ही रहेगी। अगर बदलना ही था तो 'साहब बीबी गुलाम' की कहानी पर मैं फिल्म बनाने क्यों गया? दूसरी कहानी पर बना सकता था। वह जैसी है वैसी ही रहेगी।"

आने के दिन गुरुदत्त ने कहा, "विमल बाबू, जाने के दिन आपसे एक अनुरोध कर रहा हूँ, आप अपने जीवन मे पुनः कभी सिनेमा की कहानी न लिखें।"

"क्यो?" मैंने पूछा, आप ऐसा क्यों कह रहे हैं? मैं क्या सिनेमा के लिए कहानी लिखता हूँ?"

गुरुदत्त ने कहा, "नहीं, मैं इस वजह से आपसे नहीं कह रहा हूँ। आपकी कलम सिनेमा की कहानी लिखने के लिए नहीं है, आपकी कलम उपन्यास लिखने के लिए है। सिनेमा की कहानी लिखने से आपकी कलम खराब हो जायेगी।"

इस बात के एक आदमी साक्षी थे। वह गुरुदत्त की पत्नी गीता दत्त थीं। आज वह भी जिन्दा नहीं है। रहती तो गवाही दे सकती थी।

यह बात सुनने पर लगा, गुरुदत्त अपनी सफलता पर बेहद खुश हैं।

इस बीच मेरी एक और कहानी पर फिल्म बन चुकी हैं। 'बनारसी' मेरी एक ऐसी एकमात्र कहानी है जिसकी फिल्म की पटकथा मैंने नहीं लिखी है या यों कह सकते हैं कि निर्देशक ने मेरे साथ कोई विचार-विमर्श नहीं किया था। शायद विचार-विमर्श करने की आवश्यकता महसूस नहीं की थी।

मैंने जान-बूझकर अनुबन्ध में ऐसी कोई शर्त नहीं रखी थी।

इसके अतिरिक्त मैंने रवीन्द्रनाथ की कहानी 'कंकाल' की पटकथा लिखी थी। विश्वभारती के चारु भट्टाचार्य के विशेष अनुरोध पर मुझे वह पटकथा लिखनी पड़ी थी। क्योकि इसके पूर्व जिसने पटकथा लिखी थी, विश्वभारती के पदाधिकारियों को उसकी पटकथा पसन्द नहीं आयी थी और इसका भार मेरे ऊपर थोप दिया गया था।

१९६५ ई० में 'गुलमोहर' रिलीज हुआ। इसमें भी शिल्प की वैसी ही गड़बड़ी हो गयी, जैसा कि 'तानसेन' के साथ हुआ था।

अब मेरी कहानी 'स्त्री' पर फिल्म बनी है। 'स्त्री' फिल्म बनने के पीछे एक कारण का हाथ रहा है। उत्तम कुमार बहुत दिनों से 'कड़ी दिये किन लाम' उपन्यास पर फिल्म बनाना चाहते थे।

एक विशेष कारणवश मैं उनके अनुरोध की रक्षा नहीं कर सका था। मैंने उन्हें विनम्रता के साथ सूचित किया था कि वह एक बहुत मोटी पुस्तक है। अब भी लोगों ने इसे पढ़ा नहीं है। फिल्म बन जायेगी तो लोग पचहत्तर पैसे की टिकट कटा ढाई घंटे में कहानी से परिचित हो जायेंगे और पुस्तक पढ़ने के आनन्द से वंचित ही रह जायेंगे। इस वजह से मैं घाटे मे रहूँगा। 'साहब बीबी गुलाम' पर फिल्म बन जाने से

मुझे विश्वास है

पाठक और मैं दोनों ही घाटे में रहे हैं। अगर लाभ हुआ है तो फिल्म निर्माता को ही। उस बार मैंने जैसी गलती की है उसे दुहराऊँगा नहीं। अन्ततः उन्होंने 'स्त्री' कहानी के लिए अनुरोध किया।

एक और 'पटकथा' से जुड़े रहने के बाद अब मैं मुक्त हो गया हूँ। वह फिल्म अभी तक रिलीज नहीं हुई है। उसका नाम है—दोष पृष्ठाय देखून (आखिरी पन्ने पर देखिये)। उस उपन्यास का लेखक मैं ही हूँ। इसकी कहानी पर पटकथा लिखना कितना दुरूह कार्य था, यह मैं ही समझता हूँ। फिल्म आर्थिक दृष्टि से सफल रहे तथा रसिक श्रोताओं से इसे प्रशंसा भी मिले—इन दोनों का समन्वय करना क्या आसान काम है ? एक क्लासिक उपन्यास लिखकर उसे लोकप्रिय बनाने जैसा ही यह दुःसाध्य कार्य है। इन दो कहानियों की पटकथा लिखने के संबंध में मैं बहुत कुछ कहना चाहता था, लेकिन नहीं, यहीं अन्त करना ठीक रहेगा। निबंध यों भी खासा लंबा हो गया है।

●

मैं लेखक नहीं हूँ

[प्रस्तुत निबन्ध विमल मित्र ने दिल्ली की कालीबाड़ी के पूजा के अवसर पर लिखा थ ।—अनु०]

दिल्ली के कालीवाडी के मित्रगण हर वर्ष दुर्गापूजा के उपलक्ष्य पर मुझे निमंत्रित करते हैं और अपनी वार्षिक स्मारिका के लिए रचना की मांग करते हैं। हर वर्ष मुझे भी इच्छा होती है कि दिल्ली जाऊँ या फिर कोई एक विशिष्ट मौलिक रचना उनकी पत्रिका मे भेजूं। लेकिन मेरा वह संकल्प हर वर्ष संकल्प ही बन कर रह जाता है, उसे कार्य रूप मे परिणत नही कर पाता हूँ। यहाँ तक कि उनके पत्र का उत्तर देना भी संभव नहीं हो पाता है।

पत्र का उत्तर न देना एक अक्षम्य अपराध है, यह बात अन्य लोगो की तरह मैं भी महसूस करता हूँ। लेकिन हर रोज मैं यही अपराध करता हूँ और मन ही मन इसके लिए अनुताप भी करता हूँ। ऐसा अपराध क्यो करता हूँ, दूर रहने वाले मित्रो को यह बात समझाने का मौका नहीं मिलता है। फलस्वरूप वे लोग मन ही मन मुझ पर दोषारोपण करते है। हो सकता है, वे मुझे अहंकारी या अर्थ लोभी भी समझते हो।

दुनिया मे आलसी किस्म के कुछ आदमी होते हैं। मैं भी उसी कोटि का मनुष्य हूँ। उन आलसियों मे भी एक परले दर्जे का आलसी होता है, इसकी खोज संभवतः मेरे पिता ने ही पहले पहल की थी।

मेरे पिताजी कितने बडे दूर द्रष्टा थे, यह सोच कर आज भी मैं हैरत मे आ जाता हूँ। क्योकि पिताजी की प्रत्येक भविष्य वाणी आज अक्षरतः सत्य साबित हो गयी है।

पिताजी मुझसे कहते थे, "इतना दब्बू बन कर रहोगे तो जीवन मे उन्नति कैसे करोगे ?"

मैं उन्नति करना नहीं चाहता, यह बात पिताजी को उस दिन समझा नहीं सका था। बाबूजी के 'उन्नति' शब्द का अर्थ था मोटी रकम की कोई नौकरी, कलकत्ते मे एक मकान और उनके साथ एक गाड़ी का होना। उन्नति का जो सबसे बडा लक्षण है, यह है मोटी रकम का एक बैंक बैलेन्स। इस तरह की उन्नति न करना बाबूजी की दृष्टि में एक बहुत बड़ा अपराध था। यह बात सिर्फ मेरे व पिताजी ही नहीं चाहते थे, दुनिया के तमाम लोगों के पिता इसी किस्म की उन्नति देखना चाहते हैं।

मेरे पिताजी आज जीवित नहीं हैं। जीवित होते तो मेरी यह परिणिति देखकर उनके मन मे काफी दुख पहुँचता। क्योंकि वास्तव मे मैं उन्नति नहीं कर सका हूँ।

शुरू में उनकी इच्छा थी कि मैं विलायत जाकर बैरिस्टरी पास कर आऊँ। उनका एक पुत्र डॉक्टर था, दूसरा इंजीनियर, सबसे छोटा बैरिस्टर बने। यह बात लोगों से कहने मे अच्छा लगता है, सुनने मे भी अच्छा लगता है। लेकिन मैंने उनकी पहली उम्मीद पर पानी फेर दिया था। क्योंकि मैंने उस दिन स्पष्ट शब्दों मे उन्हे जता दिया

था कि वकील-मुख्तार-बैरिस्टर का काम ही झूठ बोलना है। अतः मुझ से यह काम नहीं होगा। पिताजी मेरी बात सुन कर चुप हो गये थे, हताश, क्षोभ और दुःख से उदास हो गये थे। उसके बाद उन्होंने कहा था, "फिर तुम चार्टर्ड एकाउन्टेन्सी पढ़ो, सुना है, इस लाइन में बहुत पैसा मिलता है।"

पिताजी वस्तुतः मेरे शुभाकांक्षी थे। इसलिए उन्हें भी दोष नहीं दिया जा सकता है। क्योंकि पैसा ही दुनिया में बड़े होने का सबसे बड़ा मानदंड है, यह बात वह अन्य सभी पिताओं की तरह भली-भांति समझते थे। मैंने जब बताया कि यह लाइन भी गणित के कौशल से टैक्स मे धोखाधड़ी करने के तरीके की तालीम सीखने का कारोबार है तो वह मन ही मन बहुत झुंझला उठे थे।

उन्होंने कहा था, "फिर तुम बड़े होकर क्या करोगे ?"

मैंने कहा था, "मैं बंगला मे एम० ए० करूंगा।"

"बंगला मे एम० ए० पास कर क्या करोगे ? स्कूल मास्टरी ?"

"नहीं", मैंने कहा, "मैं लेखक बनूंगा।"

पिताजी ने कहा था, "लेखक बनोगे, इसका मतलब ? लेखक बनने पर भी तुम्हें एक बँधी-बँधायी तनख्वाह वाली नौकरी करनी होगी।"

मैंने कहा था, "नहीं। लेखक का मतलब लेखक है। होल टाइम का लेखक सेंट परसेन्ट लेखक। मैं नौकरी करने वाला पार्ट टाइम का गुलाम लेखक होना नहीं चाहता।"

मेरी बात सुन पिताजी जैसे आसमान से नीचे गिर पड़े थे। "लिखने से ही क्या लेखक के पास पैसा चला आता है ? लेखन-कार्य से किसी ने पैसा कमाया है ? शरत चटर्जी का बैंक में कितना पैसा था ? माइकेल मधुसूदन तो पैसे के अभाव में अस्पताल मे मौत के शिकार हो गये थे, यह जानते हो ?"

उस दिन मैं पिताजी के मुंह के सामने उनकी बात का कोई उत्तर नहीं दे सका था। यह कह नहीं सका था कि बैंक के पैसे की संख्या देख कर मैं मनुष्य का विवेचन नहीं करता हूं। बैंक में तो बहुत सारे लोगों का पैसा रहता है। उनमें से क्या सभी मनुष्य हैं ? और अस्पताल में मरने की बात ? मरना तो एक दिन है ही, अतः अस्पताल मे बिना चिकित्सा के मरने के बजाय घर पर डॉक्टर की दवा खाकर मरने की यातना क्या कुछ कम है ?

आज इतने दिनो के बाद पुराने दिनो की उन बातों को सोच रहा हूं। सचमुच मेरे पिताजी दूरद्रष्टा थे।

पिताजी अपने सुझाव को जोरदार बनाने के उद्देश्य से प्रायः कहा करते थे, "संसार मे बड़ा बनने के लिए अपना ढोल अपने से ही पीटना पड़ता है। कोई बात असत्य हो तो भी वैसी ही बात कहनी पड़ती है जो सबको प्रिय लगे, दस आदमी से मिल-जुलकर एक दल का संगठन करना पड़ता है, तभी आदमी बड़ा होता है। दब्बू होकर तुम यह

सब कैसे करोगे ? तुम कहते हो लेखक बनोगे, लेकिन उस लाइन मे भी जरूर ही दलबन्दी का बोलबाला है। तुम्हें संपादक से घनिष्ठता बढानी होगी, प्रकाशक के दरवाजे पर धरना देना होगा, जो लोग पुरस्कार देते हैं उनके घर पर जाकर उनकी स्तुति करनी होगी—बिना तदबीर के नोबेल प्राइज भी नहीं मिलता। तुम्हारे जैसा दब्बू आदमी यह सब कर सकेगा ?"

मैंने कहा था, "मैं यह सब नहीं चाहता। मैं सिर्फ अपने घर पर बैठकर लिखा करूँगा।"

पिता जी ने कहा था, "फिर तुम कुछ भी नहीं कर पाओगे।"

पता नहीं, दिल्ली के मित्रों को मालूम है या नहीं, अगर नहीं मालूम है तो उनके सूचनार्थ निवेदन कर दूँ कि सचमुच मैं कुछ भी नहीं कर सका। किसी दल में शामिल होने की स्वाभाविक दक्षता न रहने के कारण दलबन्दी की सुविधा से मुझे जिस तरह वंचित रहना पड़ा है, उसी तरह दल के बाहर रहने की असुविधा का भी पूर्ण मात्रा मे उपभोग करना पड़ा है। इससे हालांकि आत्माभिमान की बू आने की संभावना है, फिर भी इस बात की सूचना देना ठीक ही रहेगा कि पाठकों की माँग की पूर्ति करने पर लोकप्रियता का जो पथ प्रत्येक साहित्यकार के लिए उन्मुक्त होता है, अपनी प्रतिष्ठा या स्वार्थसिद्धि के लिए उस आसान पथ का मैंने चुनाव नहीं किया है। या इसे यों कह सकते हैं कि लोकप्रियता को बनाये रखने के निमित्त सत्य बोलने का मुखौटा धारण कर अप्रिय बोलने की जिम्मेदारी से मैंने कभी मुँह नहीं मोड़ा है।

एक बात और आज जो आधुनिक है, कल प्राचीन हो जायेगा। उसी तरह कल जो आधुनिक रहेगा, वह परसों प्राचीन हो जायेगा। लेकिन शाश्वत की दृष्टि से आधुनिक-प्राचीन की संज्ञा अर्थहीन है। शास्वत शब्द बड़ा ही गोलमटोल है। अत्यधिक उपयोग मे आने के कारण अब उसकी वास्तविक संज्ञा भोथरी हो गयी है। आधुनिक आकाश, आधुनिक समुद्र की तरह आधुनिक साहित्य जैसा शब्द भी कटहल और अमावट की तरह ही अवान्तर है। अगर इसे और भी सहज बना कर कहना चाहिए तो यही कहना होगा कि आधुनिक की बड़ाई जितनी गुणवाचक नहीं उससे अधिक कालवाचक है। जो वस्तु क्षणभंगुर है काल उसके लिए माथापच्ची नहीं करता। यही वजह है कि मैं अपने लेखन मे क्षणकाल के बजाय चिरकाल की वन्दना करता आया हूँ। गोकि चारों तरफ की पत्र-पत्रिकाओं मे मेरी इतनी अधिक रचनाएँ आपको दीख पड़ती हैं, इसका कारण यह नहीं कि मैं लेखक हूँ। उसका एक मात्र कारण यही है कि मेरी रचना प्रकाशित करने से पत्र-पत्रिकाओ की खपत में अभिवृद्धि होती है। खपत बढ़ने से ही उन्हें अर्थ की प्राप्ति होती है। प्रकाशकों के साथ भी यही बात है। प्रकाशक मेरी पुस्तक छापने के लिए जो इतनी छीना-झपटी करते हैं, इसका भी कारण यही है। मेरी पुस्तक छापने से प्रकाशकों के बैंक-बैलेन्स में वृद्धि होती है। यही वजह है कि सुदूर केरल, मैसूर, उड़ीसा, इलाहाबाद, बंबई, जयपुर और दिल्ली से प्रकाशक मेरे यहाँ आते हैं और आकर मेरी पुस्तकों का अपनी-अपनी भाषाओं में अनुवाद कराने

की अनुमति ले जाते हैं। उनका उद्देश्य एक मात्र पैसा कमाना ही रहता है। वे क्या मुझे लेखक के रूप मे स्वीकार करते हैं ?

अपने लेखकीय जीवन में इसीलिए मैं ही अपना सबसे बड़ा शत्रु हूँ और उस शत्रुता की सबसे बड़ी सहायक मेरी लोकप्रियता है। इतनी लोकप्रियता अगर मुझे नहीं प्राप्त हुई होती तो मैं लेखक की श्रेणी में आ जाता।

इसीलिए अब मैं सोचता हूँ, मेरे पिताजी ने यह जो कहा था कि मेरे जैसे दब्बू आदमी से कुछ नहीं हो पायेगा, सो उन्होंने ठीक ही कहा था। वास्तव मे मैं कुछ भी नहीं हो सका। तब हाँ, इसके लिए मुझे दुख भी नहीं है। क्योंकि जीवन में कुछ होना ही होगा, यह बेमानी जैसी बात है। आकाश का आकाश होना या समुद्र का समुद्र होना ही पर्याप्त है। चाहे मैं लेखक नहीं हो सका परन्तु मूलतः एक मनुष्य तो हूँ। मनुष्य होना ही मेरे लिए पर्याप्त था। क्योंकि तरलता सहज ही तरलता हो जाती है, पशु-पक्षी सहज ही पशु-पक्षी हो जाते हैं लेकिन मनुष्य को मनुष्य बनने के लिए अगनित दुख और यातना सहनी पड़ती है, अनेक साधना और तपस्या करनी पड़ती है। मैं क्या वैसा मनुष्य हो सका हूँ।

●

तेरह वर्ष की सालतमामी

[प्रस्तुत निवन्ध खरीदी कौड़ियों के मोल उपन्यास के त्रयोदश बंगला संस्करण की भूमिका के तौर पर लिखा गया था। रचनाकार विमल मित्र की रचना प्रक्रिया की इसमें एक स्पष्ट झाँकी मिलती है।—अनुवादक]

आज से तेरह वर्ष पूर्व 'कड़ी दिये किनलाम' (खरीदी कौड़ियों के मोल) पहले-पहल प्रकाशित हुआ था। अब त्रयोदश संस्करण के प्रकाशन के उपलक्ष्य में इस उपन्यास के संबंध में कुछ वक्तव्य देने की अनिवार्यता महसूस कर रहा हूँ। किसी पुस्तक की संस्करण-संख्या से उसके गुण-अवगुण का विवेचन करना अन्याय का ही सूचक है। लेकिन फिर भी इसकी भूमिका इसलिए लिख रहा हूँ कि तेरह वर्षों से मैं इस उपन्यास के संबंध में इतनी प्रशंसा, स्तुति सुनता आ रहा हूँ, इतने अप्रचार और तीखे अनुभव का शिकार होता रहा हूँ कि यहाँ यदि इसे लिपिबद्ध न करूँ तो आनेवाली पीढ़ी इन बातों से चिरकाल के लिए अनजान ही रह जायेगी।

मॉडर्न लाइब्रेरी से प्रकाशित दास्तोव्स्की के 'ब्रदर्स कारमाजॉव' की भूमिका में इसके संपादक ने एक महत्वपूर्ण बात कही है—"The last and crowning work of Dostoyevsky's life, the Brothers Karmazov, first appeared as a serial in 'Russky Vistinik', a Moscow magazine, during 1879-1880 written under severe external and internal pressure, each instalment created a national furore comparable only to the excitement stirred by the appearance, in 1866 of Crime and Punishment."*

'कड़ी दिये किनलाम' के संबंध में भी यही बात प्रयोजनीय है। १९६० के पहली जनवरी से तीन फरवरी १९६२ ई० तक एक सौ सात लंबी किस्तों से साप्ताहिक 'देश' में इस उपन्यास के प्रकाशन के समय जो शोर-शराबा मचा था, उसकी तुलना एक मात्र १९५२ के नवंबर से १९५३ के सितम्बर तक धारावाही रूप में प्रकाशित 'साहब बीबी गुलाम' उपन्यास से की जा सकती है। उस समय मुझे जिस मानसिक यातना, शत्रुता और बाह्य अड़चनों के दबाव ने परेशान करने की चेष्टा की थी उसका साक्षी कोई नहीं है। 'देश' पत्रिका के कार्यालय में उन दिनों जो सब पत्र आते थे वे किसी भी लेखक को परेशान करने के लिए काफी थे। फिर भी मुझे लगता है,

* दोस्तोव्स्की के जीवन की अन्तिम और सर्वोच्च कृति 'ब्रदर्स कारमाजाव', जिसका प्रणयन तीव्र बाह्य और आन्तरिक दबाव के कारण हुआ था, शुरू में मास्को की एक पत्रिका 'रस्की विस्तनिक' में १८७९-८० के दौरान धारावाही रूप में प्रकाशित हुआ। प्रत्येक किस्त ने एक ऐसी राष्ट्रव्यापी हलचल की सृष्टि कर दी जिसकी तुलना एक मात्र १८६६ में प्रकाशित 'क्राइम एण्ड पनिशमेन्ट' से ही हो सकती है।

अनुकूल वातावरण के बजाय प्रतिकूल वातावरण ही संभवतः मेरी एकाग्रता में तीव्रता लाता है। दोनों उपन्यास के प्रकाशन-काल में जब 'देश' पत्रिका की माँग करनेवालों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगी तो पाठकों की ओर से मेरे पास इस आशय के पत्र आने लगे कि इस उपन्यास का सिलसिला कभी बन्द न हो। यानी उनके 'अच्छा लगने' का कभी अन्त न हो। पुस्तक जब धारावाही प्रकाशित हो रही थी तो विभिन्न भाषाओं में अनुवादित करने की अनुमति के लिए मेरे पास पत्र आने लगे। हिन्दुस्तान के बाहर पाकिस्तान में उर्दू भाषा के श्रेष्ठ त्रैमासिक 'नकूश' तथा हिन्दुस्तान की मलयायम भाषा के केरल के 'जनयुगम' साप्ताहिक में इसका धारावाही प्रकाशन होने लगा। हिन्दी में इस पुस्तक का प्रकाशन दिल्ली से हुआ और प्रकाशित होते ही इसने बहुत बड़ी हलचल मचा दी। उन दिनों किसी भाषा के लिए किसी उपन्यास का मूल्य बयालीस रुपया पचास पैसा होना बहुत अधिक समझा जाता था। लेकिन ऐसा होने के बावजूद हिन्दी भाषाभाषियों ने इस पुस्तक का पर्याप्त स्वागत किया। याद है, उस समय बहुत से अपरिचित पाठक मेरे घर पर आते थे और इसका पता लगाते थे कि मैं दिन-रात के चौबीस घण्टे के दरमियान कभी सोता हूँ या नहीं। इस प्रकार की पुस्तक का जब प्रकाशन हुआ तो आम पाठकों के मन में अनन्त कौतूहल के साथ एक सवाल भी पैदा हुआ—वह यह कि व्यस्तता के इस युग में इस प्रकार का एपिक उपन्यास लिखना संभव कैसे हुआ? इसके प्रकाशक 'मित्र ओ घोष' ने पाठक के कौतूहल के निवारण के लिए एक विशेष पुस्तिका में मेरा एक निबंध प्रकाशित किया और उस पुस्तिका की दस हजार प्रतियाँ छाप कर पाठकों के बीच मुफ्त में वितरित कर दिया। आयतन की दृष्टि से यह उपन्यास किसी भी भारतीय भाषा में प्रकाशित उपन्यास से बड़ा है। बाद में इस उपन्यास के संबंध में डॉक्टर श्रीकुमार बंद्योपाध्याय ने अमृत बाजार पत्रिका के १९६४ ई० के पूजा-विशेषांक में 'रिसेन्ट ट्रेन्ड्स इन बंगाली लिटरेचर'* शीर्षक निबंध में लिखा था—"Bimal Mitra's encyclopaedic novel 'Karhi Diya Kinalam' (1962) sums up the complexities and unsolved riddles of modern life in a representative individual character and studies life against the background of an ever-widening environment. This is truly a novel with a third dimension that packs up the meaning of the lives of all classes of people and

* विमल मित्र का विश्वकोश जैसा उपन्यास 'कड़ी दिये किनलाम' (१९६२) आधुनिक जीवन की गुत्थी और पहेलियों को एक विशिष्ट चरित्र के माध्यम से प्रस्तुत करता है तथा निरन्तर विस्तृत होते परिवेश की पृष्ठभूमि में जीवन का पर्यवेक्षण करता है। यह सही अर्थों में एक तृतीय आयाम का उपन्यास है जो हर आदमी के जीवन को समेटे हुए है। यह एक ऐसा उपन्यास है जिसका बौद्धिक आकर्षण प्रथम अध्ययन में ही समाप्त नहीं हो जाता। इस उपन्यास के कारण कहा जा सकता है कि आधुनिक बंगला उपन्यास एक नये बोध का अन्तरिक्ष के विस्तार तक पहुँच गया है।

events of far-reaching magnitude into the life of a single individual... This is a book which has an intellectual appeal not exhausted at the first reading of the story. With this novel modern Bengal fiction may be said to have stepped into a new sense of life values or a new world of cosmic proportions...."

यह एक समालोचक की बात हैं। लेकिन इस संबंध मे मैं अब अपनी बात बताता हूँ कि क्यो और किस तरह मैंने यह उपन्यास लिखा। पति-पत्नी दोनों के जिन्दा रहने पर उनके विवाहित जीवन की सच्ची बात कहना जिस तरह खतरे से खाली नहीं है, लेखक के लिए अपनी रचना के विषय मे कुछ कहना उसी तरह खतरे से खाली नहीं है। लेखक के जीवन-काल मे इतना ही कहा जा सकता है कि उसकी रचना भली है या बुरी, लेकिन सच्चाई नहीं जाहिर की जा सकती है। आज तक साहित्येतिहास मे इस तरह की घटना नहीं घटी है। अतः मैं वैसी चेष्टा नहीं करूँगा। तब हाँ, 'कड़ी दिये किनलाम' लिखने के दौरान जो घटनाएँ घटित हुई हैं, उन्हें अब तेरह वर्षों के बाद कहना शायद कोई अन्याय नहीं होगा। मेरे न रहने पर कोई इसके लिए चेष्टा करेगा तो वह अनुमान ही माना जायेगा, कभी प्रामाणिक रूप मे स्वीकार नहीं किया जायेगा। इसीलिए मैं यहाँ इस ग्रंथ की रचना के उत्स एवं रचनाकालीन यातना तथा आनुषंगिक इतिवृत्त पर प्रकाश डाल रहा हूँ।

बहुत दिन पहले सत्रह सौ नौवासी ई० मे फ्रास में क्रान्ति हुई थी। उसकी स्मृति लोग तब भूलते जा रहे थे। १९१४ ई० के विश्वयुद्ध की बात उनके मन मे ताजी थी। लेकिन उस समय भी लोगों की दृष्टि में लुई द फोर्टिन्य और मैडम दु-बैरिरा दुनिया से अन्तर्धान नहीं हुए थे। उनमे से कोई इंगलैण्ड के सिंहासन पर बैठा था, कोई जर्मनी के सिंहासन पर, कोई अमरीका के सिंहासन पर और कोई फ्रांस के सिंहासन पर। लिबर्टी (स्वतंत्रता) इक्वलिटी (समानता) और फ्रेटेरनिटी (भाईचारा) की वाणी किसी के कान मे प्रवेश नहीं कर रही थी। किसी व्यक्ति ने कहा—That government is best which governs not at all * यह बात भी उस समय किसी के कान मे प्रवेश नहीं कर रही थी। देखते-देखते दुनिया के कुरुक्षेत्र में विश्वयुद्ध छिड़ गया और फिर एक दिन उसका अन्त भी हो गया। हजारों-लाखों मनुष्य की अपमृत्यु होने के बावजूद मनुष्य को अपनी पसन्द की सरकार प्राप्त नहीं हुई। मेहनतकश अपनी जंजीर तोड़ने मे सफल नहीं हो सके। हिन्दुस्तान के रुपये, इंगलैण्डके पौंड अमरीका के डॉलर, फ्रान्स के फ्रैंक, जर्मनी के मार्क, रूस के रूबल, इटली के लीरा, जापान के एन वगैरह को टैरिफ बोर्ड की चाबी ले सेफ डिपोजिट वोल्ट मे अटका कर रखने की चेष्टा चलने लगी। लेकिन कहीं भी हड़ताल का सिलसिला रुक नहीं रहा था, असंतोष दब नहीं रहा था। दिन-दिन विज्ञान और उद्योग छलांग मार कर

* वही सरकार सबसे उत्तम है जो शासन बिल्कुल नहीं करती।

आगे बढ़ते जा रहे थे और मनुष्य समाज स्थाणु की तरह हतप्रभ हो, एक ही स्थान पर खड़ा होकर वह सब देख रहा था और जिन्दा रहने के रास्ते की खोज में सिर धुन रहा था।

ठीक इसी समय एक नये नाम का आविर्भाव हुआ। वह दीपंकर था। उसका जन्म तो हुआ लेकिन उसके बाद ?

उसके बाद मैं अपनी बात बताता हूँ।

उसके बाद क्षण-क्षण अपमान, अत्याचार और अपमृत्यु के बीच से गुजर कर मैं बड़ा होने लगा। देखा, मेरे चारों ओर सिर्फ घृणा, लज्जा, कलंक और भय का बोलबाला है। मेरी दृष्टि अघोर नाना, चन्नूनी, लक्का, लोटन, खोटे-खोटे, दुनी काका तथा अनगिनत वैसे लोगों पर पड़ी जो न्याय-अन्याय पर माथापच्ची नहीं करते। जो सच्चाई, धर्म और सत्य को चुटकी में उड़ा देते हैं। जो एक ही फूंक में चिरकाल के सब कुछ को उड़ा कर बेहद आराम से जीवन जीना चाहते हैं। हालांकि उनके आस-पास ही मैंने प्राणनाथ बाबू, सती और दातार बाबू को भी देखा। और भी बहुत सारे लोगों के साथ सनातन बाबू को देखा। लेकिन मनुष्य के द्वारा लिखी पुस्तकों से उन लोगों का मूल्यांकन कर मैं मुश्किल में पड़ गया। १७८९ ई० के फ्रांस में भी एक दिन ठीक ऐसी ही हालत थी। अठारहवीं शताब्दी की उस दुनिया में यंत्र-सभ्यता के आविर्भाव के साथ-साथ वहाँ भी एक नयी सभ्यता की शुरुआत हो गयी थी। उस समय वहाँ की भी स्थिति ठीक ऐसी ही थी। वहाँ के भी अघोर नाना जैसे लोग देवता के नैवेद्य की चोरी कर यजमानों को छलते थे। वहाँ की भी चन्नूनी जैसी लड़कियाँ लिख-पढ़ न पाने के कारण भद्दी-भद्दी गालियाँ बक कर जीवन व्यतीत करती थीं। वहाँ भी दुनी काका, पंचादा, छोनेदा और मधुसूदन के बड़े भाई थे। वहाँ उस फ्रान्स देश में भी कालीघाट के ईश्वर गांगुली लेन जैसी गली थी। वहाँ के ईश्वर गांगुली लेन में भी धूप, शिक्षा और सभ्यता का प्रवेश नहीं हो पाता था। सी० आर० दास की मृत्यु होने पर उस दिन वहाँ भी लोग अड्डे बाजी कर रहे थे। सामयिक आन्दोलन के दिन लोग चरखा चलाते थे और आन्दोलन समाप्त होते ही चरखे को एक किनारे रख देते थे। वहाँ भी लक्ष्मी जैसी लड़कियाँ दीपंकर जैसे छोटे बच्चों को चॉकलेट देकर भुलावे में फँसा लेती थीं और उनके द्वारा शंभु जैसे लोगों के पास प्रेम-पत्र भेजती थीं। वहाँ भी किरण जैसी लड़कियाँ रास्ते-रास्ते में हाथ से बना जनेऊ बेचती थीं तथा दीपंकर जैसे लोगों की माताएँ दूसरे के घर में रसोई पका कर बच्चे को लाल-पाल कर योग्य बनाने का सपना देखा करती थीं। वहाँ के भी जो बड़े आदमी थे, जो लोग बैरिस्टर पालित जैसे बड़े आदमी थे, अघोर नाना के यजमानों के जैसे बड़े आदमी थे, सत्ता मैदान के एकादशी बनर्जी और पावल पार्टी के शशधर चटर्जी जैसे दल के लोग थे, वे कौड़ी के बल सब कुछ खरीद लेते थे—पाप, पुण्य, धर्म, अधर्म सब कुछ। साथ ही साथ वे प्रतिष्ठा, प्रभाव, यश, सम्मान, कीर्ति, अमरत्व सब खरीद लेते थे।

यह सब पढ़ते-पढ़ते दीपंकर अवाक् हो जाता था। कहीं उसे कोई नियम या फार्मूला नहीं मिलता था। हमेशा क्या ऐसा ही होता रहेगा? इसी प्रकार का अनाचार और अराजकता का बोलबाला रहेगा? तीन सौ वर्ष पहले लिखी गयी पुस्तक के पन्ने में भी देखा कि वाल्यूफ ने लिखा है—When I see the poor without the clothing and without the shoes which they themselves are engaged in making and contemplate the small minority who do not work and yet want for nothing, I am convinced that Goverment is still the old conspiracy of the few against the many, only it takes a new form.[1]

उस दिन हाजरा मोड़ पर अमल बाबू से मुलाकात हो गयी।

अमलराय चौधरी आशुतोष कॉलेज में इतिहास के प्राध्यापक हैं। इतिहास उपन्यास की तरह ही उपयोगी साबित हो सकता है इसका पता मुझे अमल बाबू का लेक्चर सुनने पर चला था। बहुत सारे कॉलेजों के छात्र उनका भाषण सुनने आशुतोष कॉलेज आते थे। लेकिन वह मुझे पहचान नहीं सके। बोले, "तुम कौन हो? किस इयर में पढ़ते हो? तुम्हारा नाम क्या है?"

मैंने सब कुछ बताया। उसके बाद कहा, "एक बात पूछूं सर?" "क्या?"

अन्ततः मैंने उन्हें कई दिन पहले की बात बता दी। क्लास में वह सुकरात के बारे मे पढ़ा रहे थे। पढ़ाते-पढ़ाते सुकरात की एक बात बतायी थी—Be hopeful then, gentlemen of the jury, as to death, and this one thing hold fast that to a good man, whether alive or dead, no evil can happen, nor are the gods indifferent to his well-being[2] उस दिन इस बात का अर्थ क्लास मे समझ नहीं सका था। संकोचवश इसका अर्थ भी नहीं पूछ सका था। क्लास के बाकी लोग इस बात का अर्थ समझ सके थे या नहीं, इसका भी पता मुझे नहीं था। इसीलिए रास्ते में भेंट होते ही हिम्मत बांध मैं पूछ बैठा, "इसका अर्थ क्या है? यानी इस बात मे सच्चाई कहाँ तक है?"

अमल बाबू ने पूछा, "तुम कहाँ रहते हो? मैट्रिक की परीक्षा में तुम्हारा फलाफल कैसा रहा था?"

---

१. जब मैं गरीबों को बिना वस्त्र और जूतों के देखता हूं, जिनके निर्माण में वे व्यस्त रहते हैं, और उन्हें अल्पसंख्यकों की ओर, जो काम नहीं करते फिर भी किसी अभाव में नहीं रहते, टकटकी लगाये देखते हुए पाता हूं तो मुझे पूर्णत. इस बात पर विश्वास हो जाता है कि सरकार अब भी बहुत लोगों के खिलाफ कुछ लोगों का षडयंत्र है, भले ही वह नया चेहरा क्यों न पहन ले।

२. न्यायमंच के सदस्य गण, आप ऐसी आशा कर सकते हैं कि जहाँ तक मृत्यु का प्रश्न है, यह एक ध्रुव सत्य है कि एक भले आदमी को, चाहे वह जीवित हो या मृत, कोई बुराई नहीं हो सकती तथा देवता भी उसकी भलाई से विमुख नहीं रहते।

मैंने उनके सभी प्रश्नों का उत्तर दिया। उसके बाद कहा, "लगता है, अभी आप बहुत व्यस्त हैं सर। मैं बाद मे किसी और दिन आपके दर्शन करूँगा।"

यह कह कर मैं चला आ रहा था। लेकिन अमल बाबू ने मुझे रोक कर कहा, "ठहरो, तुम एक काम करो, मुझसे किसी वक्त लाइब्रेरी में मिलना।" "कब सर?"

"जब तुम्हारी मर्जी हो।" यह कह कर अमल बाबू चले जाने लगे। मैं भी उनके साथ चलने लगा।

चलते-चलते अचानक अमल बाबू ने मुड़ कर कहा, "मिलना जरूर। समझे न?"

मैंने कहा, "मिलूँगा सर।"

मिलने की इच्छा रहने के बावजूद अमल बाबू से मिलने का साहस नहीं हुआ। क्लास में वे पुस्तक मे डूब जाते थे। किसी की ओर आँख उठा कर नहीं देखते थे।

लेकिन उस दिन तमाम दुविधा-संकोच को छोड़ उनकी लाइब्रेरी के अन्दर घुस पड़ा। उस समय वह चतुर्थ वर्ष का क्लास होने के बाद आराम कर रहे थे। दरवाजे के पास जा मैंने कहा, "सर।"

"क्या चाहिए?" उन्होने कहा।

मैंने उन्हें सारी बातें याद दिलायी। मेरी बात सुन कर मुझे आपाद मस्तक देखा। उसके बाद बोले, "ओह् याद आ गया। इतने दिनों से कॉलेज में पढ़ा रहा हूँ, लेकिन तुम्हारी तरह पहले किसी ने मुझसे यह सवाल नहीं किया था। सो तुम इसकी आध्यात्मिक व्याख्या चाहते हो या आर्थिक व्याख्या?"

मैं चुप्पी साधे रहा।

अमल बाबू बोले, "समझ गया, फिर सुनो।"

यह कह कर उन्होंने समझाना शुरू किया। बहुत दिन पहले की घटना है। उस दिन लाइब्रेरी के अँधेरे में बैठ अमल बाबू ने उसकी जो व्याख्या की थी वह आज भी मुझे याद है। अब न वह पुराना आसुतोष कॉलेज है और न वह बिल्डिंग। उसकी जगह नया कॉलेज और नयी बिल्डिंग बन गयी है। लेकिन उनकी बातें मुझे याद हैं।

दक्षिणश्वर की बात है। परमहंस देव उन दिनों जीवित थे। दक्षिणेश्वर में ग्यारह सौ कोस दूर से एक साधु आये थे। नाम था हीराचाँद। आकर स्वामी विवेकानन्द से पूछा, "अच्छा, यह तो यह बताइये कि आदमी को इतना दुख क्यों झेलना पड़ता है?"

विवेकानन्द ने कहा, The scheme of the universe is devilish, I could have created a better world.[1]

साधु ने कहा, "दुख यदि नहीं रहेगा तो सुख का हम आकलन कैसे करेंगे?"

उस समय विवेकानन्द ने कहा था, "Our only refuge is in pantheism[2]—

---

१. संसृति की योजना दानवीय है। मैं बेहतरीन दुनिया की सृष्टि कर सकता था।

२. हमारा एक मात्र आश्रय सर्वात्मवाद है।

मका और भगवान् सब एक ही हैं, यह विश्वास हो जाये तो सारी परेशानी दूर हो जाये—यानी यह विश्वास कि मैंने ही सब कुछ किया है।"

यह कहानी कह अमल बाबू जरा चुप हो गये, उसके बाद बोले, "मैं इतिहास पढ़ाता हूँ, इतिहास का भी एक पहलू है और वह उसका महत्वपूर्ण पहलू है। वही सुनो। यह उसके बहुत बाद की घटना है—उन्नीस सौ पाँच ई० की। एक दिन हजारों लोग एक देश के राजा के प्रासाद के सामने जाकर खड़े हुए। फाटक के सामने सिपाही-संतरी बंदूक ले पहरेदारी कर रहे थे। उन्होंने पूछा: तुम लोग क्या चाहते हो?

लोगों ने कहा: हम हुजूर के पास एक दरख्वास्त भेजना चाहते हैं। सिपाही उनका दरख्वास्त राजा के पास ले गया। दरख्वास्त विनय से भरा हुआ था। उसमें लिखा था: We come to the sire to seek truth and redress. We have been opressed; we are not recognised as human beings, we are treated as slaves, who must suffer their bitter fate and keep silence. The limit of patience has arrived. Sire is this in accordance with the divine law by the grace of which thou reignest? Is it not better to die, better f r all the people, land let the capitalists, the exploiters of the working class live? Do not refuse assistance to thy people. Destroy the wall between thyself and thy people and let them rule the country with thyself.*

दरख्वास्त भेजने के थोड़ी देर बाद ही एक काण्ड हो गया। ऊपरी बरामदे से उन पर गोलियों की बेशुमार वर्षा होने लगी। हजारों निरीह लोगों पर लाखों गोलियाँ आकर गिरने लगीं। हजारों आदमी गोली की चोट खाकर कराहने लगे, दर्द से छटपटाने लगे और मौत के शिकार हो गये।

और मजे की बात है कि उस घटना के ठीक तेरह साल बाद उसी बरामदे से एक दिन एक दूसरे आदमी ने हजारों आदमी के सामने खड़े होकर भाषण दिया—Comrades, feeding people is a simple task. We will take from the rich and give to the poor. Take milk from the rich and give to

* महोदय, हम आपकी सेवा में सत्य और प्रतिकार की भीख माँगने आये हैं। हमारा शोषण किया गया है। हम मनुष्य नहीं समझे जाते, हमारे साथ उन गुलामों जैसा बर्ताव किया जाता है, जिन्हें जबान पर ताला लगाकर अपने खोटे भाग्य की यातना सहनी पड़ती है। धीरज की भी कोई सीमा होती है। महोदय, ऐसा क्या ईश्वरीय न्याय, जिसकी दया के बदौलत आप शासन कर रहे हैं, के अनुसार किया जा रहा है? इससे बेहतर क्या यह नहीं है कि तमाम लोग मृत्यु का वरण कर लें और पूँजीपति मेहनतकशों के शोषक, जीवन जियें? अपनी जनता की सहायता करने से मुँह नहीं मोड़ें। जनता और आपके बीच जो दीवार है उसे ढाह दें, और उन्हें अपने साथ देश पर शासन करने दें।

the children of workers. He who does not work shall not eat. Workers will receive cards. Cards will bring food *

अमल बाबू ने और कितनी ही बातें कही थीं। सारी बातें ठीक-ठीक समझ में नहीं आयी थीं। क्लास की घण्टी बजते ही अमल बाबू उठ कर चले गये थे। जाने के समय कह गये थे, "बाद में मैं इस संबंध में तुम्हें और ढेर सारी बातें बताऊँगा।"

लेकिन उस समय मुझे मालूम नहीं था कि अमल बाबू इतनी जल्दी विदा हो जायेंगे। उस दिन के बाद फिर एक बार अमल बाबू से इस संबंध में बातचीत हुई थी। मैं क्लास में एक कोने में चुपचाप बैठा था।

"रोल नंबर सिक्स, रोल नंबर सिक्स—"

मैंने खड़े होकर कहा, "यस सर।"

अमल बाबू ने पूछा, "तुम्हें अपने उस सवाल का जवाब मिल गया ?"

मैंने कहा, "अब भी ठीक से नहीं समझा हूँ सर।"

अमल बाबू बोले, "समझ जाओगे। किसी से पूछने पर इसका उत्तर नहीं मिलेगा। इसका उत्तर जीवन के अनुभवों के बीच गुजरने से मिलता है।"

१९६० ई० की पहली जनवरी को दीपंकर ने 'देश' पत्रिका में उसी यात्रा का प्रारंभ किया। खोजने की प्रक्रिया की शुरुआत हुई। मनुष्य की महायात्रा के जुलूस में गाँव का एक नगण्य युवक सम्मिलित हो गया। जुलूस में छोटा-बड़ा, शिक्षित-अशिक्षित, धनी-दरिद्र, साहब-मेमसाहब तथा कलकत्ते के तमाम आमलोग हैं। फ्री स्कूल स्ट्रीट में लेकर कालीघाट के कूड़ेदान तक की परिक्रमा शुरू हो गयी। किसी ने उसे प्यार किया, किसी ने उससे घृणा की, किसी ने उसे आघात पहुँचाया और किसी ने उसे आनन्द प्रदान किया। लेकिन उस समय दीपंकर प्रत्येक दिन के अनुभव, प्रतिक्षण के अनुभव से मनुष्य हो रहा था और मनुष्य की वह खोज कर रहा था। एक-एक कर हर आदमी को अपने मन की तालुकेदारी का स्वत्व-उपस्वत्व प्रसन्नता के साथ दानकर उसने निश्चिन्तता का अनुभव किया। सब कुछ से रिक्त हो दीपंकर अपने सर्वस्व निवेदन की जिम्मेदारी से मुक्त हो गया।

लेकिन मुझे मुक्ति नहीं मिली। उस समय दीपंकर की यातना के साथ मैं भी यातना से क्षत-विक्षत हो गया था। दीपंकर की परिक्रमा के साथ मेरी भी तब स्वर्ग-मर्त्य-पृथ्वी की परिक्रमा चल रही थी। रात में नींद नहीं आती थी। सारी दुनिया जब नींद में सोयी रहती थी उस समय मैं और मेरे मकान के सामने का बार्लो का कारखाना जगे रहते थे। जगकर मैं कमरे में चहल-कदमी करता था। दिमाग में सब कुछ चकराने लगता था। मैं भी दीपंकर के साथ फ्री स्कूल स्ट्रीट, पैलेस कोर्ट और गड़ियाहाट लेवल

* दोस्तों, जनता को भोजन देना एक सरल काम है। हम धनियों से लेकर गरीबों को देंगे। पैसेवालों से दूध लो और मेहनतकशों के बच्चों को दो। जो काम नहीं करता उसे भोजन नहीं मिलेगा। मेहनतकशों को कार्ड दिया जायेगा। कार्ड से भोजन की प्राप्ति होगी।

क्रॉसिंग का परिभ्रमण कर रहा था। आँखों से सब कुछ धुँधला-धुँधला दीख रहा था। सब कुछ अँधेरा जैसा।

मेरे घर के डॉक्टर कनाईलाल सरकार थे। उन्होंने कहा, "तुम एकबार नीहार मुंशी को अपनी आँख दिखाओ।"

मैंने पूछा, "कितना लेंगे ?"

डॉक्टर बोले, "बहुत बड़े डॉक्टर हैं। दो दिन दिखाना होगा, सोलह-सोलह बत्तीस रुपया देना होगा।"

बत्तीस रुपया! उस समय मेरे लिए बत्तीस रुपये की कीमत बहुत अधिक थी। लेकिन आँख अगर चौपट हो जाय तो फिर देखूँगा कैसे? लिखूँगा कैसे? अन्ततः पहले से ही लाइन लगाकर, दिन-क्षण तयकर और जेब में बत्तीस रुपया लिये उनके गरचा लेन स्थित भवन में जाकर हाजिर हुआ। उस समय बाहर बहुत से लोग प्रतीक्षा कर रहे थे। एक स्लिप में अपना नाम लिखकर उनके परिचायक के हाथ में दिया और अन्दर ले जाने को कहा। मैं डरता हुआ बाहर इन्तजार करने लगा। अचानक वह बाहर निकल आये। एक बारगी नमस्कार की मुद्रा में। बोले, "मेरे लिए यह बड़े सौभाग्य की बात है।"

मैं आश्चर्य में खो गया। सौभाग्य उनका है या मेरा!

खैर, जाँच करने लगे। लगभग आधे घण्टे तक बारीकी से जाँच की।

आने के समय मैंने कहा, "कितना देना होगा ?"

"कुछ भी नहीं।"

मुझे और अधिक आश्चर्य हुआ। इसके पहले कभी किसी डॉक्टर से ऐसी बात नहीं सुनी थी। मुझे उस समय उनकी बात पर विश्वास नहीं हो रहा था। मेरी घबरायी आँखों की ओर ताकते हुए बोले, "इसके बदले बल्कि आप अपनी एक किताब मुझे दे दीजिएगा। उसी को मैं अधिक मूल्यवान् समझूंगा।"

१९३२ ई० की तीन फरवरी को 'कड़ी दिये किन लाम' समाप्त हुआ। निन्दा-प्रशंसा से भरे अनेकानेक पत्र मेरे पास आने लगे। हिन्दुस्तान के सभी प्रान्तों से हजारों पत्र आने लगे। लेकिन वे मेरा कुछ बिगाड़ नहीं सके। उस समय मैं बंबई के एकान्त स्थान में पड़ा था। मैंने तो न जान सका और न ही जानना चाहा कि कौड़ी से मैंने क्या खरीदा और क्या नहीं खरीदा। 'देश' पत्रिका के संपादक सागरमय घोष ने एक पत्र में लिखा, "कल 'कड़ी दिये किन लाम' का प्रथम खण्ड हस्तगत हुआ। पुस्तक हाथ में लेते ही लगा, यह कितनी विशाल कीर्ति है। आपने कितनी बड़ी साधना की है! इसके बाद दूसरा खण्ड निकलनेवाला है। हर रोज अनगिनत पत्र आ रहे हैं, आपके घर पर उन्हें भेज रहा हूँ। हार्दिक अभिनन्दन! पाठकों के बीच इस पुस्तक ने हलचल मचा दी है, इसका प्रमाण ये अनगिन पत्र हैं।"

कलकत्ता लौटने के बाद मैंने सभी पत्रों को पढ़ा। जिन लोगों ने इस पुस्तक को

पढकर पत्र के माध्यम से अभिनन्दन जताया था, उस समय उनमे से प्रत्येक को पत्रोत्तर देना मेरे लिए संभव नहीं था। आज इतने दिनों के बाद, इस मौके पर, उनमे से प्रत्येक के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रगट कर रहा हूँ। यह उपन्यास जिन्हें अच्छा लगा है वह उनकी महानता है, मेरे लिए तो केवल सौभाग्य की बात है। इस साहित्यार्य के विनिमय में उतना मात्र ही मेरा प्राप्य है।

लेकिन अब अगर अपने व्यक्तिगत अनुभवों के बारे मे कुछ न लिखूं तो भूमिका असमाप्त ही रह जायेगी। इन तेरह बरसों की बहुत सारी स्मृतियाँ जिस तरह समय की धारा मे बह गयी हैं, उसी तरह कुछ संचय भी मन के कोने में जमा है।

याद है, इस पुस्तक के प्रकाशन के समय श्रद्धेय अग्रज साहित्यकार ताराशंकर बंद्योपाध्याय ने मेरी इस पुस्तक के प्रकाशक को शुभाकांक्षी होने के नाते सतर्क करते हुए कहा था, "तुम 'कड़ी दिये किन लाम' छापोगे तो जरूर मगर इसकी पांच सौ से अधिक प्रतियों की खपत नहीं होगी।"

इतना कहकर ही वह निवृत्त नहीं हुए थे, जब उनकी भविष्यवाणी झूठी साबित हुई तो उस समय 'अमृत' साप्ताहिक के माध्यम से इस उपन्यास की असारता प्रमाणित करने के लिए उन्होने एक अपव्याख्यासूचक निबंध लिखने का कष्ट स्वीकार कर मुझे विव्रत करने की चेष्टा की।

मेरे एक सहयोगी साहित्यकार नारायण गंगोपाध्याय ने 'अमृत' पत्रिका के एक साक्षात्कार में लिखा था, यदि वह स्वयं इस उपन्यास को लिखते तो दो हजार पृष्ठों के बजाय ढाई सौ पृष्ठो मे ही संकुचित कर लिख सकते थे।

यादवपुर के यक्ष्मा अस्पताल के एक मुमुर्षु रोगी ने पत्र के माध्यम से मुझे सूचित किया कि मेरी इस पुस्तक को पढकर वह अपनी रोग यातना भूल गये।

हाल मे मैं जब नागपुर गया था तो एक विख्यात और कुशल डॉक्टर (डॉक्टर बैनर्जी) ने मुझे सूचित किया कि एक अनिद्रा-ग्रस्त रोगी को वह प्रतिदिन तेज दवा (पेथीड्रिन) का इंजेक्शन देकर सुलाने जाते थे। लेकिन एक दिन रोगी ने इंजेक्शन लेने से जब इनकार किया तो डॉक्टर ने इसका कारण पूछा। रोगी ने बताया, इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद 'खरीदी कौड़ियो का मोल' पढना शुरू करने के बाद रोगी नींद की दवा की आवश्यकता महसूस नहीं करता है। उसका अनिद्रा रोग दूर हो गया है।

केरल के एक कथावाचक श्री वी० शंमुशिवन मलयाली भाषा मे इस उपन्यास को कथकता कर यहाँ के श्रोताओं का मनोरंजन कर रहे है।

इस तरह की और भी अनगिन घटनाएँ हुई हैं।

लेकिन यह सब घटनाएँ अत्यन्त तुच्छ हैं—इतनी कि उल्लेखयोग्य भी नहीं, फिर भी इस संबंध मे मेरा विनीत वक्तव्य इतना ही है कि इन तेरह बरसों के दरमियान निन्दा-प्रशंसा, भुत्सा-कटूक्ति, श्रद्धा-आशीर्वाद जो कुछ भी मुझे प्राप्त हुआ है, उन्हें मैं नतमस्तक होकर स्वीकार कर रहा हूँ। जो कुछ मेरा प्राप्य है उसे अंगीकार कर रहा

हूँ और जो मेरा प्राप्य नहीं है उसे भी स्वीकारने मे दुविधा का अनुभव नहीं कर रहा हूँ। असल मे जिस समाज के लोगों के बीच सम्मान पाने के लिए अपने आदर्श की हत्या करनी पड़ती है वह समाज मेरी दृष्टि मे सम्मानयोग्य नहीं है। इसीलिए जहाँ-जहाँ मैंने आवश्यकता महसूस की है, इस उपन्यास मे वहाँ-वहाँ उस समाज पर तीखा वार किया है। तीखावार तो किया है जरूर परन्तु मुझे भी तद्जनित अनेकानेक आघात सहना पड़ा है। मेरी रचना मे अनगिन दोष और त्रुटियाँ हैं और वे रस की दृष्टि से कितने दोषजनक हैं, इससे मैं अनजान नहीं हूँ। इन तेरह बरसो की निन्दा-स्तुति की उलझनों ने मेरी मानसिकता को एक ऐसे स्तर पर लाकर छोड़ दिया है जहाँ केवल अपनी वस्तु कहकर इन संपदाओं पर अपना दावा पेश करने का मेरे लिए उपाय नहीं रह गया है। कहा जा सकता है कि अब इसकी तमाम जिम्मेदारी परोक्षरूप से पाठक-वर्ग पर है।

आजकल अन्तरराष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र मे दलबन्दी-निरपेक्षता एक विशेष प्रकार की राजनयिकता के रूप मे स्वीकार कर ली गयी है, लेकिन साहित्यिक क्षेत्र में यह चीज अनादिकाल से ही एक अपरिहार्य धर्म के रूप मे चली आ रही है। मैं व्यक्तिगत रूप मे उसी प्रकार का एक दलबन्दी-निरपेक्ष लेखक हूँ। यही वजह है कि मेरी साहित्यिक मान्यता कभी दूसरो के द्वारा नियंत्रित नहीं हुई है तथा साहित्य-यात्रा का पथ इतनी विघ्नबाधा तथा कुत्सा के कंटकों से परिपूर्ण है। और इसीलिए मेरा यह 'कड़ी दिये किन लाम' उपन्यास एक ही साथ निन्दा और प्रशंसा की दृष्टि से देखा गया है।

रवीन्द्रनाथ के शब्दों मे ही इस निबंध का अन्त कर रहा हूँ। उन्होने लिखा है—"जिस समाज में मनुष्य अपने सच्चे आदर्श और मत को अक्षुण्ण रखते हुए श्रद्धा अर्जित कर सकता है, *वही समाज वास्तव मे श्रद्धा का पात्र है। जहाँ सम्मान पाने के लिए* मनुष्य को अपना सत्य बेचने को विवश होना पड़ता है वहाँ का सम्मान सम्मान के योग्य नहीं। कौन मेरे दल मे है और कौन नहीं है, यह समझ कर जहाँ स्तुति और सम्मान के अंश का बटवारा किया जाता है, वहाँ का सम्मान अस्पृश्य है। वहाँ घृणा के साथ कोई धूल फेंक दे तो वह धूल ही वास्तविक भूषण है, क्रोध मे आकर गाली-गलौज करे तो वह गाली ही वास्तविक अभिनन्दन है।"

उन्होने यह भी लिखा है, "अवहेलना से जिसका सृजन किया जाता है,वह अवहेलना की ही सामग्री है। जिसमे किसी ने वास्तविक जीवन का संपूर्ण अनुराग अर्पित नहीं किया है, वह कभी अमोघ कहलाकर किसी का हृदय आकर्षित नहीं कर सकता।"

आज इस उपन्यास के त्रयोदश संस्करण की भूमिका मात्र इतना ही कहकर समाप्त कर रहा हूँ कि मैंने 'कड़ी दिये किन लाम' को रचना अवहेलना के साथ नहीं की है।

१५ अगस्त, १९७५

•

कहानी लिखने की कहानी

[प्रस्तुत निबन्ध विमल मित्र ने आकाशवाणी कलकत्ता के अनुरोध पर लिखा था। कहानी के स्रोत और शिल्प के सम्बन्ध में लेखक ने यहाँ बड़ी ही जीवन्त व्याख्या प्रस्तुत की है।—अनुवादक]

आज मुझे एक ऐसे विषय पर बोलने को कहा गया है, जिसके संबंध मे कुछ कहने का अधिकारी मैं हूँ या नहीं, कह नहीं सकता। इस कलकत्ता शहर मे बहुत से डॉक्टर हैं मगर सबके सब क्या चिकित्सक हैं ? उसी तरह जो लोग वकालत करते हैं, वकालती से जिन्होंने बेहद पैसा कमाया है, मकान बनवाया है, गाड़ी खरीदा है, वे लोग सभी क्या विधि-विशारद हैं ?

माना मैं कहानी लिखता हूँ परन्तु कथा-शिल्प का भी विशेषज्ञ हूँ, यह कहने से कोई मानने को तैयार होगा ? यह भी तो हो सकता है कि जीवन के किसी क्षेत्र मे पाँव न जमा पाने तथा फलस्वरूप सामने कोई विकल्प न रहने के कारण मैंने कहानी-लेखन को पेशे के तौर पर अपना लिया हो। या फिर यह भी तो हो सकता है कि पत्र-पत्रिकाओं मे अपना नाम छपवाने तथा आत्म-प्रचार के दुर्निवार मोह के कारण मुझमे इस प्रवृत्ति ने जन्म लिया हो।

फिर भी इतना जरूर कहा जा सकता है कि चूँकि मेरी कुछ कहानियाँ पत्र-पत्रिकाओं मे छपी हैं तथा उनका पुस्तकाकार प्रकाशन भी हुआ है, इसीलिए उस नाते मैं भी एक कहानीकार हूँ। शायद इसी वजह से इस मजलिस मे मुझे बुलाया गया है।

खैर, भूमिका रहे। असली प्रश्न यही है कि किस प्रकार कहानी लिखी जाती है। मैं इसी सवाल का जवाब देने की कोशिश करूँगा। यहाँ एक उपमा की सहायता लेने की आवश्यकता होगी। लोगों को मालूम है कि गृहस्थ-धर्म का पालन करने के लिए हर आदमी को हर दिन खाद्यपदार्थ के लिए कुछ न कुछ कच्चे उपकरणों का संग्रह करना पड़ता है। कारण यह न हो तो गृहस्थी की गाड़ी चल नहीं सकती।

कहानी-लेखन के मामले मे भी यही बात है। कहानी मन की खुराक है। यही वजह है कि कहानी न पढ़ने से हमारे जीवन की गति रुक जाती है, चाहे वह महाभारत या उपनिषद या फिर कथा-सरित-सागर की ही कहानी क्यों न हो। मनुष्य के मन की खुराक का इन्तजाम करने के लिए हम कहानीकारों को भी कुछ कच्ची सामग्री इकट्ठी करनी पड़ती है। बचपन से मनुष्य-समाज से हिलने-मिलते रहने के कारण हर आदमी को कभी आनन्द और कभी आघात का सामना करना पड़ता है। फलस्वरूप प्रत्येक आदमी का एक खास तरह का स्वभाव हो जाता है। उनमें से जिन लोगों में देखने की कुशलता अधिक होती है वे आगे चलकर वैज्ञानिक होते हैं, जिनमें सोचने की कुशलता अधिक होती है वे दार्शनिक प्रकृति के हो जाते हैं। लेकिन जो एक ही साथ अधिक देखते और अधिक सोचते हैं, अर्थात् जीवन के चारों ओर जिनकी तीक्ष्ण दृष्टि रहती है

तथा जीवन एवं जगत का सब कुछ जिनके चिन्तन को आकर्षित करता है, वे ही बा र मे आगे चलकर लेखक हो जाते हैं। इसीलिए एकमात्र लेखक को ही टोटलमैन यानी संपूर्ण मानव कहा जाता है।

दुनिया के तमाम लेखक इस मानी मे संपूर्ण मानव हैं।

उनके उपकरण-संग्रह का इतिवृत्त अनेको ने पढा होगा। उन्होंने किस प्रकार अपनी कहानी की सामग्री इकट्ठी की है तथा कैसे और किस शिल्प-कौशल से उन्हे रसवस्तु के रूप मे परिणत किया है, यह बात बहुत सारे ग्रंथों मे विस्तार के साथ लिखी हुई है। इससे पता चलता है कि कहानी-रचना-विधान का सब कुछ लेखक-विशेष की शक्तिशाली कल्पना और अनलस अनुशीलन पर निर्भर करता है। अनुशीलन मे ही पता चल सकता है कि कौन-सी बाहरी वस्तु है और कौन-सी अन्तर की वस्तु, कौन शाश्वत है और कौन क्षणस्थायी तथा कौन सिर्फ आँख या सिर्फ मन की वस्तु है। उस समय परीक्षण-निर्वाचन का क्रम चलता है। यानी परिनिष्ठित भाषा मे जिसे ग्रहण-वर्जन कहते हैं। इस परीक्षण-निर्वाचन या ग्रहण-वर्जन के समन्वय पर ही कहानी की सार्थकता निर्भर करती हैं।

व्यक्तिगत तौर पर मैं जब कथाकार होता हूँ तो मेरा मैं प्रत्यक्ष जगत् का व्यक्ति रह जाता है। उस समय मुझे अपने अस्तित्व का अतिक्रमण कर उर्ध्वलोक के एक दूसरे अस्तित्व मे पड़ाव डालने के बारे में सोचना पड़ता है; अपनी कल्पना और अनुभूति के परिदृश्य को आमलोगों के प्रत्यक्ष परिदृश्य के स्तर पर ले आने के विषय में सोचना पडता है। एक व्यक्ति के द्वारा एकाकी ही देखे गये इस परिदृश्य को आम लोगों के प्रत्यक्ष परिदृश्य मे रूपान्तरित करने के लिए शुरू मे आँख से देखी गयी या कान से सुनी गयी एक घटना के भग्नाश को अवलंब बनाना पडता है। कलम से लिखने के पूर्व मन ही मन उस वास्तविक भग्नांश के चारो ओर कल्पना और अनुभूति का प्रलेप चढाकर एक प्रतिमा गढनी पड़ती है। प्रतिमा अगर मन के सारे दावे की पूर्ति कर सके, प्रतिमा का नाक-नक्श, अंग-प्रत्यंग मेरी दृष्टि मे स्पष्ट हो जाये तभी उस पर लिखने की बात आती है, तब कलम लेकर बैठता हूँ इसके पहले नहीं।

एक वास्तविक उदाहरण प्रस्तुत करूँ तो बात स्पष्ट हो जायेगी। पर मैं अपना उदाहरण नहीं दूँगा। यह उदाहरण है, फ्रांसीसी साहित्य तथा विश्वसाहित्य के बेजोड़ रचनाकार बालजाक के जीवन का।

बालजाक ने एकबार एक पत्रिका के संपादक को वचन दिया था कि एक निर्दिष्ट तिथि मे उनकी पत्रिका के लिए एक कहानी लिख देंगे। पारिश्रमिक के रूप मे वे कुछ रुपये एडवांस ले चुके थे। कहानी के सभी उपकरण या माल-मसाला तैयार हो गया। कहानी एक कलाकार से संबंधित है। वह वायलिन बजाता है। कहानी का प्रारंभ, मध्य और अंतिम भाग कैसे लिखेंगे, इसका निश्चय कर चुके। जब सब कुछ तैयार हो गया और कहानी लिखने बैठे तभी एक कठिनाई आयी, नायक का नाम क्या रखा जाय। जितने नाम सोचते रहे उनमे से एक भी पसन्द नहीं आया।

अन्ततः वह निर्दिष्ट तिथि भी आ गयी। लेकिन कहानी का एक शब्द भी लिख नहीं सके।

संपादक निर्धारित तिथि पर आ धमके।

पूछा, "क्या हुआ ? कहानी कहाँ है ? मैंने विज्ञापन निकाल दिया है कि आपकी कहानी प्रकाशित होगी। आपकी कहानी न देख पाठक मेरी बदनामी फैलायेगा।"

बालजाक बोले, "कहानी एक तरह से लिख ही चुका हूँ, सिर्फ नायक का ही एक मनलायक नाम नहीं मिल रहा है और इसीलिए शुरु करने में देर हो रही है। मुझे और एक दिन का वक्त दीजिए।"

संपादक वहाँ से खिन्न होकर चले आये। लेकिन बालजाक का दिमाग उस समय चकरा रहा था। सोचते-सोचते आकाश-पाताल एक करने पर भी उनके दिमाग में पसन्द के लायक एक नाम नहीं आ रहा था। नायक का पेशा वेहला-वादन है। जो आदमी वेहला बजाता है, जो कलाकार है, उसका जो सो नाम देने से काम चल नहीं सकता। नाम के दोष से सारी कहानी ही बर्बाद हो जा सकती है।

जब वह मन ही मन इस तरह छटपटा रहे थे, उस समय उनके एक मित्र वहाँ आ धमके। सब कुछ सुनने के बाद मित्र ने कहा, "एक मामूली नाम के लिए तुम इतनी फिक्र कर रहे हो ? कोई भी नाम दे दोगे तो काम चल जायेगा।"

बालजाक मित्र को साथ ले रास्ते पर निकल आये। बोले, "यह बात तुम नहीं समझोगे। अगर तुममें इसकी समझदारी होती तो तुम भी लेखक हो गये होते—मेरी इस कहानी में नाम ही सब कुछ है। नाम खराब रहेगा तो कहानी की मिट्टी पलीद हो जायेगी।"

वे लोग पेरिस की सड़क के दोनों तरफ के मकानों को देखते हुए चलने लगे। मकानों के सामने फाटक पर घर के मालिक के नामों का टैबलेट लगा है। किसी का नाम डिक है तो किसी का हैरी। बालजाक को एक भी नाम पसन्द नहीं आता है। वह फिर चलने लगते हैं। चलते-चलते बालजाक एक नाम के सामने ठिठक कर खड़े हो जाते हैं। वाह, कितना सुन्दर नाम है! इतनी देर बाद उनकी पसन्द का नाम मिला।

बालजाक ने अपने मित्र से कहा, "तुम अन्दर जाकर पता लगा आओ कि मकान-मालिक क्या करता है। वह जरूर ही कोई कलाकार है।"

मित्र भीतर गये और थोड़ी देर बाद लौटकर सूचना दी कि मकान-मालिक का पेशा दर्जीगीरी है।

यह सुनकर बालजाक बड़े दुखित हुए। दर्जी! इतना अच्छा सा नाम पाकर भी यह व्यक्ति उसका सही उपयोग नहीं कर पाया।

बालजाक बोले, "ठीक है ईश्वर ने उस आदमी को सताया है तो सताये, लेकिन मैं उसे विख्यात बनाकर छोड़ूँगा। मैं उसे कलाकार बना कर अमर कर दूँगा।"

उस दिन घर लौटकर बालजाक ने रात-भर में पूरी कहानी लिख डाली। संपादक

दूसरे दिन आये और कहानी ले गये। एक मामूली दर्जी ने उस दिन बालजाक को सृजन की यातना से मुक्त कर दिया था।

कहानी लिखने की कहानी यही है। बालजाक ही क्यों, डिकेन्स, मोपासाँ, ओ हेनरी, चेखव जैसे तमाम महान् कलाकार के सृजन के पीछे इसी यातना का हाथ रहा है। डिकेन्स गहरी रात मे लंदन की सडकों पर चहल-कदमी करते रहते थे। सड़क के फुटपाथ पर भिखमंगों की जमात पंक्तिबद्ध लेटी रहती थी। वह उनकी बगल से चहल कदमी करते हुए उन्हे देखते जाते थे, उनके सुख-दुख का अनुभव करते थे। अमरीका के ओ हेनरी के साथ भी यही बात थी। शराब खाने के अन्दर जाकर अपनी जेब से पैसा खर्च कर शराबियों को शराब पिलाने और उनसे घनिष्ठता बढ़ाते थे। उनके साथ एकाकार हो उनके जीवन की कहानी सुनते और कहानी की सामग्री इकट्ठी करते थे। दुनिया के तमाम महान् लेखकों की यही कहानी है। कहानी-लेखन की कहानी का इतिहास इसी निरलस अनुशीलन का इतिहास रहा है। बाहर अन्तर, मष्तिक, मन तथा शाश्वत-क्षण के अथक संग्राम का इतिहास।

और मैं? मैं अपनी बात अपनी जबान से नहीं कहूँगा। वह अहंकार की बात होगी। मेरे कहानी-लेखन की कहानी लिखने वाला अगर कभी पैदा होता है तो उसकी जबान से आप लोग मेरी बात सुनेंगे। लेकिन उस समय शायद मैं नहीं रहूँगा। इसके अलावा जीवन-काल मे अपनी बात अपने कान से सुनना ठीक भी नहीं है।

•

शरतचन्द्र और मैं

['शरतचन्द्र और मैं' शीर्षक निबन्ध बंगाब्द १३५३ के २५ माघ को 'देश' पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। यह विमल मित्र का साहित्य और साहित्यकार के सम्बन्ध में पहला निबन्ध है। इसके पूर्व विमल मित्र अनेक कहानियाँ और उपन्यास लिख चुके हैं लेकिन चूँकि यह उपन्यासकार विमल मित्र की एक विशेष प्रकार की रचना है, इस तरह साहित्येतिहास में इसका एक खास मूल्य है।—अनुवादक]

शरत-साहित्य का रसास्वादन करने की दो ही उपयुक्त उम्र है। एक प्रथम यौवन और दूसरा प्रौढ़ वय जबकि लोगों की बुद्धि परिपक्व हो जाती है। यहाँ मैं यौवन की ही बात बता रहा हूँ। मैट्रिक परीक्षा देने के बाद मुझे उपन्यास पढ़ने की पहले-पहल अनुमति प्राप्त हुई। बंधु-बांधवों से शरतचन्द्र के उपन्यासों की ख्याति सुन चुका था। लेकिन घर पर पढ़ूँ इसकी मुझे अनुमति नहीं मिली थी। आलमारी की चाबी प्राप्त होते ही शुरू में बंकिमचन्द्र की पुस्तकें पढ़ीं, उसके बाद शरतग्रंथावली। कैसे दिन-रात बीत गये, पता ही नहीं चला। आँखों के सामने नयी दुनिया दिखायी पड़ी। इसके पहले मुझे मालूम नहीं था कि दुनिया में इतने-इतने आदमी हैं और उनके इतने प्रकार हैं। मैं मुग्ध और अभिभूत हो गया और धीरे-धीरे शरतचन्द्र को देखने की इच्छा मन में प्रबल हो उठी।

लेकिन उस समय मैं किसी को पहचानता नहीं था और न ही कोई ऐसा व्यक्ति था जो उनसे जान-पहचान करा देता। सुनने में आया, वह कलकत्ते में नहीं रहते। मेरे रात-दिन के सपने का व्यक्ति तब मेरे मन में ही रह गया। किसी काम में मैं कॉलेज स्ट्रीट गया था। फुटपाथ पर पुरानी पुस्तकों को उलटने-पुलटने पर 'भारती' पर मेरी दृष्टि पड़ी। उसे खोल कर देखा तो शुरू में ही शरतचन्द्र के नाटक 'षोड़शी' पर निगाह पड़ी। मेरे पास तब छह आने पैसे थे। घर लौटने के लिए दो आना अपने पास रखना जरूरी था। लेकिन 'भारती' की कीमत दुकानदार ने छह आना माँगा। छह आना दे-देने से घर पैदल चल कर आना पड़ता। अन्त में दुकानदार पाँच आने से कम में देने को किसी भी हालत में सहमत नहीं हुआ। अन्ततः पाँच आने में उस पुस्तक को खरीद कर धर्मतल्ला के मोड़ तक पैदल ही चला आया। वहाँ से ट्राम की चार पैसे की टिकट कटा कर घर आना था।

मैं ट्राम के सेकेण्ड क्लास के एक कोने में बैठ गया। 'षोड़शी' निकाल कर पढ़ने लगा। और आज यह कहने में लज्जा नहीं हो रही है कि मेरे पास जो एक पैसा बच गया था उससे एक सिगरेट खरीद कर उसे मैंने सुलगा लिया। कहाँ-कहाँ से होकर जा रहा हूँ, इसका मुझे होश नहीं था। तब जीवानन्द मेरी कल्पना में छा गया था। कलकत्ते का शोरगुल, फेरीवालों की चिल्लाहट, ट्राम के चक्के की आवाज वगैरह का अतिक्रमण कर तब मैं जीवानन्द की कचहरी वाले मकान में पहुँच गया था।

जीवानन्द ने अपने बदन की शाल बिस्तर पर बिछा दी है। सामने की मेज पर शराब का जाम है। सिगरेट सुलगा कर जीवाननन्द सोने की कलाई घड़ी पर सिगरेट की राख झाड रहे है। मुझे तत्क्षण शरतचन्द्र का स्मरण हो आया। वह किस देश के आदमी हैं? उनकी कलम से कौन-सा आदमी सशरीर हमारे सामने आकर प्रकट हो गया है! मेरी आँखों के सामने एक कौड़ी की विनीत धूर्त मूर्त्ति तैर उठी और उसके बाद ही भैरवी षोडशी का आविर्भाव हुआ।

ट्राम चल रही है। लेकिन तब मैं कहाँ पहुँच गया था, यह देखने की मुझे फुरसत नहीं थी। षोडशी का आविर्भाव कैसा था! अपने जीवन मे मैंने उस दोपहर मे सेकेण्ड क्लास ट्राम के डिब्बे में जिस विश्व का साक्षात्कार किया, वैसा कभी नहीं देखा था। पूरे शरीर मे रोमाच छा गया। लगा, अभी तुरन्त सर्वनाश हो जायेगा। ऐसा महसूस हुआ जैसे ट्राम रुक गयी है और उसके साथ ही दुनिया का चक्र स्तंभित हो इसकी प्रतीक्षा कर रहा है कि कब क्या घटित हो जाय। वायु थम गयी है, सूर्य का आकर्षण शिथिल हो गया है। अभी-अभी प्रलय होने वाला है। अनन्त काल के समुद्र की तह मे जो ज्वालामुखी अब तक सोया पड़ा था, वह आज संभवतः अपना रूप प्रकट करेगा। कचहरी-भवन के दरवाजे के पास मैं जैसे छुप कर खड़ा हूँ और ध्यान से सब कुछ देख-सुन रहा हूँ।

जीवानन्द षोडशी से पूछते हैं, "तुम्हारी उम्र कितनी है?"

और तभी 'आग-आग' शोर मच गया। मैं होश मे लौट आया। देखा, सेकेण्ड क्लास कंपार्टमेन्ट मे मैं हतप्रभ बैठा हूँ और ट्राम के तमाम लोगों की भीड़ मेरे सामने इकट्ठी हो गयी है। एक आदमी मुझे पीटने को तैयार है।

"इस तरह कहीं सिगरेट पी जाती है? अभी कपड़े मे आग लग जाती।"

लोगों ने मेरा हाथ पकड़ लिया है। वे मेरा गला दबा देंगे क्या? देखा, मेरी बगल के आदमी के कपड़े का कुछ अंश सिगरेट की आग से जल गया है।

मैं अपराधी की तरह खामोश रहा। कहने के लिए मेरे पास था ही क्या! मैंने क्या ऐसा होश मे किया है! उन्हे मालूम नहीं कि तब मैं असमर्थ था। तमाम लोग जमा होकर मुझे मार डालने की योजना बना रहे हैं।

बगल वाला सज्जन कपडे के शोक मे सचमुच ही उत्तेजित हो उठा और क्षतिपूर्ति के रूप मे मेरे चेहरे पर मुक्का मारना चाहा।

अचानक तभी मेरे सामने के एक सज्जन ने एकाएक हाथ बढ़ा कर उन्हे रोक लिया। इतनी देर तक उन पर मेरी नजर नहीं पडी थी! उनके सिर पर बड़े-बड़े पके बाल थे। पहनावा था अधमैला लाग क्लाथ का कुरता और बिना किनारे की धोती। वह जैसे इन लोगों के दल मे नहीं थे। बोले, "उसे मारिये नहीं। उसकी कोई गलती नहीं है। गलती मेरी है...."

लोगों को आश्चर्य हुआ। मुझे भी कोई कम आश्चर्य नहीं हुआ। यह कौन है! लेकिन उनके उतरने का भरसक समय हो चुका था। उत्तेजना को दबा वह

हाजरा मोड़ पर ट्राम से नीचे उतर गये। मैं उनसे पूछ नहीं सका कि मेरा सारा अपराध उन्होंने बेझिझक क्यों अपने ऊपर ओढ़ लिया। मैं उन्हें धन्यवाद भी नहीं दे सका। ठगा-सा रह गया। ट्राम के सभी आदमी अवाक् हो उनकी ओर देखने लगे।

उस यात्रा में मुझे छुटकारा मिल गया।

उसके बहुत दिन बाद यतीन रोड से होकर हम लोग कई मित्र जा रहे थे। हमें कोई काम नहीं था। शरतचन्द्र पर बातचीत चल रही थी। मेरे मित्रों में से सभी शरतचन्द्र को देख चुके थे। सुना, उन्होंने बालीगंज में मकान बनवाया है। एक मकान के सामने आ मेरे एक मित्र ने एकाएक कहा, "यह रहे शरतचन्द्र !"

मैं चौंक उठा। कलाकार सतीश सिंह के मकान के एक मंजिले के एक कमरे में ताश की मजलिस जमी हुई है। चार-पाँच आदमी ताश खेलने में मगन हैं। पलंग पर एक आदमी अकेला बैठा है और गुड़गुड़ी से तंबाकू पीते हुए उस खेल को ध्यान में देख रहा है।

मेरे मित्र ने कहा, "वह शरतचन्द्र हैं।"

मेरी निगाह जैसे मत पर पड़ी हो। सिर पर वही पके हुए बाल, पहनावा वही लाग क्लाथ का कुरता। आँखों की दृष्टि निर्विकार। यह तो उस दिन का वही ट्राम का आदमी है जिसने मुझे चरम अपमान से मुक्ति दिलायी थी। समझ गया, क्यों उस दिन उन्होंने मेरे तमाम अपराधों को अपने सिर पर ले लिया था।

उस अँधेरे यतीनदास रोड के फुटपाथ पर खड़े हो मैंने उस व्यक्ति के प्रति कहा, "हे कलाकार, मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ। मनुष्य को इतनी ममता, प्रेम और क्षमा प्रदान कर तुमने उसे देखा-परखा है, इसीलिए तुम्हारा सृजन इतना महान् है। मेरा संख्यातीत प्रणाम स्वीकार करो।"

•

रोलनंबर सिक्स

[रोलनंबर सिक्स विमल मित्र के छात्र जीवन की कहानी है। १९५६ ई० में यह निबन्ध 'आशुतोष कॉलेज मैगजीन' में पहले पहल प्रकाशित हुआ था। १९३३ ई० में आशुतोष कॉलेज के छात्रकालीन अवस्था में स्वर्गीय अमल चन्द्र राय चौधरी से अपने साहित्यिक जीवन के प्रारंभ में विमल मित्र को जो उत्साह और उद्दीपन प्राप्त हुआ था उसे उन्होंने 'खरीदी कौड़ियों के मोल' तथा 'कन्यापक्ष' में कहीं परोक्ष और कहीं प्रत्यक्ष रूप में व्यक्त किया है। अध्यापक अमलराय चौधरी ने उस दिन लेखक के मन पर ऐसा प्रभाव डाला था कि उसके परिणामस्वरूप हमें 'खरीदी कौड़ियों के मोल' में प्राण बाबू और 'इकाई दहाई सैकड़ा' में केदार बाबू प्राप्त हुआ। इस प्रकार के दो पॉजिटिव कैरेक्टर बंगला साहित्य में बिरल ही हैं। जवानी के दिनों मिले स्व० अध्यापक अमलराय चौधरी विमलमित्र के परवर्ती जीवन में अनेक चरित्रों के प्रेरक हुए।—अनुवादक]

"रोल नंबर सिक्स, रोल नंबर सिक्स।"

उन दिनों अमल बाबू हमें इंगलैण्ड का इतिहास पढाते थे। वह लंबे-तगडे और सुदर्शन थे। किसी भी ओर आँख उठाकर नहीं देखते थे। घड़ी की सूई की तरह नियम-पूर्वक क्लास में आते थे। दूसरे क्लास में भले ही कुछ हो जाये, लेकिन वहाँ शोरगुल नहीं किया जा सकता था। इतिहास इतिहास न होकर उपन्यास बन जाता था। उनका भाषण बड़ा ही उपादेय होता था। दूसरे कॉलेजों के छात्र छिप कर उनका भाषण सुनने आते थे। आते ही वह हाजिरी लेना शुरू कर देते थे—"वन, टु, थ्री, फोर, फाइव, सिक्स—"

छह नंबर पर आकर वह एकबारगी रुक गये। सामने की ओर देखते हुए फिर पुकारा—"रोल नंबर सिक्स।"

पहली बार किसी ने 'यस सर' कह दिया था। लेकिन दूसरी बार पुकारने पर कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई।

प्रॉक्सी देनेवाले ने तब भय से अपने को छिपा लिया था।

अमल बाबू ने पुनः एक बार पुकारा—"रोल नंबर सिक्स, विमल मित्र?"

उनकी आँखों ने पूरे क्लासरूम की परिक्रमा की। अपराधी कहीं नहीं है।

अमल बाबू बोले, "विमल को एकबार मुझसे मिलने को कहना। मुझे उससे खास काम है। डरने की बात नहीं है, मैं उस पर नहीं बिगड़ूँगा।"

अपराधी को इन बातों का कोई पता नहीं है। कॉलेज के सामने हाजरा पार्क के एक एकान्त कोने में तब भीम पलासी की ठुमरी चल रही थी। गायक थे अनुपम घटक और श्रोता मैं था। कॉलेज के कला प्रथम वर्ष का छात्र होने से क्या, रस के कारोबार की दृष्टि से हम दोनों महाजन थे। तब प्राक् युद्ध का कलकत्ता शहर था। राशन, कंट्रोल, मरूथा उन दिनों लोग नाम भी नहीं जानते थे। अनुपम गीत गाता था और मैं रस का संचय करता था। यानी शाबासी देता था। अनुपम घटक का भविष्य

सुनिश्चित हो चुका था। वह संगीत का उस्ताद होगा, यही उसकी अभिलाषा थी और मैं ? मेरी कामना अत्यन्त गोपनीय थी। उस कामना के बारे मे किसी को कुछ भी पता न था। मैं तब अपना मन दृढ़ नहीं कर सका था। उस समय जीवन से कला-बोध की विरोध-निष्पत्ति पूरी तरह नहीं हो पायी थी। तभी यह काण्ड हुआ।

यह मेरे साहित्यिक जीवन के प्रारंभिक काल की बात है। मेरी दो-चार पद्य जैसी रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओ मे छप चुकी थीं। तब हाँ, जिन्हें इस बात की जानकारी थी, उन्होंने मुझे उत्साहित नहीं किया। गुरुजन स्थानीय व्यक्तियों को इसकी कोई खास जानकारी नहीं थी। अगर किसी को पता चलता तो वह इसे नगण्य समझ हँसी मे उड़ा देते थे। सिर्फ मेरे एक प्राइवेट ट्यूटर, कालीपद चक्रवर्ती ने—जो मेरे भविष्य के संबंध मे बिलकुल हताश हो लगभग हर रोज मेरे अभिभावक से मेरी शिकायत करते थे—जाने कैसे मेरी कविता देख ली। उस समय मैं शायद दसवीं श्रेणी मे पढ़ता था। पता नहीं क्यों उनके मन मे दया उमड आयी और 'गीतांजलि' की एक प्रति खरीद कर मुझे उपहारस्वरूप दे गये। बोले, "तुम भावप्रवण व्यक्ति हो।"

लेकिन इस तरह के उदाहरण अगर खोजे जायें तो मेरे जीवन मे ज्यादा से ज्यादा एक या दो मिलेंगे। सौभाग्यवश सगे-संबंधी या अन्यान्य लोगों के बीच मुझे निरुत्साह करनेवालो का कभी कोई अभाव नहीं रहा। उसी उम्र मे मैं निंदा, तिरस्कार और अवहेलना का इतना आदी हो गया था कि आहिस्ता-आहिस्ता मेरा स्वभाव सभा-समिति और भीड से अलग-थलग रहने का हो गया था। कोई प्रशंसा करता तो मुझे सन्देह और भय होता था। यही वजह है कि कालेज के लड़को से जब मुझे सूचना मिली कि अमल बाबू ने बुलावा भेजा है तो मैं भयभीत हो उठा—हो सकता है प्रॉक्सी की व्यवस्था करने के कारण डांट-फटकार सुननी पड़े या सजा भुगतनी पड़े।

तय किया, भेंट नहीं करूँगा। या फिर इतिहास के क्लास से हमेशा गैरहाजिर रहूँगा। जान-बूझकर अब निन्दा, कलंक, अवहेलना और दण्ड का बोझा नहीं बढ़ाऊँगा। मेरे चेहरे को पहचान कर थोड़े ही बैठे हुए हैं! क्लास में अनुपस्थित रहने से ही काम चल जायेगा।

इस घटना के दो-चार दिन बाद की बात है। पुराने आशुतोष कालेज मे उन दिनों जमीन के एक खासे अच्छे टुकड़े मे बगीचा था। उसी बगीचे के पास, कालिज जाने के रास्ते पर मैं उस दिन दो-चार मित्रों से बातचीत कर रहा था। यानी तब हम क्लास मे नहीं बैठे थे।

अचानक सुनायी पड़ा, "विमल, मुझसे जरा लाइब्रेरी मे मिल लेना।"

गरदन घुमाकर देखा, अमल बाबू थे। बगल से चुपचाप जाते हुए उन्होंने ये शब्द कहे थे। मेरा सारा शरीर भय से काँपने लगा। इतने दिनों के बाद भी उन्हें यह बात याद है। उन्होंने मुझे कैसे पहचान लिया?

इच्छा न रहने के बावजूद मैं उनके पीछे-पीछे गया। तब तक वह शॉर्ट रास्ते से जाकर लाइब्रेरी मे बैठ चुके थे। मैं अपराधी की तरह उनके सामने जाकर खड़ा हो

गया। कहा, "सर, आपने मुझे बुलाया था ?"

उन्होंने कहा, "हाँ, भारतवर्ष मे तुमने एक कहानी लिखी है ?"

भारतवर्ष ! लिखी कहाँ है, भेजी है ! लेकिन यह बात तो किसी को मालूम नहीं है। अगर कि ी को मालम हो तो वह एकमात्र डाकप्यून ही है। दूसरी बात है, वह छपी भी नहीं है। छपेगी या नहीं, यह बात क्योंकर मालूम होती।

मैंने विनम्रता के साथ कहा, "मैंने उसमें एक कहानी भेजी थी सर।"

अमल बाबू बोले, "वह छपेगी। इसी महीने मे प्रकाशित होगी।"

मैं दण्ड पाने की आशंका के साथ आया था मगर यह तो बुरे के बदले भला ही हुआ। फिर भी मैंने जबान से कुछ भी नहीं कहा। पूछ नहीं सका कि अमल बाबू 'भारतवर्ष' मे किस पद पर हैं। संपादक तो जलधर सेन हैं। अमल बाबू साहित्यकार नहीं कि उन्हे यह सूचना मिल जाये। सोचने पर मुझे कोई कूल-किनारा नहीं मिला।

अमल बाबू ने पुनः कहा, "पत्रिका प्रकाशित हो जाये तो तुम संपादक के पास जाकर पैसा ले लेना।"

पैसा ! सिर्फ सोना ही नहीं, सुहागा भी ! राजकन्या ही नहीं, आधा राजपाट भी।

बोले, "पहली रचना के लिए वे लोग पैसा नहीं देते हैं मगर तुम्हे मिल जायेगा। तब हाँ ..."

कहते-कहते वह रुक गये। उसके बाद बोले, "मगर तुमने उस तरह की अश्लील कहानी क्यो लिखी ? रचना मैं पढ चुका हूँ, तुम किसी दिन बढ़िया लिख सकोगे। लेकिन तुमने अब तक देखना नहीं सीखा है। तुमने वस्तु को ही देखा है, वास्तव को नहीं। सिर्फ 'फैक्ट' ही देखा है, ट्रूथ नहीं। इन दोनों चीजो मे बहुत अन्तर होता है। अन्यथा नहीं लेना। तुम मेरे छात्र हो इसीलिए तुमसे यह सब कह रहा हूँ।"

मेरे चेहरे की ओर ताकते हुए वह फिर कहने लगे, "यह पृथ्वी धूल, मिट्टी, रक्त, मांस और क्षुधा से निर्मित है, लेकिन हम इस पृथ्वी का जो कुछ देखते हैं, सब का सब क्या पार्थिव ही है ? यह भूल मत जाना कि कलाकार का कारोबार पृथ्वी नहीं, पार्थिव से चलता है। पृथ्वी से पशुओं का रिश्ता केवल भोजन और शयन का ही है, लेकिन मनुष्य के साथ ऐसी बात नहीं है। मनुष्य जिस प्रकार पृथ्वी से तरह-तरह का दान लेता है उसी प्रकार उसे पृथ्वी को तरह-तरह का दान देना भी पड़ता है। मनुष्य को उसे सौंदर्य-बोध, कल्याण-कामना और कला का सृजन देना पड़ता है।—वरना सिर्फ खाने-पहनने का ही रिश्ता रहे तो तुम मनुष्य की हैसियत से पंगु हो जाओगे—वास्तविक मनुष्य नहीं हो सकोगे—"

वह इसी तरह की बहुत सारी बातें कह गये। कुछ मेरी समझ मे आयीं, कुछ नहीं आयीं।

आने के समय बोले, "मैंने इतनी बातें कहीं, तुम अन्यथा नहीं लेना। तुम मेरे छात्र हो इसीलिए कहा। अचिन्त्य, प्रेमेन और मनोरंजन से भी मैंने यही बात कही है। वे भी किसी समय मेरे छात्र थे।" जरा रुककर फिर बोले, "अच्छा, अब जाओ।"

मैं लौट आया। लेकिन सात दिन तक मैं चेतना मे विभोर रहा। जहाँ तक स्मरण आ रहा है, यह संभवतः बंगाब्द १३८० की बात है। 'भारतवर्ष' में प्रकाशित मेरी वह कहानी भी आज खो गयी है। तब हाँ, खो जाने से मुझे कोई खेद नहीं है। बहुत-कुछ खो चुका हूँ। जिस तरह बहुत सारे मित्र खो गये हैं उसी तरह बहुत सारे शत्रु भी खो गये हैं। उन दिनों आशुतोष कॉलेज मे मेरे इतने बडे शुभैषी कौन थे! मैं मात्र एक अख्यात, अज्ञात और अवहेलित छात्र था। मैंने बहुत बार सोचा है, उनमें मेरे प्रति इतना स्नेह क्यों था? गजट मे जब मेरे पास होने की खबर छपी तो उन्होंने मुझे अयाचित अभिनन्दन पत्र भेजा था। सम्भवतः उन्हे मुझसे बहुत आशाएँ थीं। एक दिन वह देख चुके थे कि मैंने लिखना बन्द कर दिया है, पाठक और संपादक मुझे भूल चुके हैं। उनके जीवन-काल मे मैं सिर्फ रोल नंबर सिक्स ही रहा।

उसके बाद आशुतोष कॉलेज, विद्यासागर कॉलेज और स्नातकोत्तर विभाग से बाहर निकलने के बाद सुना, अब वह जिन्दा नहीं हैं। सुनकर स्वार्थी की तरह अपना अभाव ही मुझे अधिक अखरा। आज लगता है, चाहे वह लोक-परलोक के उर्ध्व जहाँ कहीं भी हों, उनकी प्रसन्न दृष्टि की मुझ पर वर्षा हो रही है। मैं उनका रोल नंबर सिक्स हूँ। उनके अचिन्त्य, प्रेमेन और मनोरंजन की तरह मैं नहीं हो सका या होना नहीं चाहा। लेकिन ऐसा होने से क्या उनकी आशा विफल हो गयी है?

आज वह जीवित भी नहीं हैं। रहते तो मैं उनसे यही सवाल करता।

•

विभूति भूषण वंद्योपाध्याय

[प्रस्तुत निबन्ध का प्रकाशन 'देश' पत्रिका के साहित्य विशेषांक में हुआ था। अनुज कथा शिल्पी विमल मित्र ने अपने अजग्र साहित्यकार विभूति भूषण वंद्योपाध्याय को इस निबन्ध के माध्यम से आन्तरिक श्रद्धांजलि अर्पित की है। श्रद्धानिवेदन की यह रीति बंगला साहित्य के लिए पूर्णतः मौलिक है और इस पर विमल मित्र की निजी शैली की छाप है।—अनुवादक]

विभूति भूषण वंद्योपाध्याय की याद आती है तो मुझे 'पथेर पाँचाली' की याद नहीं आती, राणाघाट हिन्दू होटल की बात याद हो आती है।

लेकिन राणाघाट हिन्दू होटल की बात बाद मे बताऊँगा, इसके पहले देवानन्दपुर शरतचन्द्र स्मृति-सभा की बात बताता हूँ।

किसी सभा-समिति में जाने का मेरे लिए यह पहला अवसर था। यानी सभा-समिति का अध्यक्ष या मुख्य अतिथि, इनमें से मैं कुछ भी नहीं था—मात्र एक निमंत्रित दर्शक था। उस समय दर्शक या श्रोता की हैसियत से भी मुझे कौन निमंत्रित करता ! किसको इतनी गरज थी ? दूसरी बात है, उस समय मेरा परिचय ही क्या था ? सो यह निमंत्रण भी एक तरह से याचित ही था। विशु मुखोपाध्याय से मेरी थोड़ी-बहुत मैत्री थी। उसी की पैरवी से देवानन्दपुर जाकर मुझे भाषण सुनना था। कृतार्थ होना था। इससे अधिक कुछ भी नहीं।

लेकिन मेरे लिए सभा का आकर्षण भाषण सुनना नहीं था। असली आकर्षण था सभा के अध्यक्ष विभूति भूषण वंद्योपाध्याय के लिए।

मैंने विशु से कहा, "विभूति बाबू से मैं भली-भाँति परिचित हूँ।" शुरू मे विशु को विश्वास ही नहीं हुआ। विभूति बाबू से मेरा परिचय होना विशु के लिए असंभव जैसी बात थी।

विशु ने कहा, "परिचय कहाँ हुआ था ?"

मैंने कहा, "एक दिन राणाघाट की ट्रेन में परिचय हुआ था। यह पाँच-छह वर्ष पहले की बात है।"

विशु इस पर भी यकीन करने को तैयार नहीं हुआ।

बोला, "किस तरह का परिचय हुआ था ?"

मैंने कहा, "कई घण्टे तक उनके साथ अड्डेबाजी की है।

मुझे देखते ही वह पहचान लेंगे। बड़े ही मिलनसार आदमी हैं।"

विशु उस समय बहूबाजार के प्रेस मे था। मैं और अविनाश बाबू हर रोज अड्डा जमाते थे। वहीं द्विजेन्द्र नाथ मुंशी नामक एक वृद्ध ने बडे आदर के साथ उन दोनों को निमंत्रित किया। मैं बगल में ही बैठा था।

विशु बोला, "इसे भी एक कार्ड दे दें द्विजुदा। यह भी लिखता-पढ़ता है।

कार्ड पाते ही मैंने अपने को धन्य समझा। उस पर कार्ड में विभूति भूषण बंद्योपाध्याय का नाम लिखा था। विभूति बाबू से बहुत दिनों के बाद भेंट होगी, यह भी क्या कोई कम बात है!

निर्धारित तिथि पर हम तीनों हवड़ा में ट्रेन पर सवार हुए। हम शरतचन्द्र स्मृति-सभा के निमंत्रित श्रोता हैं—मैं भी एक महत्वपूर्ण व्यक्ति हूँ!

मैंने विशु से कहा, "और कोई नहीं जा रहा है?"

विशु बोला, "बाकी लोग दूसरे डिब्बे में हैं। बण्डेल में उतरते ही दिखायी पड़ेंगे।"

ट्रेन हर स्टेशन पर रुकती हुई जा रही थी। मैं सोच रहा था, इतने दिनों बाद विभूति बंद्योपाध्याय से भेंट होगी। पता नहीं, कैसे उनसे शुरु में बातचीत करूँगा। लेकिन इतने दिनों के बाद भी अपना परिचय देने के लिए मेरे पास कुछ नहीं है। मैंने कौन-सी पुस्तक लिखी है? मेरी कितनी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं? मैंने तो लिखना छोड़ ही दिया था। देख कर वह मुझे क्या पहचानेंगे? वह सुविख्यात व्यक्ति हैं और मैं अख्यात, अवज्ञात और अवहेलित। उन्हें मैं क्या कह कर अपना परिचय दूँगा?

इस घटना के दो वर्ष पूर्व की बात मुझे याद है। यानी उस समय कुल मिला कर मैंने लिखना शुरु किया था। मासिक पत्रिका खोल कर तब मैं रचना से अधिक लेखक पर ही ध्यान देता था। रचना चाहे पढ़ूँ या न पढ़ूँ मगर लेखकों का नाम कण्ठस्थ कर लेता था। उस समय कुल मिला कर युद्ध का एक वर्ष बीत चुका था। अपने भांजे काबुल के साथ मैं देस जा रहा था।

काबुल मेरा भांजा भी था साथ ही साथ साहित्य-गुरु भी।

जिस उम्र में मन की बात न कहने से छटपटाहट महसूस होने लगती है, काबुल और मैं उसी उम्र के थे।

काबुल ने एक दिन कहा, "सतीर पति' (सती का पति) पढ़े हो?"

सतीर पति!

मैंने कहा, "सतीर पति क्या है?"

काबुल ने कहा, "सतीर पति प्रभात मुखोपाध्याय ने मासिक 'वसुमती' में लिखा है—'नीलवसना सुन्दरी' से भी अच्छी रचना है।"

एक तरह से कहा जा सकता है कि काबुल की देखादेखी मैंने भी पद्य लिखना सीखा।

काबुल ने एक बार शरद ऋतु पर कविता लिखी थी। उस कविता की दो पंक्तियाँ आज भी मुझे याद हैं—

> शरतेर सोनाली रोद शिशिर-सबुज
> आमार ए हिया हाय करेछे अबुझ*

काबुल को देखकर उसी समय से मुझे रश्क होता था। वह किसी दिन बहुत बड़ा

---

* शरदऋतु की सुनहली धूप फैली है, ओस और हरियाली का मेला है। इस दृश्य ने मेरे हृदय को अभिभूत कर दिया है।

कवि हो जायेगा। मैं कुछ भी नहीं हो पाऊँगा। हमारे घर मे उपन्यास पढने का निषेध था। छिपकर घर से बाहर पढना पड़ता था। आलमारी के अन्दर सुनहरे अक्षरों मे नाम लिखी जिल्ददार वसुमती साहित्य मन्दिर की कुछेक ग्रंथावली थी—वंकिमचन्द्र, माइकेल मधुसूदन, हेमचन्द्र, दीनवंधु मित्र वगैरह की पुस्तकें। माँ से मैं बहुत बार उन पुस्तकों की माँग कर चुका था।

माँ कहती, "पहले अपनी पढाई-लिखाई करो वरना मूर्ख ही रह जाओगे। कोई तुम्हारी ओर नजर उठाकर भी नहीं देखेगा।"

पिता जी कहते, "उन पुस्तको को पढने का तुम्हें काफी वक्त मिलेगा वेटा। उपन्यास नाटक पढने का जीवन मे बहुत मौका मिलेगा, अभी भविष्य के बारे मे सोचो।"

लेकिन कावुल के घर की बात दूसरी ही थी। उसके घर पर मासिक 'वसुमती', 'भारतवर्ष', 'प्रवासी' वगैरह आते थे। इसके अलावा दीदी मुहल्ले के पुस्तकालय से उपन्यास ले आती थी। कावुल ने खुद भी 'विधिलिपि' नामक एक उपन्यास लिखने की योजना बनायी थी। कम उम्र मे पिता की मृत्यु हो जाने पर नायक ने किस प्रकार ट्यूशन पढाने के लिए जाने पर एक छात्रा से शादी कर ली और उसे बेशुमार पैसा मिला, उपन्यास का यही प्लॉट था। कावुल ने मुझे यह भी बताया था कि उपन्यास का अन्त कैसे करेगा। अव वह सव वात मुझे याद नहीं है। लेकिन कावुल की क्षमता देख कर मैं सचमुच ही अवाक् हो गया था। उसके नायक की विधिलिपि की क्या परिणति हुई, यह जानने का मुझे अवकाश भी नहीं मिला। क्योकि वह पुस्तक न तो लिखी गयी और न प्रकाशित हुई। कावुल की विधिलिपि उसे साहित्य-संसार से मिलिटरी की दुनिया मे ले गयी थी और उस विधिलिपि ने उसे भले ही बड़ा आदमी नहीं, मगर हवलदार तो जरूर ही बना दिया था।

मैं जिस समय की वात कह रहा हूँ उस समय मेरी थोड़ी-बहुत रचनाएँ प्रकाशित होने लगी थीं और कावुल ने पत्रिका-कार्यालय मे रचना भेजना वन्द कर दिया था। रात रहते ही नींद से जगकर कावुल और मैंने सियालदह स्टेशन जाकर सवेरे की गाड़ी पकड़ी। युद्ध का समय था। ट्रेन मे तिल रखने की जगह नहीं थी, यहाँ तक कि ट्रेन की छत पर भी लोग बैठे हुए थे। सियालदह स्टेशन पर बैठा तो चारो ओर के मुसाफिरों के दवाव से तंग स्थान मे बैठे ही रह जाना पडा। गरमी ऐसी थी कि लग रहा था, भेजा पिघल जायेगा।

कावुल ने एकाएक कहा, "वह देखो, 'आदर्श हिन्दू होटल;।"

अब तक निगाह नहीं गयी थी। देखा, बगल मे ही कोने मे दुबक कर एक आदमी ध्यान से 'आदर्श हिन्दू होटल' पुस्तक पढ रहा है।

कावुल ने कहा, "अच्छा लिखा है, मैंने पढा है।"

मैंने कहा, "किसने लिखा है?"

कावुल बोला, " 'पथेर पांचाली' नहीं पढ़े हो? उन्हीं की लिखी पुस्तक है। विभूति भूषण वंद्योपाध्याय। तुमसे कुछ नहीं होगा, तुम यह नहीं जानते कि 'आदर्श

हिन्दू होटल' का लेखक कौन है और इस पर तुर्रा वह कि कहानी-लेखक बनना चाहते हो।"

काबुल ने भी मेरी ही तरह तमाम पत्र-पत्रिकाओं में रचना भेजी थी लेकिन उसकी रचना वापस आ गयी थी। इससे उसके उत्साह में कोई कमी नहीं आयी थी। मुझ पर वह अपनी गुरुगिरी का रौब पहले की तरह ही गालिब कर रहा था।

उस समय वह सज्जन पुस्तक को बगल में रख कर आँख बन्द किये पड़े थे।

काबुल पुस्तक को लेकर उलटने-पुलटने लगा। किताब खासी अच्छी मोटी थी। लगभग तीन सौ पृष्ठ होंगे।

काबुल ने कहा, "मेरी 'विधिलिपि' छापी जायेगी तो वह इससे भी अधिक मोटी होगी। इसी तरह उसके ऊपर एक चित्र देना होगा।"

यह कह कर काबुल जिल्द पर की लिखावट पढ़ने लगा। 'आदर्श हिन्दू होटल' विभूति भूषण का एक नये प्रकार का उपन्यास है। देहात के बाजार के एक होटल को केन्द्र बना कर लेखक ने होटल के मालिक और वहाँ के स्त्री-पुरुषों के जीवन, चिन्तन, *आशा-आकांक्षा सुख-दुख का देहात के परिवेश में अत्यन्त कुशलता के साथ चित्रण किया* है। पाठक कुछ क्षणों के लिए राणाघाट कस्बे के इस छोटे चावल के होटल के दरिद्र, अशिक्षित परन्तु सरल स्त्री-पुरुषों के अनजाने जगत में स्वयं को पूरी तरह खो बैठेंगे"

काबुल ने कहा, "विधिलिपि की जिल्द पर भी इसी तरह का कुछ लिखना होगा, समझे न 'विधिलिपि' पढ़ कर पाठक कुछ क्षण के लिए शिक्षित परन्तु सरल स्त्री-पुरुष के अपरिचित जगत में बिलकुल खो गये।…"

मैं भी पुस्तक को उलटने-पुलटने लगा। नयी पुस्तक है, बंगाब्द १३४७ के आश्विन में छपी हुई।

पुस्तक को उलटते-पलटते एक स्थान पर आकर मेरी दृष्टि थमक गयी।

काबुल के कान के पास मुँह ले जाकर मैंने चुपके से कहा, "अरे, इन सज्जन का ही नाम विभूति भूषण बंद्योपाध्याय है।"

काबुल चौंक कर बोला, "कैसे समझा ?"

"यह देखो।"

मैंने काबुल को दिखाया—पुस्तक के प्रथम पृष्ठ पर उस सज्जन ने स्याही से अपना नाम लिख दिया है—विभूति भूषण बंद्योपाध्याय, २० आश्विन, १३०७ बंगाब्द।

काबुल की आँखों में आश्चर्य दौड़ गया।

विभूति भूषण बंद्योपाध्याय सशरीर गाड़ी में विराजमान हैं!

मैं और काबुल दोनों उनके चेहरे की ओर ताकते हुए हतप्रभ जैसे बैठे रहे।

सज्जन तब भी आँख बन्द किये थे। पहरावा था खादी का कुरता, गले का बटन खुला हुआ। सिर पर घुंघराले बाल। मुँह में पान। पाँवों में अलबर्ट जूते। मैं गौर से उन्हें आपाद मस्तक देखने लगा। किसने सोचा होगा कि विभूति भूषण बंद्योपाध्याय का चेहरा इस तरह का है!

काबुल बोला, "चेहरा देख रहे हो न। बिलकुल लेखक जैसा ही है।"

मैंने भी देखा—वास्तव मे लेखक जैसा ही चेहरा है, शरतचन्द्र का चेहरा देखा था—देखने मे बहुत-कुछ वैसा ही लग रहा है। फिर क्या लेखक देखने मे ऐसे ही लगते हैं ? हम जिस तरह बाल कटाते हैं, उसी तरह बाल कटे हैं। कोई अन्तर नहीं। शरीर का रंग भी काला है। हम लोगों जैसा। हाथ की उँगलियाँ भी देखी। इन्हीं उँगलियो से तो कलम पकड़ कर लिखते होगे। ठीक हम लोगो जैसी उँगलियाँ हैं। मैं और काबुल अपने-अपने हाथ की उँगलियाँ देखने लगे। कोई अन्तर नहीं।

काबुल बोला, "देखो, उनकी उँगलियाँ बहुत कुछ मेरी उँगलियों से मिल रही हैं।"

मैंने कहा, "मेरी उँगलियों से भी मिल रही है, यह देखो।"

सज्जन ने अब आँखें खोलीं। ट्रेन आकर किस स्टेशन पर रुकी है, यही देख लिया तब हमारा ध्यान कहीं और नही था। हम अवाक् हो निप्पलक उनकी ओर देखने लगे। सज्जन बगल में रखी पुस्तक को लेकर पुनः पढ़ने लगे।

कहना होगा कि काबुल साहसी है।

वह सीधे पूछ बैठा, "यह क्या आपकी पुस्तक है ?"

सज्जन ने काबुल के सवाल पर जरा मुड़ कर देखा।

बोले, "मुझसे कह रहे हो ?"

काबुल ने कहा, "हाँ, यही पूछ रहा हूँ कि यह पुस्तक क्या आपकी है ?"

सज्जन बोले, "नहीं, वह जो उस ओर सज्जन बैठे हैं, उनकी है।"

डब्बे के दूसरे छोर पर एक सज्जन बैठे थे। उसी ओर उँगली से संकेत किया।

काबुल ने कहा, "वही जो गोरे रंग के सज्जन हैं और बाहर की ओर ताक रहे हैं ?"

सज्जन ने कहा, "नहीं; उनके बगल वाले आदम की, जो उठंग कर बैठे हैं और अखबार पढ़ रहे हैं।"

मैं और काबुल दोनों ने गौर से देखा। उनका आधा चेहरा अखबार की ओट में था। अच्छी तरह दिखायी नहीं पड़ रहा था। हम दोनों शर्म से पानी-पानी हो गये। एक बेकार आदमी को विभूति भूषण बंद्योपाध्याय समझ कर इतनी देर तक हम क्या-क्या सोचते रहे !

काबुल ने चुपके से कहा, "आँखें देख कर ही मैं समझ गया था कि यह आदमी किसी भी हालत मे विभूति बंद्योपाध्याय नहीं हो सकता है।'

मैंने कहा, "क्यों ? इन ी आँखें कैसी हैं ?"

काबुल बोला, "धत्त, लेखकों की आँख भला कहीं ऐसी होती है ? शरतचन्द्र की तसवीर तुमने देखी नहीं है ?"

उसके बाद मुसकरा कर बोला, "चलो, जरा उनके पास चलकर बैठें।"

मैंने कहा, "क्यों ?"

काबुल बोला, "उनसे जान-पहचान करूँगा।"

मैंने कहा, "वहाँ बैठने की जगह नहीं है।"

काबुल तब तक जगह छोड़कर खड़ा हो चुका था।

बोला, "चले आओ, उनकी बगल में जाकर खड़े हो जायेंगे। बादवाले स्टेशन में कोई उतरेगा तो बैठ जायेंगे।"

भीड़ ठेल-ठालकर मैं काबुल के पीछे जाकर खड़ा हो गया। मैं विभूति बाबू की ओर ताकने लगा। उस समय भी उनका चेहरा अखबार से ढँका था। सफेद पापलिन का कुरता। पाँवों में जूता। आँखों में मोटे फ्रेम का चश्मा। शरीर का रंग काला। दोहरी काठी का आदमी—न दुबला और न मोटा।

मैंने काबुल से कहा, "तुमने इस बात पर ध्यान दिया कि विभूति बाबू की दृष्टि इधर-उधर कहीं नहीं भटकती है?"

काबुल बोला, "लेखक हैं न!"

मैंने कहा, "मुझे भाई, जरा डर लग रहा है।"

काबुल बोला, "क्यों? डर किस बात का? मैं तो हूँ ही।"

"अगर वह हम लोगों से बातचीत नहीं करें?" मैंने कहा।

"तुम्हें कुछ नहीं कहना है, मैं बातचीत करूँगा। 'आदर्श हिन्दू होटल' की तो सारी बात मुझे जबानी याद है, मैं ही पूछताछ करूँगा।"

"क्या पूछोगे?"

काबुल बोला, "सबसे पहले पूछूँगा कि आपका क्या कोई होटल है? जानते हो, चावल का होटल रहे बगैर कोई इस तरह की किताब नहीं लिख सकता। अनुभव न रहे तो लेखक लिखेगा क्या? मेरी ही 'विधिलिपि' की बात लो। अनुभव है इसीलिए तो लिख सका हूँ—वह सब मैंने अपनी आँखों से देखा है न! लिखना है तो सब कुछ अपनी आँखों से देखा हुआ होना चाहिए तभी वास्तविक होगा।"

मैं खामोश था। काबुल ने मुझसे बहुत अधिक पढ़ा है, वह बहुत कुछ जानता है। इतना जरूर है कि काबुल की रचना कहीं छपती नहीं है। मगर 'विधिलिपि' छप जायेगी तो काबुल का नाम चारों तरफ फैल जायेगा। मेरी जो भी रचना 'प्रवासी' में छपती थी, काबुल उसे पढ़ता था। कहता: तुम्हारी रचना में अभी बहुत खामी है।

काबुल की रचना वापस आ जाती और मेरी रचना प्रकाशित होती थी, इसके लिए काबुल के मन में कोई दुःख नहीं था।

कहता, "इस तरह की बात होती है। पहले विभूति भूषण बंद्योपाध्याय का नाम क्या किसी को मालूम था? 'पथेर पाँचाली' प्रकाशित होने के पहले कोई उनके नाम से परिचित था? मेरी 'विधिलिपि' प्रकाशित होगी तो देखना, संपादक कितना अफसोस जाहिर करेंगे—उस समय देखोगे, जिन रचनाओं को वापस कर दिया है, कहूँगा पहले उन्हें ही छापो तभी तुम लोगों को अपनी रचना दूँगा।"

चारों तरफ भीड़। धूप और गरमी से मुसाफिरों की हालत खस्ता है। बाहर से

गरम हवा आ रही है—और पूरा जिस्म जैसे झुलसता जा रहा है। तीसरे दर्जे का डिब्बा—दसगुने लोग एक ही गाडी के अन्दर घुस आये हैं।

मगर विभूति भूषण का ध्यान कहीं किसी ओर नहीं है। वह अब भी अखबार में डूबे हुए हैं। युद्ध का समय है—अखबार तरह-तरह की खबरों से भरा है। गाडी के और भी बहुत से लोग अखबार पढ़ने में मशगूल हैं। वे बगल के आदमी से बातचीत और जान-पहचान कर थक गये हैं। हम रात रहते ही घर से निकले हैं—देश पहुँचने में रात को नौ बज जायेंगे। हर साल काबुल और मैं आम के मौसम में आम खाने के लिए देश जाते हैं। ट्रेन बारह बजे राणाघाट पहुँचेगी। वहीं कुछ खा-पीकर तीन बजकर बयालीस मिनट पर गाड़ी पकड़नी होगी।

मैंने कहा, "देख रहा हूँ, विभूति बाबू तो खूब पान खाते हैं।"

सचमुच ही विभूति बाबू ने डब्बे से पान निकाल कर मुँह में रखा।

काबुल ने कहा, "पान खाना अच्छी चीज है, अब मैं भी पान खाऊँगा।"

तभी कोई स्टेशन आ गया। कई व्यक्ति चढ़े और उतरे। हम लोगों की तरफ जैसे ही एक जगह खाली हुई काबुल और मैं झट से वहाँ बैठ गये—बिलकुल विभूति बाबू के सामने। अखबार जैसे ही हटायेंगे उन्हे सामने से देख सकेंगे। लेकिन वह अखबार हटा नहीं रहे हैं और हम भी उन्हे देख नही पा रहे हैं। हमे बेहद बेचैनी महसूस होने लगी। सोचा, अखबार मे ऐसी कौन-सी चीज है कि तल्लीन होकर पढ़े जा रहे हैं।

काबुल ने मुझे चुपके से कहा, "तुम कुछ मत बोलना, कहने को जो होगा, मैं कहूँगा।"

थोड़ी देर बाद विभूति बाबू ने अखबार से आँख हटायी। एकबार खिड़की से बाहर की ओर देखा। देखने लगे तो फिर देखने मे ही मशगूल हो गये। इस ओर आँख घुमाने का नाम ही नहीं लिया। मैंने विभूति बाबू की आँखो की ओर देखा। उनकी आँखों को देखते ही समझ गया कि वे सपनों में डूबी हुई हैं। जैसे देख नहीं रहे हैं, दृष्टिपात कर रहे हैं। लेखकों का देखना ऐसा ही होता है! जिन चीजो को देखना है, उन्हे ही देखेंगे—बाकी सब कुछ देखकर भी जैसे नहीं देखते हैं। यह सब बात मुझे काबुल ने ही बतायी थी। काबुल ने और भी बहुत सारी बातें बतायी थीं।

काबुल कहता था, "अगर लेखक की हैसियत से नाम कमाना चाहते हो तो आँख ही नहीं, कान भी खोलकर रखना पड़ेगा—आँख-कान खोलकर नहीं रखोगे तो अनुभूति होगी ही नहीं। मेरी 'विधिलिपि' पढ़ोगे तो समझ मे आयेगा कि सब कुछ मैंने अपनी आँख-कान से देखा-सुना है।"

अचानक विभूति बाबू को जाने क्या हुआ कि उन्होंने हमलोगों की ओर देखा।

बोले, "तुम लोग कहाँ जा रहे हो?"

काबुल तैयार था ही।

उत्तर दिया, "हम फतेहपुर अपने देश जा रहे हैं—वहाँ हमारे आम के पेड़ हैं, हम आम खाने जा रहे हैं।"

विभूति बाबू बोले, "फिर तो तुम्हे राणाघाट में उतरना होगा। भात कहाँ खाओगे? तुम लोगो की गाड़ी तो तीन बजकर बयालीस मिनट पर है।"

काबुल बोला, "राणाघाट में लगता है आपका होटल है।"

विभूति बाबू अवाक् हो गये। बोले, "तुम लोगों को इसका पता कैसे चला ? मैंने नया-नया होटल खोला है।"

काबुल बोला, "हमें मालूम है। हम दोनों आज आपके होटल में ही खाना खायेंगे।"

विभूति बाबू मुसकराये।

काबुल का साहस बढ़ गया। कहा, "फर्स्ट क्लास का चार्ज पाँच आना और सेकेण्ड क्लास का तीन आना—फर्स्ट क्लास में मुड़ीघण्ट* और सेकेण्ड क्लास में मसूर-खेसारी की मिली हुई दाल—"

विभूति बाबू ने दिलचस्पी के साथ कहा, "तुम लोगों को तो सब कुछ मालूम है।"

काबुल ने कहा, "हमलोगों ने 'आदर्श हिन्दू होटल' पुस्तक पढ़ी है।"

विभूति बाबू ने हँसकर कहा, "तुम लोगों ने पढ़ी है ? ठीक-ठीक मिल जाता है न ?"

काबुल ने कहा, "पुस्तक मुझे बहुत अच्छी लगी है। इच्छा होती है, दो-चार दिन होटल में ही बिता आऊँ।"

विभूति बाबू उसी तरह हँसने लगे।

बोले, "उधर उस किनारे जो आदमी है, उन्होंने पढ़ने के लिए माँगी थी। बहुतों ने पढ़कर बताया कि पुस्तक अच्छी है।"

काबुल ने कहा, "हजारी ठाकुर अभी तक वहीं हैं ? जाने पर उसे देखूँगा।"

विभूति बाबू फिर हँस पड़े। हँसी रोककर बोले, "हजारी नहीं, मेरे रसोइये का नाम विश्वंभर है। उसी नाम को हजारी बना दिया गया है।"

काबुल ने कहा, "आपने 'सतीर पति' पढ़ा है ?"

"विभूति बाबू ने कहा, 'सतीर पति' किसने लिखा है ?"

"आपने पढ़ा नहीं है ? प्रभात मुखोपाध्याय ने लिखा है। मैंने उसे बचपन के समय 'वसुमती' में पढ़ा था। वह जितना अच्छा लगा था उतना ही अच्छा 'आदर्श हिन्दू होटल' भी लगा है।"

विभूति बाबू ने कहा, "तुम लोग कहाँ रहते हो ?"

काबुल ने कहा, "यह चेतला में रहता है और मैं बालीगंज में। यह मेरा मामा लगता है।"

विभूति बाबू बोले, "बहुत अच्छी बात है। लगता है तुम दोनों की उम्र एक ही है।"

काबुल ने कहा, "यह भी लिखता है।"

विभूति बाबू ने मेरी ओर देखते हुए पूछा, "क्या लिखता है ?"

---

* मछली के सिर से प्रस्तुत व्यंजन विशेष।

काबुल ने कहा, "यही कहानी वगैरह। पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ छपती भी हैं। नाम है विमल मित्र।"

"किसकी पत्रिका में?"

काबुल ने कहा, "प्रवासी वगैरह में बीच-बीच में लिखता है⋯"

विभूति बाबू ने अब मेरी ओर ध्यान से देखा। मैंने सिर झुका लिया। सोचा, अगर पूछ बैठें तो क्या उत्तर दूँगा? मैं अन्दर-अन्दर ही संकुचित हो उठा।

काबुल ने पूछा, "आप 'प्रवासी' नहीं पढ़ते हैं?"

विभूति बाबू ने कहा, "पढ़ता हूँ, तब हाँ, हमेशा पढ़ नहीं पाता हूँ।"

काबुल ने कहा, "मैंने भी एक उपन्यास लिखा है। लगभग तीन सौ पृष्ठ लिख चुका हूँ। नाम रखा है 'विधिलिपि'।

विभूति बाबू ने कहा, "वाह, बहुत ही अच्छा नाम रखा है।"

काबुल ने उत्फुल्ल होकर कहा, "आपको पसन्द आया?"

विभूति बाबू ने डब्बे से एक और पान निकालकर मुँह के अन्दर रखा। उसके बाद अखबार निकाल कर फिर ध्यान से पढ़ने लगे।"

काबुल ने कहा, "उपन्यास ले आता तो अच्छा होता, पढ़कर इन्हें सुनाता।"

मैंने कहा, "सूटकेस में मेरी दो प्रकाशित रचनाएँ रखी हुई हैं। पढ़ने को दूँ?"

काबुल ने कहा, "छोटी कहानी पढ़ने का कष्ट देने से लाभ नहीं है, उपन्यास होता तो दूसरी बात थी। कहानी तो सभी लिख सकते हैं, इसमें बहादुरी की कौन-सी बात है?"

उसके बाद जरा रुककर चुपके से कहा, "आज न हो चलकर हम दोपहर के वक्त इनके होटल में जाकर भात खा आयें। सेकेण्ड क्लास खाओगे या फर्स्ट क्लास?"

मैंने पैसा गिनकर देखा—मेरे पास एक रुपया चार आना था।

काबुल ने कहा, "परवाह नहीं, मेरे पास भी एक रुपया है। न होगा तो उस ओर तीन कोस रास्ता पैदल ही चल चलेंगे।"

स्टेशन से उतरकर तीन कोस रास्ता जाना था। पैदल या फिर बैलगाड़ी से जाया जाता है। बीच में इछामती नदी पार करनी पड़ती है। उसके लिए दो व्यक्तियों के लिए मात्र दो पैसा देना पड़ेगा। पैदल ही चल चलेंगे। विभूति बाबू के होटल में हम फर्स्ट क्लास में ही खाना खायेंगे। सेकेण्ड क्लास में खायेंगे तो हमारा सम्मान नहीं रहेगा। परिचय तो हो ही गया है। होटल में ठहरेंगे तो परिचय और अधिक दृढ़ हो जायेगा।

लगभग बारह बजे ट्रेन राणाघाट पहुँची। इसके पहले राणाघाट आने पर हम गरम-गरम दूध और गुलाब जामुन खाकर भूख मिटाते थे। अबकी ऐसी बात नहीं है। अबकी गरम-गरम भात, मछली का झोल, दाल, भुजिया सब्जी⋯

चारों ओर शोर-शराबा मच गया।

"लीजिए साहब, यह आपकी किताब रही।"

पहलेवाले सज्जन ने विभूति बाबू के हाथ में पुस्तक थमा दी।

विभूति बाबू बोले, "तुम लोगों को भी चलना है न? चलो।"

कुली असबाब लिए कमरे के अन्दर घुस आये। गरमी से अब तक सब लोग सीझ गये थे। अब हम छाजनदार प्लेटफार्म पर उतरकर समोसा खायेंगे और चाय पियेंगे।

हमलोगों का कुली सरो-सामान उठाने में देर कर रहा है।

विभूति बाबू के साथ कोई सरो-सामान नहीं है।

बोले, "तुम लोग बाद में आना, मैं चल रहा हूँ। राणाघाट हिन्दू होटल कहते ही तुम्हें पहुँचा देंगे।"

काबुल ने कहा, "कितने अच्छे आदमी हैं! इतने बड़े आदमी हैं मगर जरा भी अहंकार नहीं।

मैंने कहा, "लेखक हैं मगर होटल क्यों खोला है?"

काबुल ने कहा, "कमरे में छिटकनी बन्द कर पड़े रहने से कहीं कोई लेखक होता है? होटल खोलने में कितनी ही तरह के लोगों से जान-पहचान होती है, कितने ही तरह के अनुभव होते हैं—यही तो फायदे की बात है।"

विभूति बाबू चले गये।

कुली ने सिर पर सामान रखकर पूछा, "आपलोग कहाँ जाइएगा?"

मैंने कहा, "रेल बाजार, राणाघाट हिन्दू होटल।"

और कुछ कहने की जरूरत नहीं पड़ी। कुली माल लेकर आगे-आगे चलने लगा। आस-पास लोगों की भीड़ है। हम भीड़ चीर कर आगे बढ़ रहे हैं। लोगों की बातचीत के टुकड़े कानों में आ रहे हैं। ऐसा महसूस होने लगा जैसे हम सचमुच ही विभूति बंद्योपाध्याय के देश में पहुँच सके हैं। जितनी बार हम इधर आये हैं, हमें महसूस हुआ है कि राणाघाट के उस पार बनगाँव, शान्तिपुर, केष्टनगर वगैरह तमाम अंचल जैसे विभूति बंद्योपाध्याय के ही अंचल हैं। आज भी यह सोचकर आश्चर्य लगता है कि किसी समय इसी अंचल ने पूरे बंगाल को जीत लिया था और आज शायद दुनिया को ही जीत लिया है। एक दिन इसी अंचल के एक शिशु ने बंगाल में आकर तहलका मचा दिया था। यह कोई ज्यादा दिनों की बात नहीं है। 'कालीकलम' और 'कल्लोल' ने तब खूब तहलका मचा दिया था। एक दल कह रहा है, इस तरह की चीज इसके पहले लिखी नहीं गयी है। यह एक महान् सृजन है। दूसरा दल कह रहा है, यह सब गन्दी चीज है। यह असाहित्य है। तत्कालीन 'बंगवाणी', 'स्वदेशी बाजार', 'सोनार बांगला', 'शनिवारेर चिट्ठी' में उस संबंध में बहुत बड़ा शोर-गुल मच गया था। हम उन दिनों बिलकुल छोटे-छोटे थे। किसकी बात पर यकीन करते! रवीन्द्रनाथ कह रहे हैं कि असाहित्य है तो असाहित्य ही होगा। लेकिन जब शरतचन्द्र ने कहा, यही असली साहित्य है, तो हमें लगा कि यही साहित्य है। इसी तरह कई वर्ष बीत गये। मानो लगभग १९३०-३२ ई० तक के बंगाल के दैनिक और मासिक इस बात के गवाह हैं। बहस का यह सिलसिला किसी भी तरह थमने का नाम नहीं ले रहा था। बहस के

तूफान से जब आसमान काला हो गया तो दैवात् एक अद्भुत काण्ड हुआ।

काबुल मेरा तत्कालीन साथी था। एक दिन शाम को दौड़ते-दौड़ते मेरे घर पर आया।

वह हाँफ रहा था।

मैंने कहा, "अचानक किस मकसद से आ धमके ?"

परीक्षा बिलकुल सामने है। हमारे पास नहाने-खाने तक का समय नहीं है। पुस्तक के चलते हम परेशान हो उठे थे। एक पृष्ठ पढ़ते थे तो दूसरा भूल जाते थे। कहाँ-कहाँ सँभालूं, ताल-मेल बिठा नहीं पाते थे। ऐसे मे काबुल के चेहरे की मुद्रा देखकर मैं आश्चर्य मे आ गया।

मैंने कहा, "परीक्षा की पूरी तैयारी कर चुके क्या ?"

काबुल बोला, "नहीं, क्या करूँ समझ मे नहीं आ रहा है, इसीलिए तुम्हारे पास आया हूँ।"

मैंने कहा, "क्यो तुम्हे क्या हुआ ?"

काबुल खुशी से नाच उठा।

बोला, "एक ऐसी पुस्तक पढ़ी है…"

मैंने कहा, "सतीर पति ?"

काबुल बोला, "दुत, 'सतीर पति' नहीं, यह कोई बनी-बनायी कहानी नहीं है! यह बिलकुल सच्ची घटना है—हमलोगो के फतेहपुर की कहानी है। उसी तरह आम चुनने और आम की गुठली से भोंपू बजाने की बात है—जैसे हम लोगों को देखकर लिखी गयी हो—"

मैंने कहा, "पुस्तक का नाम क्या है ?"

काबुल ने कहा, 'पथेर पाँचाली'।

मैंने कहा, "किसने लिखा है ?"

काबुल ने कहा, "विभूति भूषण बंद्योपाध्याय ने।"

मुझे भी आश्चर्य हुआ। न तो शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय, न प्रभातकुमार मुखोपाध्याय और न ही शैलजानन्द मुखोपाध्याय ने लिखा है। यह तो बिलकुल नया नाम है। यह तो बिलकुल नया लेखक है।

काबुल ने कहा, "बहुत सारी किताब पढ़ चुका हूँ भाई, लेकिन यह और ही तरह की रचना है।"

सचमुच और ही तरह की है। इतना आँधी-तूफान उठा लेकिन सब एक ही मिनट मे शान्त हो गया। कौन साहित्य है और कौन असाहित्य, इस पर अब माथापच्ची नहीं करना होगा, विचार-विश्लेषण नहीं करना होगा। अब पूर्णतः मूर्तिमान साहित्य सामने आकर उपस्थित हो गया है।

उसी विभूति भूषण बंद्योपाध्याय से भेंट हो गयी। वही विभूति भूषण बंद्योपाध्याय एक बारगी छत के नीचे चहारदीवारी के अन्दर मिल गये हैं, यह क्या कोई कम बात है।

कुली रेल बाजार में सरो-सामान ले आया। टीन के छाजन का पीले रंग का मकान साइन बोर्ड में लिखा है—राणाघाट हिन्दू होटल। दीवार पर अलकतरे से मोटे-मोटे अक्षरों में लिखा है।

आइये, बड़े भाई आइये।

भले आदमी के लिए सस्ते भोजन का इन्तजाम आइये! देखिये!! परीक्षा कीजिये!!!

लगा, एक दुर्गम स्थान को पार कर हम एकबारगी देवमन्दिर में आ पहुँचे हैं। कहाँ वह मुगलकाल की दुर्गेशनन्दिनी! कहाँ वह राजस्थान के पार्वत्य प्रदेश का रूपनगर एक बूढ़ी और रूपनगर के राजा विक्रम सिंह के अन्दर महल में कुछ तसवीरें बेचने आयी है।

एक लड़की ने पूछा, "यह किसकी तसवीर है?"

बूढ़ी औरत ने कहा, "यह बादशाह शाहजहाँ की तसवीर है।"

लड़की ने कहा, "दुत, मैं तो इस दाढ़ी को पहचानती हूँ। यह मेरे दादा की दाढ़ी है।"

एक दूसरी लड़की ने कहा, "अपने दादा का नाम लेकर असली बात क्यों छिपा रही हो? यह तो तुम्हारे दूल्हे की तसवीर है।"

इन राजा-रजवाड़ों, जमींदार-जोतदार की सदर ड्योढ़ी पार कर हम बहुत कष्ट के साथ कलकत्ता पहुँचे। कलकत्ता आने पर देखा, एक मकान में जोरदार तर्क चल रहा है।

हरमोहिनी कह रही हैं, एक बात कह रही हूँ। जो करना हो करो, मगर उस बेयरा के हाथ का पानी मत पियो।"

बगल में ही एक दूसरी लड़की खड़ी थी। उसका नाम सुचरिता है। उसने कहा, "क्यों मौसी, यह रामदीन बेयरा ही तो अपनी गाय दुहकर तुम्हें दूध दे जाता है।"

हरमोहिनी ने आश्चर्य में आकर कहा, "तुमने तो बिटिया मुझे हैरत में डाल दिया। दूध और पानी क्या एक ही चीज है?"

हम उस दिन के अंग्रेजशासित नारीवर्जित समाज में ललिता को देखकर अवाक् हो गये थे। हम नींद में भी बरामदे की रेलिंग से टिकी सुचरिता की तसवीर साफ-साफ देखते थे।

हमलोगों की हिम्मत बहुत बढ़ गयी। हिम्मत पाकर हम बहुत आगे बढ़ गये, और अधिक रास्ता तय किया। गृहस्थ का घर छोड़कर एक मेस के दो मंजिले में जाकर देखा कि यहाँ का माहौल कुछ और ही है। एक कमरे में सतीश अकेले बैठा है, बाकी लोग दफ्तर चले गये हैं।

तभी नौकरानी सावित्री ने कमरे के अन्दर प्रवेश किया। बोली, "यह क्या तुम स्कूल नहीं गये?"

उसके बाद हम जहाज पर सवार हो बर्मा गये, विलायत गये। कौन सी ऐसी जगह है जहाँ नहीं गये? जैसे किसीने हमें अफीम पिला दी हो। हम श्रीकान्त के साथ

रोये, उसे प्यार किया। कभी हम भी घर छोड़ वैरागी बन गये हैं, रास्ते-रास्ते का चक्कर लगाया है और लोगों को रुलाया है। कभी-कभी हमने शैलजानन्द के साथ 'सोलह आना' गाँव की परिक्रमा की है। आदमी के साथ-साथ गाँव के कुत्ते, बिल्ली—यहाँ तक कि पेड़-पौधे तक हमारे अपने हो गये हैं। हमारी आँखों को शीतलता मिली है, मन को परिपूर्णता। हमने और कुछ भी सुनना नहीं चाहा। हमें और कुछ अच्छा नहीं लगा। कोई पटलडांगा वस्ती की कहानी कहने आया है तो हमने कहा : हम वह सब सुनना नहीं चाहते। यह सब बाहरी बात है। इसके आगे कुछ कहो।

सचमुच उन दिनों कोई लेखक दूसरी कहानी सुना नहीं सका था, कह नहीं सका था। तब हम अंग्रेजी कहानी पढ़ने लगे। तालस्तॉय, डिकेन्स, वालजाक, दास्तोव्स्की को पढ़ने लगे। बंगला में अब कहानी नहीं है। हम तब करीब-करीब हताश हो चुके थे।

तभी यह काण्ड हुआ।

कहीं से किसी ने आकर ऐसी कहानी सुनायी कि हम अवाक् हो गये। यह तो किसी और दूसरे की कहानी नहीं, हमी लोगों की कहानी है। दुर्गा तो मेरी बहन का नाम है, सर्वजया तो मेरी ही माँ है, इन्दिरा देवी तो मेरी ही बुआ है, मेरे पिता जी का ही नाम हरिहर चक्रवर्ती है और मेरा ही नाम तो—

लगा, यह जैसे तीर्थस्थान है। यह राणाघाट हिन्दू होटल ही जैसे विभूति भूषण बंद्योपाध्याय का पीठस्थान है।

कुली जैसे ही सरो-सामान लेकर अन्दर पहुँचा, हमने विभूति बाबू को कैश का बक्सा लिये एक चौकी पर बैठे हुए पाया।

हम पर दृष्टि जाते ही बोले, "तुमलोग आ गये तो अच्छा ही हुआ। अरे जदु—"

"आया बाबू।"

जदु के आते ही विभूति बाबू बोले, "विश्वंभर से कहो कि इन लोगों को दो फर्स्ट क्लास खाना दे। दो तरह का भुजिया, मुड़ीघण्ट और छोटी-छोटी मछलियों का कलिया।"

हम दोनों ने आँगन के चहबच्चे से पानी लेकर हाथ-मुँह धो लिया।

जदु ने कहा, "आपलोग उस कमरे में जाकर बैठ जायें, भात परोसने के बाद पुकारूँगा।"

काबुल चारों ओर गौर से ताक रहा था। बोला, "ठहरो, अच्छी तरह चारों ओर देख लूँ। 'आदर्श हिन्दू होटल' से ठीक-ठीक मिलता है या नहीं।"

आँगन के एक कोने में बरतनों का ढेर है। कई कौवे दीवार पर इन्तजार में बैठे हैं। उसके दूसरे किनारे सहजन के पेड़ की डालें अन्दर की ओर झुकी हुई हैं। रसोई घर से मसाले की गंध आ रही है।

मैंने कहा, "चलो, कमरे के अन्दर चलकर बैठें।"

फिर भी काबुल हिला-डुला नहीं।

मैंने कहा, "क्या देख रहे हो?"

काबुल बोला, "जरा रुक जाओ, पद्म दाई और हजारी रसोइया दीख पड़ेगा।"
संभवतः कोई हमारी बात सुन रहा था।
अन्दर से किसी की आवाज आयी, "वहाँ कौन है ?"
आवाज बगल के कमरे के अन्दर से आ रही थी। हमने गरदन बढ़ाकर देखा, एक काले रंग का आदमी नंगे बदन कुछ लिख रहा था और बीड़ी का कश ले रहा था। वह हमलोगों की ओर ताक रहा था।
बोला, "बनगाँव या शान्तिपुर इनमें से किस स्थान के रहनेवाले हो ?"
काबुल और मैं एक-दूसरे का चेहरा देखने लगे। वह आदमी तख्ते पर बैठा एक खाते में कुछ लिख रहा था। उस समय भी उसके हाथ में कलम थी। दूसरे हाथ में एक अधजली बीड़ी। सामने एक काँसे की कटोरी में बहुत सारी जली बीड़ी के टुकड़े थे। जहाँ सूत लिपटा रहता है, बीड़ी का वहाँ तक का हिस्सा जला हुआ था।
आदमी ने कहा, "बैठो।"
हम दोनों बैठ गये।
आदमी ने पूछा, "तुम लोग कहाँ से आ रहे हो ? घर कहाँ है ?"
काबुल ने कहा, "यह चेतला में रहता है और मैं बालीगंज में। मैं इसका भांजा हूँ।"
आदमी ने बीड़ी से आखिरी कश लेते हुए कहा, "तुम लोग किसे खोज रहे थे ?"
मैंने कहा, "इसने मुझसे कहा था कि वह मुझे पद्म नौकरानी और हजारी रसोइये को दिखायेगा।"
"पद्म महरी ?"
आदमी ने कहा, "पद्म महरी नामक यहाँ कोई नहीं है और हजारी रसोइया कौन ?"
काबुल आदमी की बात सुन गुस्से में आ गया था।
बोला, "पद्मा महरी और हजारी रसोइया हैं या नहीं, यह देखने की आपको जरूरत ही क्या है ? मैं इससे कह रहा हूँ, आप बीच में क्यों टपक पड़े ? आप बैठे-बैठे खाता लिख रहे हैं। वही काम कीजिये।"
शुरू में आदमी कुछ बोला नहीं। जरा रुककर बोला, "कलकत्ते के लड़के हो ! बड़े ही गुस्सैलमिजाज मालूम होते हो।"
काबुल ने कहा, "गुस्सा क्यों नहीं आयेगा ? हम आपस में बातचीत कर रहे हैं। पैसा देकर खाना खायेंगे और खाकर चले जायेंगे। हमें किसी से कुछ लेना-देना नहीं है।"
आदमी ने कहा, "इसी को जबरन झगड़ा करना कहते हैं। हमने तुम लोगों से क्या कहा है, सुनूँ तो सही।"
काबुल बोला, "आपने कहा, पद्म महरी यहाँ नहीं है। हजारी ठाकुर किसका नाम है ?"
आदमी बोला, "इसमें कौन-सा अपराध हो गया ?"
काबुल बोला, "आप में यह समझदारी होती तो आप होटल में खाता नहीं लिखते।

अगर लिखना ही होता तो विभूति बाबू की तरह उपन्यास लिखते और इस होटल के मालिक होते।"

आदमी ने कहा, "उपन्यास ?"

काबुल ने कहा, "आप खाता लिखते हैं, खाता ही लिखते जाइये। उपन्यास के बारे में आपसे चर्चा नहीं करनी है।"

पीछे से जदु ने कहा, "आप लोगों के लिए भात परोसा जा चुका है, खाना खाने आ जाइये।"

हमें भूख भी जोरों से लगी थी।

मैंने काबुल से कहा, "चलो, खाना खाकर विभूति बाबू से कहेंगे, आपके होटल का सब कुछ तो अच्छा है मगर आपका मुहर्रिर अच्छा आदमी नहीं है। आप उपन्यास लिखते हैं लेकिन आपके मुहर्रिर को इसका पता भी नहीं है।"

मुड़ीघण्ट, दो तरह की भुजिया, तली हुई मछली और परबल की भुजिया दिया गया था। चावल जरा मोटा था। सो रहे, लड़ाई के जमाने में इससे अच्छा चावल कहाँ मिल सकता है। साहित्यकार की बजाय कोई दूसरा आदमी दुकान का मालिक होता तो ठग ही लेता। इससे अच्छा खाना क्या हम घर पर खाते हैं? खाकर उठते ही दो बीड़ा पान मिला।

जदु ने कहा, "खाना खाने के बाद उस कमरे में थोड़ी देर आराम कीजिएगा? आपलोगों की ट्रेन तो तीन बजकर बयालीस मिनट पर है।"

काबुल ने कहा, "माफ करो भैया, अब हम तुम लोगों के मुहर्रिर के सामने नहीं जायेंगे। वह बड़ा ही मूर्ख है। चलकर विभूति बाबू से यह बात कहनी है।"

हम विभूति बाबू के कमरे के अन्दर जायें कि तभी शोर-गुल मच गया। स्टेशन की ओर से इंजन की सीटी की आवाज आयी।

जदु ने कहा, "बनगाँव लोकल आ गयी।"

यह कहकर वह सदर की ओर दौड़ पड़ा और तत्क्षण लोगों का हुजूम आने लगा। बनगाँव लोकल लेट थी। होटल में चहल-पहल मच गयी। अब तक होटल में दो-चार आदमी ही थे लेकिन अब लोगों के शोर-गुल से भर गया।

विभूति बाबू की चिल्लाहट सुनायी पड़ी, "दो नंबर कमरे में दो फर्स्टक्लास, चौदह सेकेण्ड क्लास और पाँच नंबर में तेरह सेकेण्ड क्लास। जल्दी।"

विभूति बाबू के कमरे में हमने जाकर देखा, उस समय वहाँ लोगों का ताँता लगा हुआ था। गठरी, सूटकेस वगैरह से कमरा भर गया। विभूति बाबू भी व्यस्त हैं। मुसाफिर देह का कुरता उतार रहे हैं। वे हाथ-मुँह धोयेंगे, स्नान करेंगे। जदु इस कमरे में बीच-बीच में आता है और निकलकर बाहर चला जाता है।

"जरा गुसलखाना दिखा दो तो।"

"अरे जदु या मधु, मेरे कहने का मतलब है कि 'फस्ट किलास' तुम्हारे होटल में कितने में मिलता है?"

"अरे, तुम लोगों के हौज में पानी नहीं है। पानी दो। पानी के लिए पैसा नहीं चुकाता हूँ तो इसका मतलब यह नहीं कि जूठ हाथ रहूँ।"

बेहद शोरगुल मचा हुआ है। विभूति बाबू को फुरसत नहीं है कि उनसे बातचीत करूँ। सोचा था, उनसे बहुत-बहुत बातें करूँगा। कुछ भी नहीं हो पाया। बनगाँव लोकल लेट होने के कारण वक्त का सारा हिसाब गड़बड़ा गया।

तीन बज चुके हैं।

कुली के सिर पर सामान रखे स्टेशन आने के रास्ते में विभूति बाबू के बारे में ही सोच रहा था। जो आदमी इस तरह की कहानी लिखता है वह इस तरह होटल का सुचारु प्रबंध कैसे करता है!

काबुल ने कहा, "देखा नहीं, इतने शोरगुल के बीच भी कैसा निर्लिप्त भाव था! आँखों की दृष्टि कितनी निस्संग जैसी लगती थी! जैसे कहीं किसी ओर भी ध्यान न हो। रुपये-पैसे की ओर भी वैसा कोई ध्यान नहीं था। करने को जो कुछ रहता है पट्ठा मुहर्रिर ही करता है। विभूति बाबू को भला आदमी पाकर पट्ठा मुहर्रिर बेशक पैसे की चोरी कर लेता होगा।"

फिर हम कभी राणाघाट हिन्दू होटल में नहीं टिके। इसके बाद कलकत्ते में बम गिरा। कलकत्ते से लोगों ने भागना शुरु किया। उस समय रेलवे की नौकरी पाकर मैं चक्रधरपुर चला गया। मेरी शादी हुई। १९५० ई० में अकाल पड़ा। लेखन की बात ही ध्यान से उतर गयी। मैं रेलवे की नौकरी करने लगा और उधर काबुल भी मिलिटरी में भर्ती हो गया। उसकी 'विधिलिपि' भी असमाप्त ही रह गयी। पुस्तक और साहित्य के जगत् से हमेशा के लिए विदाई लेकर मैं नौकरी करने लगा। धीरे-धीरे सब कुछ भूल गया। कौन-कौन लिखते थे, कैसा लिखते थे और किसकी रचना की कैसी माँग थी, यह सब भी भूल गया। अन्त में जब बहुत दिनों के बाद कलकत्ता लौटकर आया तो देखा, माहौल बिलकुल बदल चुका है। जिसका कोई नाम नहीं था, उसने नाम कमा लिया है, जिसका नाम था, वह साहित्य-जगत् से उखड़ चुका है। साहित्य के उत्थान-पतन के इतिहास में कितने योग्य-अयोग्य व्यक्तियों के लिए ठोस स्थान बन गया है, उसकी भी कोई सीमा नहीं।

इतने दिनों के बाद पुनः साहित्य के संस्पर्श में आने के कारण तमाम पुरानी बातें याद आने लगीं।

मैंने विभु से पूछा, "विभूति बाबू ट्रेन से आयेंगे या मोटर से?"

विभु ने कहा, "इसी ट्रेन से आ रहे हैं। प्लेटफार्म पर उतरेंगे तो सबसे मुलाकात होगी।"

मैंने पूछा, "विभूति बाबू का भात का वह होटल अब है या नहीं?"

विभु को पता था।

बोला, "भात का होटल ? विभूति बाबू का ?"

मैंने कहा, "उस होटल में मैं और मेरा भानजा खाना खा आये हैं। सचमुच बड़े ही अच्छे आदमी हैं। इतने शोर-गुल, हो-हल्ला में भी इस तरह कैसे लिख लेते हैं, यही आश्चर्य की बात है।"

विशु बोला, "उनकी रचना जितनी अच्छी है, आदमी के रूप में भी वह उतने ही अच्छे हैं।"

थोड़ी देर बाद ही ट्रेन बण्डेल स्टेशन पर आकर रुकी। उस समय दिन के लगभग तीन बज चुके थे। ट्रेन से लोगों का काफिला उतरने लगा। चेहरा-मोहरा और कपड़ा-लत्ता देखकर ही समझ में आ गया कि कौन-कौन मीटिंग में जानेवाले हैं और कौन-कौन नहीं जानेवाले हैं।

विशु सबको पहचानता है। सारे साहित्यकार उसकी मुट्ठियों में हैं। वह किसी से बातचीत करता है तो किसी से हँसी-मजाक करता है।

किसी से कहता है, "अरे आप तो पहुँच गये हैं।"

किसी दूसरे से कहता है, "किस डिब्बे में थे ? हवड़ा में मैं आपको खोज रहा था"

प्लेटफार्म पर उतर अविनाश घोषाल, विशु और मैं एक साथ चले जा रहे हैं। मैं यही खोज रहा हूँ कि विभूति बाबू कहाँ हैं। सबके बीच मैं पहचाना हुआ वह चेहरा खोज रहा हूँ। उन्हें कहीं भी नहीं देख रहा हूँ।

अचानक विशु की नजर किसी पर पड़ी और उसने कहा, "वह रहे विभूति बाबू।"

उसके बाद उनके पैरों की ओर ताकते हुए बोला, "यह क्या, आप आज के अध्यक्ष हैं और आपके जूते में सोल देख रहा हूँ, आप"

विभूति बाबू ! विभूति भूषण बंद्योपाध्याय ! मेरी नजर जैसे भूत पर पड़ी हो।

विशु ने कहा, "इसे आप पहचानते हैं ?"

अब विभूति बाबू ने मेरी ओर देखा।

विशु बोला, "पहचान नहीं पा रहे हैं ? इसका नाम विमल मित्र है। आपके भात के होटल में जाकर खाना खा आया है।"

"भात के होटल में ? मेरे भात के होटल में ?"

विभूति बाबू आकाश-पाताल सोचने लगे।

मैंने उनके चरणों का स्पर्श किया।

कहा, "आप मुझे क्षमा करें।"

विभूति बाबू बोले, "क्यों, तुम्हें झूठमूठ क्षमा करने क्यों जाऊँ ? तुमने क्या किया है ?"

तब मैंने उन्हें सारी बातें खोलकर बतायीं।

विभूति बाबू ठहाका लगाने लगे।

बोले, "ओह यह बात है ! हमलोगों के अंबिका ने राणाघाट मे एक होटल खोला था। उसी के होटल को आधार बनाकर मैंने आदर्श हिन्दू होटल लिखा था। याद है, उसे मैंने अपनी पुस्तक पढ़ने के लिए दी थी। लेकिन उसने तो मुझे कुछ भी नही बताया।"

यह कहकर विभूति बाबू पुनः जी खोलकर ठहाका लगाने लगे और उस हँसी में ही जैसे अपू दीख पड़ा—हजारी रसोइया और इस युग के श्रेष्ठ उपन्यासकार को मैंने देखा।

०

शनि राजा राहु मंत्री

['शनि राजा राहु मंत्री' शीर्षक कथा संकलन का प्रकाशन १९६१ ई० में हुआ था। उसी कथा संकलन की भूमिका के तौर पर ही प्रस्तुत निबन्ध पहले पहल प्रकाशित हुआ था। इस भूमिका में उपन्यासकार विमल मित्र ने कहानी के कला कौशल, रचना विधान तथा किस्सागोई के सम्बन्ध में प्रकाश डाला है। आधुनिक काल का कोई भी लेखक किस्सागोई की कला में विमल मित्र जैसा सफल नहीं हो पाया है। विमल बाबू की कहानी कहने की कला में निजस्वता की छाप है—उन्होंने विदेशी लेखकों से यह कला उधार नहीं ली है। उनकी शैली की नकल करने की बहुतों ने चेष्टा की परन्तु उन्हें सफलता हासिल नहीं हुई। अगर वे ऐसा कर पाते तो अच्छा होता बंगला साहित्य और समृद्ध होता। विमल मित्र के पास नित्य अनेक पत्र आते हैं। उसमें जितना तिरस्कार रहता है, उतनी ही प्रशंसा भी। तिरस्कार और प्रशंसा से ऊपर उठकर अपने को कैसे निर्विकार रखा जा सकता है, प्रस्तुत लेख उसका एक उदाहरण है।—अनुवादक]

कहानी-लेखन के कला-कौशल के संबंध मे भूमिका लिखने की परंपरा आज भी प्रचलित है, लेकिन उसकी अब कोई आवश्यकता नही रह गयी है। इस संबंध मे, आशा है, किसी को कोई एतराज नहीं हो सकता। मसलन गायन। इन दोनों के मामले मे आक्षरिक ज्ञान से व्यावहारिक ज्ञान की ही अधिक आवश्यकता पड़ती है। हर कला के दो पक्ष होते हैं। एक उसका बाह्य पक्ष है। वहाँ व्याकरण के नियम का कठोर शासन चलता है। उस संबंध मे वैयाकरणों के बीच भी तरह-तरह का विरोध चलता रहता है। दूसरा पक्ष है आन्तरिक। उसे हम रस का पक्ष भी कह सकते हैं। इस रस के पक्ष को लेकर ही युग-युगों से तर्क-वितर्क चल रहा है। जो लोग वस्तुतः मर्मज्ञ हैं वे तर्क-वितर्क के इस कूड़े-कचरे को अनदेखा कर केन्द्रस्थल मे पहुँचने की सहजात कला पर अपना सिक्का जमा लेते हैं। उनके साथ कोई खास असुविधा नहीं है। वे रस चाहते हैं और रस प्राप्त करते ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। विरोधियों के चीत्कार से उनका रसिक चित्त न तो चंचल होता है न ही क्षुब्ध। इस सहजात कला पर सबके लिए सिक्का जमाना संभव होता तो रसदाता और रसग्रहीता—दोनों पक्ष के लिए यह चीज सहज-सरल हो जाती। लेकिन ऐसा नहीं होता। चूँकि ऐसा नहीं होता इसीलिए बीच-बीच मे भूमिका प्रयोजनीय हो जाती है। इस मामले मे भी यही बात है।

रस संज्ञा व्यापक है। किस चीज मे रस की सृष्टि होती है और किससे नहीं होती है, शास्त्र मे इसका सुनिश्चित विधान भी है। परन्तु रसिक-चित्त विधान के अधीन नहीं होता। वह कहेगा, तुमने शायद विधान का पालन किया है या फिर यह भी हो सकता है न किया हो, परन्तु मैं न तो शास्त्र जानता हूँ न ही विधान, एक मात्र अपनी रसना को जानता हूँ। बड़ी बात यह है कि मुझे तृप्ति नहीं मिली है। तुमने पाकशास्त्र के अनुसार कौन-सा मसाला डालकर किस व्यंजन को तैयार किया है, मै यह भी नहीं जानना चाहता। मैं इतना ही जानता हूँ कि मेरी रसना परितृप्त नहीं हुई। इसी तरह

तर्क का सिलसिला आगे बढ़ता है, कूड़ा-कचरे का ढेर लग जाता है और रसिक चित्त उस इलाके से स्वयं को अलग रखता है। इसी तरह संघर्ष करते हुए कलाकार को ध्रुव रसिक चित्त की परीक्षा करनी पड़ती है।

गायन की ही बात लें। किसी जमाने में राम प्रसादी संगीत हाली शहर के हाइलाकान्दी तक फैल गया था। उसी तरह ध्रुपद का भी दिल्ली से लेकर दाक्षिणात्य तक प्रचार-प्रसार हो गया था। समाचार पत्र, टेलीफोन तथा विज्ञान के तमाम आधुनिक उपकरणों से हीन उस युग की यह घटना यदि किसी को विस्मयपूर्ण प्रतीत हो तो कहना यही होगा कि वह रस-मर्मज्ञ की श्रेणी में नहीं आता। असल में रस का आवेदन बहुत बड़ा आवेदन होता है। वह दूर के व्यक्ति को निकट ले आता है, पराये को अपना बना लेता है। वह न तो देशभेद और न कालभेद को मानता है। रस के आवेदन के कारण मुसलमान वैष्णव हो जाता है और ब्राह्मण फकीर बन जाता है। जो रस इतना व्यापक है वह क्या इतना सुलभ हो सकता है? दुनिया के तमाम विश्वविद्यालयों में धरना देने से भी रस की यह डिग्री उपलब्ध नहीं होती।

जो खाता-पीता है और घड़ियाल घण्ट बजाता है या बाँसुरी टेरता रहता है लोग उन्हें निठल्ला कहते हैं। यानी चाहे घड़ियाल घण्ट हो चाहे बाँसुरी, दोनों बेकार की चीजें हैं। अर्थात् नून-तेल-लकड़ी की इस गृहस्थी में आदमी की कोई कीमत नहीं है। परन्तु रस का विचार अलग ही तरह का है। रस-मर्मज्ञ पाठक उस निठल्ले आदमी को ही शुरू में गैर सरकारी डिग्री दे बैठता है और सरकारी डिग्रीधारी शोर-गुल मचाना शुरू कर देता है। मेरे जीवन में इस तरह की दुर्घटना बहुत बार घटित हुई है। अब वह पुरानी बात हो चुकी है। इसके कारण मैं कभी विचलित नहीं हुआ हूँ और न ही अब होता हूँ।

लेकिन इस बार और ही तरह का शोरगुल मच गया है। मैं ध्रुपद गाता था। वे लोग शाबाशी देते थे। इस बार मैं रामप्रसादी संगीत गा बैठा। सरकारी डिग्रीधारी लोग एकाएक सतर्क हो गये। सतर्क होने का हालांकि कोई कारण नहीं था परन्तु सतर्क हो गये। ध्रुपद गा रहे हो तो वही गाओ, राम प्रसादी गीत क्यों गाने लगे।

बात क्या है, उसे स्पष्ट कर रहा हूँ।

गतवर्ष 'देश' पत्रिका के विशेषांक में मेरी एक कहानी प्रकाशित हुई थी। उसका नाम मैंने 'अमरीका' रखा था। कहानी का नाम रखना एक कठिन काम है। लेकिन *रामप्रसादी संगीत ध्रुपद नहीं है, इस सहज सत्य को सबकी आँखों में ऊँगली डालकर* बताने के उद्देश्य से ही मैंने उसका यह नाम रखा था। साथ ही साथ एक और उद्देश्य था। वह पूर्णतया व्यक्तिगत उद्देश्य था। प्रत्येक लेखक अपनी रचना के माध्यम से जिस रस का परिवेशन करता है, बाहयतः दूसरे को केन्द्र बनाकर सृजन करने के बावजूद उसका लक्ष्य परात्पर होता है। यानी जिस दुनिया को लेकर लेखक अपनी रचना में तल्लीन रहता है वह यद्यपि उसके परिपार्श्व का जगत् होता है लेकिन उस जगत् का

प्रमुख नायक वह स्वयं होता है। अपने निजी जगत् का एकमात्र नायक लेखक ही होता है। स्वयं को तरह-तरह रूपों के माध्यम से व्यक्त करके ही लेखक आत्माभिव्यक्ति के पथ का अन्वेषण करता है। कभी वह नारी होता है, कभी नर, कभी वह देश होता है, कभी इतिहास। कभी वह व्यक्ति होता है, कभी तत्व। लेखक एक ही आधार पर अनेकानेक शक्तियों के विरोध के माध्यम से आत्म-परीक्षण करता है। अपने आत्म-परीक्षण के साथ-साथ वह स्वयं का आस्वादन भी करता है। स्वयं का आस्वादन करने पर भी स्वयं को व्यक्त किया जा सकता है। आत्म-आस्वादन की इस विभिन्न अभिव्यक्ति से पाठक को अलग-अलग तरह का आनन्द प्राप्त होता है। रसिक चित्त भी लेखक के साथ ही स्वयं को तरह-तरह से आस्वादित करने की विचित्र तृप्ति का अनुभव करता है। अभिव्यक्ति का पथ यदि एक ही तरह का होता तो उसमें वैचित्र्य नहीं होता। अगर ऐसा होता तो एक और अनेक होने की अभिलाषा से इस जगत की सृष्टि भी नहीं करते। सृष्टि के प्रथम युग में जैसी बात थी आज इतने दिनों के बाद भी वही बात है। आज भी उस नियम में कोई व्यतिक्रम नहीं हुआ है। प्रातःकाल पूर्व दिशा के आकाश में जिस सूर्य का उदय होता है, वह पश्चिम में डूबता है तो हम देखते हैं कि उसका रूप कैसा दीख रहा है। चूंकि वैचित्र्य है इसीलिए यह धरती इतनी सुन्दर है। साथ ही साथ ऐक्य है इसीलिए वैचित्र्य में भी इतना सौंदर्य है। ध्रुपद अच्छा होता है इसीलिए रामप्रसादी को इतने सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है और चूंकि राम प्रसादी आदरणीय है इसीलिए ध्रुपद और अधिक आदरणीय है। इसी वजह से मुझे भी एक दिन नये सिरे से आत्म-परीक्षण करने की आवश्यकता महसूस हुई। एक दीर्घस्थायी और कठिन बीमारी के समय जब मैं स्वयं की ओर मुड़ा, जब अपने आसपास आँखें दौड़ायी तो देखा, मेरे ध्रुपद गायन के श्रोता जरा आराम कर रहे हैं। मन ही मन सोचा, यही मेरे लिए पाली बदलने का मौका है।

माला बदलने* की परंपरा जिस प्रकार हिन्दू विवाह अनुष्ठान का एक अपरिहार्य अंग है, कला के अनुष्ठान में पाली बदलना भी वही महत्व रखता है। स्वयं को नये रूप में प्राप्त करने के निमित्त ही प्रकृति में ऋतु-परिवर्तन की परंपरा है। ऋतु-परिवर्तन के समय ही जीव जगत् में अनिवार्यतः छोटा-मोटा विपर्यय घटित होता है। लेकिन पाली बदलने के समय जो विपर्यय घटित होता है वह अन्तर्जगत में ही होता है। जो सचेत पाठक है वह और अधिक सचेत होता है और जो निर्जीव है, वह विरक्त होता है। इसीलिए देखने में आता है कि ऋतु-परिवर्तन के समय निर्जीव व्यक्ति रात-दिन गले पर गुलुबंद लपेट कर ऋतु-परिवर्तन के खिलाफ विद्रोह की घोषणा करते हैं। पाली बदलने के मामले में भी यही नियम लागू है।

इस तरह के एक सचेत पाठक ने 'देश' पत्रिका के संपादक के पास एक पत्र लिखा। पत्र को पूरा का पूरा उद्धृत करना अच्छा रहेगा।

---

* विवाह के अवसर पर जयमाला की प्रथा।

दिनांक १९-१०-'६०

सेवा में,

संपादक साप्ताहिक 'देश' पत्रिका

महोदय,

आपकी 'देश' पत्रिका के शारदीय विशेषांक में विमल मित्र की 'अमरीका' शीर्षक कहानी के लिए मैं लेखक को आपके माध्यम से धन्यवाद दे रहा हूँ। जब कि बंगाल के साहित्यकार एक ही तरह की सिनेमा-उपयोगी कहानी के प्लाट-निर्माण में व्यस्त हैं तो ऐसे में उनके मन के कारखाने में निर्मित यह कहानी एक नयी खोज है। स्वतंत्रता के तोरण जब कि आशा की पूर्ति न कर पाने के कारण एक-एक कर अदृश्य हो रहे हैं तो ऐसी स्थिति में समाज के प्रथम श्रेणी के नागरिक के नाते विमल बाबू का यह अवदान उत्कृष्टतम और स्मरणीय है। इतनी अच्छी और जीवन्त रचना रहने के बावजूद शैली की भंगिमा में पहले की तरह ही लेखक की निजता की छाप है। उत्साही पाठक के नाते यह संकलन मेरे लिए और अधिक मूल्यवान हो गया है, क्योंकि उपयुक्त परिवेश में पत्रिका के संचालक ने इस रचना के प्रकाशन में सहायक होकर हमारे जैसे पाठकों के समक्ष एक दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। लोग संभवतः एक विशेष स्थिति के दबाव के कारण जानी-सुनी बात कहना नहीं चाहते। लेकिन किसी ने आत्मविश्वास के सहारे ऊपर उठकर यह दिखा दिया कि लोग नये सिरे से इस बात को जानें-सुनें। अतः लेखक को अपना प्रणाम निवेदित करने की जिम्मेदारी मैं आप पर सौंप रहा हूँ।

—एक पाठक

माला-बदल के साथ-साथ नववधू अगर अचानक बेआबरू हो जाये तो समाज के लोग उसे बेहया कहते हैं। ऋतु-परिवर्तन के साथ ही यदि कोई अपने इच्छानुसार विहार करने लगे तो लोग उसे बेपरवाह कहते हैं। उसी तरह कला के क्षेत्र में यदि पाली बदलते ही अगर तालियाँ बजने लगे तो पाली में गानेवाले के लिए सन्दिग्ध होना स्वाभाविक है। यह बात सभी स्वीकार करेंगे। अतः स्तुति तो निन्दा का ही दूसरा नाम है। इसके अलावा स्तुति की एक निजी मादकता भी है जो हमेशा हानिकर साबित होती है। क्योंकि स्तुति विघ्न का विनाश नहीं करती, बल्कि विघ्न पैदा करती है और इसका दृष्टान्त साहित्य में प्रचुर परिमाण में मिलता है। साहित्य एकान्त चिन्तन का फल होता है और मैं सिर्फ एकान्त में रहनेवाला ही नहीं हूँ निस्संग भी हूँ। इस पत्र की प्राप्ति के साथ ही मेरी निस्संगता के संसार में अचानक एक उलट-फेर आ गया। पत्र एक नहीं, अनगिन आये। मेरे जैसे आलसी आदमी के लिए पत्र-प्राप्ति केवल विपर्यय-सूचक नहीं, आन्तरिक भी है। दूर और निकट के पाठकों से जो लोग पत्र के माध्यम से संपर्क बनाये रखने में पटु हैं, उनके लिए जो सुखदायक है, मेरे लिए वही कष्टदायक है। लोक-जीवन में मुझे प्रशंसा या निन्दा काफी परिणाम में प्राप्त हुई है। मैं जितना पाने के योग्य नहीं हूँ उससे अधिक ही प्राप्त हुई है। मेरी तरह इतने अधिक अयाचित प्रशंसा का सौभाग्य और इतने अधिक अकृपण निन्दा का दुर्भाग्य संभवतः बंगाल के

किसी दूसरे लेखक को झेलना नहीं पड़ा है। लेकिन इस बार प्रशंसा नहीं प्राप्त हुई। लगा, यह जैसे प्रीति हो। मैं प्रीति का कंगाल ठहरा। अकस्मात् प्रीति का संस्पर्श पाते ही मेरा मन तनिक सन्देहाकुल हो उठा। मन ने कहा, इस पर विश्वास मत करो। इसमें मिलावट है। सावधान !

इसके बाद जितने भी पत्र आने लगे, सन्देह उतना ही बढ़ने लगा। जब मैं अत्यन्त विव्रत हो उठा ठीक उसी समय एक और पत्र आया। मेरा सन्देह दृढ़ से दृढ़तर हो उठा। इस पत्र को पूर्णतः उद्धृत करना अच्छा रहेगा।

१३/१; पाम एवेन्यू
कलकत्ता–१९
२९-१०-'६०

प्रिय महोदय,

नमस्कार। आपसे अब तक परिचित होने का मौका नहीं मिला है। इस बार की 'देश' पत्रिका के शारदीय अंक में प्रकाशित आपकी 'अमरीका' शीर्षक कहानी अभी-अभी पढ़ी। बहुत दिनों से मासिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कहानी-उपन्यास पढ़ने का मौका नहीं मिलता है। ऐसे बहुत से कारण हैं जिसके कारण अच्छा नहीं लगता। आज बहुत दिनों के बाद आपकी कहानी ने बचपन की तरह आँखों में आँसू ला दिये। हर रोज की जानी-सुनी और आँखों से देखी घटना का पुनःस्मरण मन की जड़ता काटने में ओषधि का काम करता है। इस अभागे गलित और मुमूर्षु देश में लेखकों की बेहद जरूरत है। इस पराजित जीवन के दर्शक की हैसियत से नहीं, बल्कि योद्धा की तरह श्रेष्ठ अस्त्र ले आपलोग और आगे बढ़ आयें। हमलोगों की यही प्रार्थना, आकांक्षा और आशीर्वाद है—बंगाल की महिलाओं की ओर से आज मैं यही कह रही हूँ। इति।

—मैत्रेयी देवी

बचपन में मैंने जब सा-रे-गा-मा शुरू किया था तो घर के लोग शाबाशी देते थे और पड़ोसी मजाक उड़ाते थे। जब बड़ा हुआ तो बात ठीक इसकी उलटी हुई। जाने-पहचाने लोगों ने चुप्पी साध ली और अनपहचाने लोग शाबाशी देने लगे। मान लिया कि रीति यही है। घर के लोगों का प्रेम बढ़ता है तो बाहर के लोग अनादर करेंगे। इससे दुश्चित नहीं होना चाहिए। घर और बाहर दोनों जगह अनुकूल वातावरण रहना भयावह साबित होता है और इसके बहुत सारे उदाहरण अपनी आँखों से देख चुका हूँ। पाठक जिसे प्रीति के आसन पर बिठाता है सरकारी डिग्रीधारी को उसे स्वीकारने में कुण्ठा का अनुभव होता है। कुण्ठा छूत की बीमारी जैसी चीज है। मुहल्ले में किसी मकान में यह रोग फैल जाता है तो पूरा मुहल्ला उसकी चपेट में आ जाता है। उसके बाद, आमतौर से जैसा हुआ करता है, यह महामारी एक मुहल्ले से दूसरे मुहल्ले में रोग के कीटाणु फैलाती जाती है। लोग कहना शुरू करते हैं : छोकरे को स्वर का ज्ञान तो है मगर ताल का कोई ज्ञान नहीं है। या फिर यह कहते हैं : भले आदमी को ताल

का अच्छा ज्ञान है मगर गले का रियाज सधा हुआ नही है। इसी प्रकार बहुत-सी झूठी-झूठी अफवाहे फैलाकर समर्थ व्यक्ति को असमर्थ प्रमाणित करने के लिए कमर कसकर लग जाते हैं। अन्त में जब उनके सारे प्रयास विफल हो जाते हैं तो लाचार हो उसे विश्वविद्यालय की डिग्री में फेल करा देते हैं और अपने मन की साध पूरी कर लेते हैं; क्योंकि यह उनके लिए आसान काम है। लेकिन सौभाग्य की बात यही है कि सरकारी वोट से मूल्य का निर्धारण नहीं होता। और इस तरह के दो-चार गैर सरकारी विश्वविद्यालय आज भी दुनिया में मौजूद हैं जो डिग्री देते हैं लेकिन डिग्री का व्यवसाय नही करते। वे कला का विवेचन करते हैं लेकिन कलाकार को विडंबना के बीच नही डालते।

सभी साहित्यकारों को दो पहलू लेकर अपना काम चलाना पडता है: पहला है उसकी सृजनशीलता का पहलू और दूसरा बाजार का पहलू। सृजन का कार्य अपेक्षाकृत सरल है। यह काम कमरे की छिटकनी बन्द कर शान्तिपूर्वक किया जा सकता है। लेकिन हाट? हाट जगह के लिहाज से अच्छी हो सकती है बशर्ते वहाँ कोई शोरगुल न हो। हाट मे जाते ही झंझटों का सामना करना पड़ता है। वहाँ जीविका-जीवन, ख्याति-अख्याति का जो मजमा जमा रहता है वह हर व्यक्ति के लिए न तो आरामदायक है न ही मनोनुकूल। मेरे साथ भी यही बात है। मैं चाहे हाट मे उपस्थित न रहूँ, लेकिन शोर-गुल तो कान मे पहुँचेगा ही। और तभी रुचि-अरुचि, निन्दा-धिक्कार तथा कुत्सा-कटूक्ति का एकतरफा वार शुरू हो जाता है। बंकिमचन्द्र ने लिखा है—ईर्ष्या मनुष्य का स्वाभाविक गुण है। बहुत से लोग दूसरे की ख्याति से व्याकुल होकर यशस्वी व्यक्ति की निन्दा करने लगते हैं। इसी श्रेणी के निन्दक बहुतायत मे हैं, खासकर बंगाल में।

आज बंकिमचन्द्र का युग नहीं है। आज का बंगाल पहले के जैसा बंगाल भी न रहा। उस समय निन्दा की जाती थी, अपयश मिलता था तथा अप्रशंसा की कठोर शासन-व्यवस्था भी प्रचलित थी। लेकिन कुत्सा-कटूक्ति का बोलबाला नहीं था—कम-से-कम साहित्य के न्यायालय में तो बिलकुल ही नहीं। लेकिन सच्चे साहित्यकार के लिए यह सब ध्यातव्य नहीं है। उससे साहित्यकार विचलित हो जाय तो साहित्य-कर्म मे बाधा पहुँचेगी। साहित्यकार को स्थितप्रज्ञ होकर अपने सृजन की साधना मे निमग्न रहना पड़ता है। साहित्यकार संसारी नहीं होता लेकिन साथ ही साथ संसार-बैरागी भी नहीं होता। सब कुछ रहने के बावजूद साहित्यकार सबसे अलग-थलग रहता है। सब कुछ से जुडे रहने के बावजूद मुक्त रहने की साधना ही उसकी सिद्धि है। जीवन-काल में ख्याति या पुरस्कार पाना अच्छा नही रहता। ख्याति या पुरस्कार की प्राप्ति अत्यन्त हानिकार होती हो, ऐसी बात भी नहीं। प्राप्ति नहीं होती है तो भी कोई नुकसान नहीं होता। क्योंकि जीवन के तमाम यथार्थ क्षेत्र यद्यपि सरकारी कचहरी के कानून के दायरे मे आते हैं लेकिन साहित्यिक यश आज भी

उसके अधिकार-क्षेत्र के बाहर है। संतोष की बात है कि ऐसा सदा-सर्वदा होता रहेगा। वहाँ चौकीदार की लाठी का भय तो है ही नहीं, कोतवाल का भी रौब-दाब नहीं है। चौकीदार या कोतवाल को उम्र होने पर किसी न किसी दिन सेवा-निवृत्त होना ही होगा परन्तु साहित्यकार के सेवा-निवृत्त होने का विधान अब भी चालू नहीं हुआ है। जहाँ तक पेंशन की बात है, सरकारी कर्मचारी को मृत्यु के दिन तक प्राप्त होता रहता है, परन्तु साहित्यकार के पेंशन की शुरुआत मृत्यु के बाद होती है। साहित्यकार को एक यही सुविधा प्राप्त है कि तमादी का कानून यद्यपि सबके साथ लागू है पर वह इससे बरी है।

लेकिन अब हाट के संबंध में कुछ नहीं कहना है। हाट नामक चीज ही अस्थायी है। हाट आवश्यकता के कारण लगती है और जैसे ही आवश्यकता की पूर्ति हो जाती है, उठ जाती है। लेकिन जो चिरन्तन वस्तु है वह है सत्य। यह सत्य ही एक बड़ा अजीब पण्यवस्तु है। लाल कुम्हड़ा तथा अन्यान्य अति प्रयोजनीय वस्तु की तरह उसका विनाश नहीं होता। हाट की खरीद-बिक्री की माँग के ताने-बाने पर उसके वास्तविक मूल्य में कोई उतार-चढ़ाव नहीं आता। ग्राहकों की पसन्द-नापसन्द की बला उसके साथ नहीं है। कोई अगर उसकी खरीददारी करे तो अच्छी बात है, उससे ग्राहक को ही लाभ होगा और खरीददारी न करे तो इससे सत्य की कोई हानि नहीं होगी।

मेरे मन का जब यह हाल था तो मेरे पास एक और पत्र आया। मन आनन्द से परिपूर्ण हो उठा। इतने-इतने प्रशंसा-पत्रों के बीच यही एक निन्दा का पत्र था। मुझे बेहद शान्ति मिली। प्रशंसा से मन कलुषित हो उठा था, निन्दा पाकर कलुषित भाव दूर हो गया। मन ने कहा : अब तुम्हें निखालिस वस्तु मिली है। अब तुम्हारा सोना खाद मिलाने से मजबूत हो गया।

उस पत्र को यहाँ उद्धृत कर रहा हूँ।

प्रिय महोदय,

बंगाली लेखक पाठक की राय को कितना महत्त्व देते हैं या महत्त्व देते ही नहीं, इस बात की मुझे कोई जानकारी नहीं है। चाहे वे जो भी करते हों लेकिन उनकी रचना के संबंध में अपनी राय जाहिर करने में मुझे किसी भी प्रकार के संकोच का अनुभव नहीं हो रहा है। साथ ही साथ मैं यह भी महसूस नहीं करता कि समालोचक की हैसियत से मेरी राय बहुत बड़ी कीमत रखती है।

आपको पत्र लिखने का यह पहला ही मौका है लेकिन आपकी रचना से मेरा यह पहला साक्षात्कार नहीं है। साक्षात्कार है परन्तु आपकी तमाम रचनाओं से नहीं—यह कह देना समीचीन होगा। आपकी रचना से मैं जहाँ तक परिचित हूँ उन्हीं पर निर्भर कर कह रहा हूँ कि हाल में यानी पूजा-विशेषांकों में प्रकाशित आपकी दो-चार

रचनाओं मे एक नया लक्षण देखकर भौंचक रह गया। इसीलिए यह पत्र आपकी सेवा में भेज रहा हूँ।

और वह लक्षण है पत्रकारिता का जो आपकी 'अमरीका' कहानी (शारदीय देश, बंगाब्द १३६१) मे स्पष्टतया प्रकट हुआ है। कुशल लेखक की कलम से पत्रकारिता साहित्य का रूप ले लेती है तो यह एक समर्थन-योग्य बात है। परन्तु साहित्य अगर पत्रकारिता का रूप ले ले तो यही कहा जायगा कि शिव की मूर्त्ति गढ़ते-गढते बन्दर की मूर्ति गढ बैठा। जानता हूँ, मेरी इस राय से हर व्यक्ति सहमत नहीं हो सकता। परन्तु इसमे सन्देह नहीं कि आपके अधिकांश भक्त-पाठक मेरी राय से सहमत होंगे। क्योंकि आपकी रचनाओं के जिन गुणों ने अब तक उन्हें आकर्षित किया है उनमें पत्रकारिता का बोलवाला नहीं था।

कहानी के नाम पर ही शुरू मे धक्का लगा। अमरीका। 'कड़ी दिये किनलाम', शनि राजा राहु मंत्री—यह सब कितने सांकेतिक नाम हैं! उनके पास ही 'अमरीका'। 'कड़ी दिये किनलाम' उपन्यास का नाम आप 'ईस्टर्न रेलवे' रखते तो अच्छा होता।

मूल कहानी मिस्टर रिचर्ड की जबान से कहलायी गयी है। कहानी के 'इंट्रोडक्शन' की जिम्मेदारी 'मैं' पर है। कहानी कहानी ही होती है। अतः 'मैं' से विमल मित्र का कोई समीकरण नहीं करेगा। लेकिन एक बात। आपकी बहुत सारी रचनाएँ उत्तम पुरुष की जबानी कही गयी हैं। उन्हें पढते-पढ़ते पाठक के मन में एक खास चेहरे ने स्वरूप ग्रहण कर लिया है। वह शान्त-शिष्ट मध्यवित्त बंगाली युवक परोपकारी है। वह किरानीगीरी करता है और उसकी नौकरी तबादले की है। उसकी हॉबी है कहानी लिखना। जहाँ 'मैं' अनुपस्थित रहता है वहाँ भी अकसर पाठक 'मैं' से नायक का सादृश्य खोज लेता है। 'साहब बीबी गुलाम' और 'खरीदी कौड़ियों के मोल' इसके उदाहरण हैं। शारदीय 'बेतार जगत' में प्रकाशित आपकी 'स्त्री जातक' शीर्षक रचना में जो 'मैं' है उससे पाठक-वर्ग अन्तरंगता का अनुभव करता है परन्तु 'अमरीका' में जो 'मैं' है उसे आपके पाठक नहीं पहचानते। वह हवाई जहाज पर चढ़ता है। पाठक को दूसरी बार धक्का लगता है।

आप मुख्यतः उत्तम पुरुष की जबानी (कभी-कभी एक खास दृष्टिकोण से) कहानी की रचना करते हैं। इस आधुनिक प्रकरण का आपने सार्थक प्रयोग किया है। इसके पूर्व कहीं ऐसा देखने में नहीं आता कि वस्तुनिष्ठा को कोई आघात पहुँचा हो। 'शनि राजा राहु मंत्री' (स्त्री) पढते-पढ़ते यह सन्देह नहीं होता कि लेखक का उद्देश्य जमींदार की लंपटता का प्रदर्शन करना है। 'स्त्री' जातक कहानी का कथक दरिद्र किरानी रहने के कारण ही अभिजात नायक के संदर्भ मे सुविचार नहीं कर पाता है, कि दीपंकर-लक्ष्मी अनुकूल आलोक में दिखायी नहीं पड़ते हैं। दुःख की बात है कि 'अमरीका' कहानी मे दीपंकर वैसी-वैसी उक्ति करता है जिसके फलस्वरूप 'ऑब्जेक्टिव रिपॅर्टर' की हैसियत से वह हमारी आस्था से वंचित हो जाता है। बतौर उदाहरण—'बॅगॉलीज

आर फनी पिपल, फॉरेनरों को अब भी वे देवता समझते हैं।' लड़कियों का दलाल होटलों मे धावा बोलता है, इस तरह की घटना बेरुत, पेकिंग आदि मे घटित नहीं हो सकती—इसी तरह का संकेत है। मैकार्थी के देश मे अगर कोई कम्युनिज्म में आस्था रखे तो उसे दुर्भाग्य का सामना करना पड़ता है। उसी देश का कोई आदमी यह सुनकर कि स्ट्राइक करने के कारण किसीकी नौकरी चली गयी है, आकाश से गिर पड़ता है तो हम भौंचक रह जाते हैं। उसके बाद जब चक्रवर्ती के घर की हालत देखकर रिचर्ड कहता है कि दुनिया मे इस तरह का दृश्य हो सकता है, इसकी अमरीका न तो कल्पना कर सकता है और न ऐसा सोच ही सकता है—तो यह स्पष्टतः धूर्तता जैसी बात लगती है। अमरीका मे नीग्रो कैसा जीवन जीते हैं, इससे क्या हम परिचित नहीं हैं?

इस उक्ति की सचाई के संबंध मे बहस न भी की जाय (लेखक भी इस विषय मे सचेत हैं) तो भी रिचर्ड के बंगालियो की दुर्दशा के वर्णन मे अतिशयोक्ति का पुट मिलता है। सैटरिस्ट अथवा व्यंग्यकार अपनी रचना मे इस प्रकार के कौशल का सहारा लेता है। आपने ऐसा क्यों किया?—इसलिए कि पत्रकारिता की विषयवस्तु को आप 'ट्रिटमेन्ट' के गुण से साहित्य बनाना चाहते हैं? लेकिन आपको सफलता हासिल नहीं हुई है। कम-से-कम मुझे तो ऐसा ही प्रतीत हुआ है। साहित्य के पठन की फलश्रुति जीवन्त चरित्र के सान्निध्य मे पहुँचना है। चक्रवर्ती कोई जीवन्त चरित्र नहीं है। सरकारी निर्यातन-नीति के जो लोग शिकार हुए हैं उसका वह महज एक प्रतिनिधि है। मिस्टर रिचर्ड ने उसे उसी रूप मे देखा और दिखलाया है। इस रूप मे प्रस्तुत करना पत्रकार का कर्म है। किसी आदमी की जिन्दगी के आईने मे बहुतेरे मनुष्यों का प्रतिबिंब उद्भासित करना साहित्यकार और पत्रकार दोनों का काम है। लेकिन साहित्यकार की प्रमुख चिन्ता आईने को साफ-सुथरा और सर्वांग सुन्दर बनाने की ओर रहती है—वह जानता है कि आईना अच्छा रहेगा तो उसमे बहुतों का प्रतिबिंब अपने आप उद्भासित हो उठेगा। पत्रकार को यही चिन्ता रहती है कि आईने मे बहुत सारे लोगों का प्रतिबिंब ठीक-ठीक उभरा है या नहीं। चूंकि चक्रवर्ती की व्यक्ति-सत्ता के बजाय प्रतिनिधि-सत्ता पाठकों की निगाह में प्रमुख हो उठी है, इसलिए 'अमरीका' कहानी भी उसी परिमाण मे साहित्य के बजाय पत्रकारिता हो गयी है। साहित्य के संबंध मे मेरा विचार, हो सकता है, प्रमादपूर्ण हो, परन्तु इतना दावा तो अवश्य करूँगा कि आपकी रचना मैंने ध्यान से पढ़ी है। नमस्कार! इति।

—सात्यकी लाहिड़ी
४ बी, अब्दुल रसूल एवेन्यू (सेकेण्ड फ्लोर)
कलकत्ता—२६
१४-१०-'६०

यह पत्र पाते ही मैंने उपर्युक्त पते पर पत्रोत्तर भेजा। उत्तर का अंश-विशेष यहाँ उद्धृत कर रहा हूँ—

मुझे विश्वास है

इस कहानी मे कितनी पत्रकारिता और कितना साहित्य है—यानी वह ऑब्जेक्टिव है या सब्जेक्टिव, नायक की इसमे कितनी प्रतिनिधि-सत्ता और कितनी व्यक्ति-सत्ता है—इस संबंध में पाठकवर्ग के बीच काफी तर्क-वितर्क चल रहा है। इस समय मैं फतवा जारी कर उस तर्क का खडन नही करना चाहता। तब हाँ, इस संदर्भ मे रवीन्द्रनाथ की कतिपय उक्तियाँ स्मरणीय हैं—

"किसीको बलपूर्वक आनन्द नही दिया जा सकता है। कुसुम-फूल से कोई उसका रंग निकालता है, कोई तेल के लिए उसके बीजों को निकालता है और कोई मुग्धनयन उसकी शोभा का अवलोकन करता है। काव्य से कोई इतिहास निकालता है, कोई दर्शन निकालता है, कोई नीति और कोई विषय-ज्ञान का उद्‌घाटन करता है—लेकिन कोई ऐसा भी व्यक्ति होता है जो काव्य से काव्य के अतिरिक्त कुछ और बाहर नहीं निकाल पाता है।"

मेरी इस कहानी में अगर आपको एक पूर्णांग विशुद्ध कहानी मिली हो तो मैं अपने-आपको कृतार्थ समझूँगा। तभी मैं अपने श्रम को सार्थक समझूँगा। इति।

लेकिन इसके बाद ही दुर्घटना घटी। कई दिन बाद और-और पत्रों के साथ एक अद्‌भुत पत्र मेरे पास आया। पढा :

प्रिय महोदय,

पिछले शनिवार यानी २२ अक्तूबर को आपका सात्यकी लाहिड़ी के नाम से प्रेषित पत्र हमारे घर पर आया। पता है—४ बी, अब्दुल रसूल एवेन्यू, कलकत्ता—२६। पता बिलकुल ठीक है। यहाँ तक कि सेकेण्ड फ्लोर भी। लेकिन खेद की बात है कि हमारे घर मे सात्यकी लाहिडी नामक कोई सज्जन नहीं रहता है। यहाँ तक कि आसपास के किसी मकान मे भी उक्त नाम का कोई व्यक्ति नहीं है। लिफाफे के ऊपर ही आपका पता था, हालांकि समझ नही सका कि यह आपका ही पता है। फिर भी मैं कौतूहल दबा नहीं सका। अन्त में बहुत उधेड़-बुन के बाद लिफाफे को खोल ही डाला। आशा है, आप मुझे मेरे कौतूहल के लिए क्षमा करेंगे। पढने पर समझ मे आया कि किसी लाहिड़ी महोदय को आपने अपनी कहानी पर उनके द्वारा कुछ राय जाहिर करने पर धन्यवाद दिया है। अब प्रश्न खड़ा होता है, यह सात्यकी लाहिडी कौन हैं? इतने समझदार पाठक होने के बावजूद उन्होंने अपना पता गलत क्यों भेजा? मेरे मित्रों के बीच भी किसीका नाम सात्यकी लाहिडी नहीं है जिसे मैं लिफाफे पर अपना पता देने को कहूँ। यह एक आश्चर्यजनक बात है। अतः आपका पत्र मैं वापस कर रहा हूँ। तब हाँ, बहुत सोचने-विचारने के बाद ही ऐसा कर रहा हूँ। शुरु मे सोचा, क्यों न इस पत्र को यहीं रहने दूँ। बहुत दिनों के बाद इससे कुछ नाम कमाया जा सकता है। मगर इस इच्छा को दबा लिया। बहरहाल, आपको पत्र लिखने का एक और कारण है। पता नही पत्र से आपका कुछ उपकार हुआ है या नही, मगर मैं तो उपकृत हुआ हूँ। अतः कृतज्ञता के तौर पर लिखना भी मेरे लिए लाजिमी है। आप मेरा अभिनन्दन स्वीकार करें, हालांकि इस अतिरिक्त अभिनन्दन के लिए सात्यकी लाहिड़ी ही जिम्मेदार हैं।

शायद आप अच्छी तरह थे मगर कहीं से एक सात्यकी लाहिड़ी बीच में कूदकर चले आये और पहेली की रचना कर चले गये। नमस्कार।

—देवकुमार मुखोपाध्याय

यह घटना अपने आपमें संपूर्ण है। इसकी व्याख्या की कोई जरूरत नहीं। मेरी जिन्दगी की यह पहली घटना नहीं है। सात्यकी लाहिड़ी जैसे लोगों का मेरे जीवन में बहुत बार विभिन्न नामों से आविर्भाव हुआ है और तरह-तरह से मेरे साहित्य की व्याख्या कर उन्होंने मुझे कृतज्ञता के बंधन में बाँध लिया है। वे मुझे प्यार करते हैं, इसका मुझे पता है। परन्तु उनका पता न मालूम रहने के कारण कृतज्ञता-ज्ञापन का सुयोग मुझे कभी नहीं मिला। इस बार भूमिका के तौर पर मैं उस सुयोग का सद्व्यवहार कर रहा हूँ।

●

मुझे विश्वास है

खरीदो कौड़ियों के मोल के संदर्भ में

['खरीदी कौड़ियों के मोल' के दोनों खण्डों की भूमिका यहाँ उद्धृत की जा रही है। इन भूमिकाओं को पढने से यह स्पष्ट हो जाता है कि विमल मित्र के साहित्य-सृजन की नींव कितनी गहरी है तथा सामाजिक चेतना के किस स्तर तक पहुँच गयी है। विमल मित्र का 'खरीदी कौड़ियों के मोल' एक ऐतिहासिक उपन्यास है और इसके माध्यम से लेखक ने यह प्रमाणित कर दिया है कि आज भी 'वाद' से ऊपर उठकर उपन्यास लिखा जा सकता है।—अनुवादक]

भूमिका–प्रथम खंड

बचपन में मेरी प्रिय पुस्तक रामायण थी। कहा जा सकता है कि कहानी का मेरा वही प्रथम पाठ था। कहानी का रस कितना गंभीर हो सकता है, इस बात को आँख के आँसू के साथ उस दिन जिस तरह हृदयंगम किया था, बाद मे किसी और ग्रंथ को पढ़कर वैसा हृदयंगम नहीं कर सका। यह तो कहानी का पहलू हुआ। हम जब तक कहानी पढते हैं तभी तक हमें उसका रस प्राप्त होता है। दूसरे ही क्षण कहानी का आवेदन हल्का हो जाता है। परन्तु कहानी के ऊर्ध्व मे एक और तीव्रतर एवं गंभीरतर आवेदन रहता है जो पढते ही समाप्त नहीं हो जाता। वह जीवन से तादात्म्य हो जाता है, जीवन को आगे बढा देता है, जीवन की अग्रगति की सहायता करता है। रामायण उसी कोटि की कहानी है जो युग से युगान्तर तक प्रसारित हो जीवन को जाग्रत करती है, उसे पुनर्जीवन दान करती है। बड़े होने पर देखा, रामायण सारहीन कवि-कल्पना नहीं है। आज भी इस दुनिया मे लाखों राम, सीता और रावण अपनी-अपनी महिमा के साथ विराजमान हैं। अयोध्या और लंका केवल भौगोलिक नाम नहीं हैं—कलकत्ता शहर मे भी वे स्थान अवस्थित हैं। इस कलकत्ते मे भी इस युग की सीता का हरण होता है। इस युग मे भी सीता को वनवास दिया जाता है। इस बीसवीं शताब्दी मे भी सीता पाताल मे प्रवेश करती है। बहुत दिनों से कल्पना कर रहा था कि रामायण की कथा अपनी भाषा मे लिखूं। लेकिन वैसा नहीं कर सका। उसके बदले 'खरीदी कौड़ियो के मोल' लिख बैठा।

भूमिका–द्वितीय खंड

रामायण लिखने के बजाय 'खरीदी कौड़ियों के मोल' क्यों लिख बैठा, यह बात प्रथम खंड की भूमिका मे कह चुका हूँ। मैं न तो वाल्मीकि हूँ और न ही वाल्मीकि की प्रतिभा मुझमे है। उन्होंने सत्ययुग की कहानी लिखी थी और मैं कलियुग की कहानी लिख रहा हूँ। मैंने इस काम को जितना आसान सोचा था उतना आसान नहीं है। जब लिखना शुरू किया तो देखा, कलियुग की अपेक्षा सत्ययुग बहुत अधिक वास्तविक है। सत्ययुग मे पुण्य की विजय सुनिश्चित थी और पाप की पराजय अनिवार्य। लेकिन कलियुग के साथ वह बला नहीं है। इस युग मे निर्दोष प्रतिपक्ष को मुकद्मे में फँसाकर बर्बाद कर दिया जा सकता है। समाज मे प्रभाव-प्रतिष्ठा रहे तो हत्या के अपराध मे भी बेकसूर साबित हो सकता है। इस युग में रावण के लिए राम को पराजित कर अयोध्या के सिंहासन पर अधिकार जमाना संभव है—यहाँ तक

कि समाज और संसार मे वैसे लोगों का प्रातःस्मरणीय होने का भी दृष्टान्त मिलता है। यह रुपये का युग है, यह कौड़ी का युग है। इस कौड़ी के युग की कहानी लिखने के लिए मैंने इसी वजह से बार-बार महाकवि का स्मरण कर अहंकार का अपह्नव करना चाहा है। लेकिन ऐसा होने पर भी मेरी इच्छा यही थी कि उपन्यास के अन्तिम अध्याय में मैं वाल्मीकि की तरह ही रावण का वध दिखाकर राम को अयोध्या के सिंहासन पर गौरव के साथ प्रतिष्ठित करूँगा। इस कलकत्ता शहर ही में राम-राज्य प्रतिष्ठित कर इस उपन्यास को समाप्त करूँगा। भूगोल चाहे न करे, कम-से-कम साहित्य तो गांधीजी के सपने को सार्थक बनायेगा। लेकिन मैं ऐसा नहीं कर सका। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अशुभ बुद्धि की साजिश से मेरी तमाम योजना विफल हो गयी। वाटरलू-युद्ध के बाद १८१५ ई० में जिन लोगों ने रावण को हमेशा के लिए सेन्ट हेलेना द्वीप में बन्दी बना कर खत्म करना चाहा था, उन्हीं लोगों ने अपने स्वार्थ के कारण १९३२ ई० में उसी रावण को पुनर्जीवित कर दिया। एक दिन फ्रांस का नेपोलियन फिर जर्मनी का चांसलर बन बैठा। जिस देश ने १९३२ ई० में जापान के हाथों मोटी रकम में लोहे की बिक्री की थी उसी देश पर वह लोहा सूद के बदले बम बनकर १९४२ ई० में बरसने लगा। यानी इंगलैण्ड के पौंड, अमरीका के डॉलर, फ्रांस के फ्रैंक, जर्मनी के मार्क, रूस के रूबल, जापान के एन, इटली के लीरा और हिन्दुस्तान के रुपये का स्टॉक एक्सचेंज के सभी रावणों ने आपस में बँटवारा कर उन पर अपना अधिकार जमा लिया। एक रावण अनेक रावणों में परिणत हो गया। लोगों ने महसूस किया, न्यूरेमबर्ग-ट्रायल में जिन लोगों को फाँसी की सजा दी गयी थी, उन लोगों के साथ फाँसी की सजा देनेवालों को भी अगर फन्दे पर लटकाया जाता तो सबसे बड़ा न्याय यही होता। अतः रामराज्य की स्थापना करने की इच्छा रहने से क्या होगा, दुनिया में कब रातों-रात रावण-राज्य की स्थापना हो गयी थी कि लोगों को इसका पता भी नहीं चला। जब पता चला तो समय नहीं था। उसी समय इस उपन्यास का रावण जेल से छुटकारा पाकर और अधिक शक्ति-शाली हो गया था। किसी दिन मनुष्य के लिए ही रुपये की ईजाद हुई थी और उस समय रुपये के लिए ही घोषाल साहब जैसे लोगों की सृष्टि हुई। और सीता? सीता का पाताल-प्रवेश? इस युग के आम लोगों की इच्छा, आनन्द और कामना का प्रतीक यदि सती है तो वह असमय ही महान् दावे की पूर्ति करते-करते निश्चिह्न होती जा रही है। आज मानवता की पहचान रक्त-मांस की कीमत चुकाने पर होती है। 'देश' पत्रिका में जब यह उपन्यास धारावाही प्रकाशित हो रहा था तो अनगिनत पाठक साग्रह मुझसे अनुरोध कर रहे थे कि सती का सर्वनाश न होने दूँ। परन्तु वाल्मीकि ही क्या सीता के पाताल-प्रवेश को रद्द कर सके थे? वाल्मीकि जो नहीं कर सके, वह मैं कैसे कर पाता? उतनी निपुणता मैं अपने में कैसे लाऊँ? फिर भी यह सोचकर अपने मन को सान्त्वना दी है कि यह भी संभवतः कलि का माहात्म्य है। लेकिन नहीं, मेरी धारणा गलत थी। माहात्म्य कलि का नहीं, कौड़ी का है।

●

मैं अपनी निगाह में

[१९४६ई० में 'देश' 'पत्रिका में छाप' (दायरे के बाहर) उपन्यास जब धारावाही रूप में प्रकाशित हो रहा था तो विमल मित्र आँखों के दर्द से पीड़ित रहने लगे। आँख की बीमारी ने ऐसा रूप ले लिया कि लगा अंधा बन कर ही छोडेगी। उस समय लेखक साहित्य-क्षेत्र से हटकर अज्ञातवास करने चले गये। उसके इस अज्ञानवास की बात एकमात्र 'देश' सम्पादक के अतिरिक्त किसी दूसरे को मालूम नहीं था। 'छाइ' उपन्यास तथ अन्यान्य कहानियों को पढ़कर 'देश' पत्रिका के, सम्पादक को विमल मित्र की साहित्यिक सम्भावना का पता चल गया था। इसीलिए अज्ञातवास से उन्हें वापस लाने के ख्याल से नकली विमलमित्र के नाम से 'देश' के सम्पादक सागरमय बाबू ने रचना प्रकाशित की और असली विमल मित्र को कहानी लिखने के लिए बाध्य किया। परिणामस्वरूप हमें 'साहब बीबी गुलाम', खरीदी कौड़ियों के मोल' और 'बेगम मेरी विश्वास' जैसी कालजयी कृतियाँ प्राप्त हुई। प्रस्तुत निबन्ध 'घरोया' (घरेलू) पत्रिका के तत्कालीन सम्पादक क्षितीशचन्द्र सरकार के अनुरोध पर लिखा गया था।—अनुवादक]

स्थान : विलासपुर। समय : १९४८ ई०। पात्र : मैं।

छत्तीसगढ के अन्तर्गत विलासपुर एक बड़ा शहर है। रेलवे के मुख्यालय की कॉलनी, विलासपुर सिटी, शनिचरी बाजार, डाकघर, थाना, जी०आर०पी०, अदालत-कचहरी, मुसिफ, जज, मैजिस्ट्रेट वगैरह सब कुछ विलासपुर मे है। आसपास शिकार करने के लिए है झील और जंगल। इसके अतिरिक्त बेंगाली इंस्टिट्यूट, साउथ इण्डियन एसोसियेशन, रनिंग रूम, बुधवारी बाजार तथा शाम को चहल-कदमी करने के लिए प्लेटफार्म। लंबा-चौड़ा प्लेटफार्म। तीसरे पहर जब डाउन कलकाटा मेल आती है तो कितने ही नये चेहरे दीखते हैं। लाल, काले, गोरे, पीले चेहरे। लोग कितनी दूर से आते हैं और फिर कितनी दूर चले जायेंगे।

इसी परिवेश मे मै नौकरी करता हूँ—एक अजीब ही तरह की नौकरी। मेरा मुख्यालय विलासपुर है लेकिन कार्यालय बहुत दूर। ढाई सौ मील दूर। जबलपुर। यानी मैं ही स्वयं का मालिक हूँ। मेरे पास एक रेलवे कार्ड पास है। उसमें लिखा है—एनी स्टेशन टु एनी स्टेशन। अर्थात् मेरी गतिविधि जहाँ-तहाँ है। मेरा डेजिगनेशन है–रेलवे सेक्शन ऑफिसर। दरअसल मैं एक जासूस हूँ। केन्द्रीय सरकार का कौन कर्मचारी रिश्वत लेता है, कौन चोरी करता है, कौन अफसर पैसा लेकर वैगन की आपूर्ति करता है, मैं इन्हीं बातों की देख-रेख करता हूँ। महीने मे सत्ताईस-अट्ठाईस दिन ट्रेन पर चढकर घूमता-फिरता रहता हूँ। उन दिनो मेरी आँख और कान सतर्क रहते हैं। कभी मैं फर्स्ट क्लास मे बैठता हूँ, कभी आइसवेंडर के डिब्बे मे, कभी ब्रेक वैन मे और कभी डाइनिंग कार मे। जो लोग मुझे पहचानते हैं आमने-सामने होने पर वे मेरा सम्मान करते हैं लेकिन पीठ-पीछे मुझे गाली देते हैं।

इसी तरह का सिलसिला चल रहा था। अचानक एक घटना के कारण सब कुछ उलट-पलट गया।

इस नौकरी मे आने पर सुनाम-दुर्नाम दोनों प्राप्त हुए हैं। कहीं कुछ नही, एकाएक किसी दिन सिपाही-पुलिस-मैजिस्ट्रेट आकर कुछ लोगों को गिरफ्तार कर लेते हैं। लोग समझते हैं, यह किसी दूसरे का नहीं, मेरा ही काम है। वे आपस मे कहते हैं, "यह आदमी बाहर से देखने मे जैसा लगता है, असल मे वैसा नही है।" कुछ लोग कहते हैं, "वह अपनी ड्यूटी करते हैं, इसमे इनकी कौन-सी गलती है ?"

उस दिन रास्ते पर एक आदमी मेरे सामने आते ही ठिठककर खड़ा हो गया। बोला, "आपकी एक रचना पढ़ने को मिली विमल बाबू—बहुत ही अच्छी है।"

मैं भौंचक-सा रह गया। कभी मैं जरूर लिखता था। उन दिनों विभिन्न पत्रिकाओं मे प्रकाशित रचना के कारण मुझे सम्मान भी मिलता था। लेकिन यह तो बहुत पहले की बात है! वह रचना इतने दिनों के बाद इस व्यक्ति को कैसे मिल गयी ?

मैंने पूछा, "आपने कहाँ देखा ?"

आदमी ने कहा, " 'देश' पत्रिका के इस अंक मे।"

मैं अब वहाँ खड़ा नहीं रहा। सीधे प्लेटफार्म आकर ह्वीलर के बुकस्टॉल पर 'देश' पत्रिका को उलटने पर देखा। बात सही है। एक कविता प्रकाशित हुई है। नाम है—गोलाप गंध (गुलाब की गंध)। कवि—विमल मित्र।

मेरी आँखो मे आँसू भर आये। घर आने पर रातभर नींद नहीं आयी। अपने व्यतीत की सारी कीर्त्तियों को मैंने जैसे अपने ही हाथों से समुद्र मे विसर्जित कर दिया है। मैंने जैसे अपने 'मैं' का गला दबाकर उसे मार दिया है। मैं हमेशा से निस्संग रहा हूँ। फिर क्यों रात पर रात जगकर इतने दिनों तक कहानी लिखता रहा, लिखकर वक्त बर्बाद करता रहा ? अगर मुझे साहित्य से नाता ही तोड़ना था तो क्यों मैंने अपना स्वास्थ्य, समय, निद्रा वगैरह को तिलांजलि दी थी ? बचपन मे बहुतेरे लोग बहुत कुछ होने की कामना करते हैं। मैंने तो कुछ और कामना नहीं की थी। अपने दूसरे भाइयों की तरह बड़े आदमी न होने की इच्छा जाहिर करने पर मुझे माँ-बाप से कितनी ही झिड़कियाँ सुननी पड़ी थीं! उनका कहना था, जिसका न तो कोई अर्थ है और न परमार्थ—मैंने उसी ऊटपटांग काम मे अपने-आपको तल्लीन कर दिया है। अर्थात् तुच्छ नगण्य बंगला मे मैंने एम० ए० पास किया है, जिसकी एकमात्र परिणति स्कूल या कॉलेज की अध्यापकी है। मैं अनायास विलायत जाकर बैरिस्टरी पढ़ सकता था। चार्टर्ड एकाउन्टेन्ट हो सकता था। डॉक्टरी, इंजीनियरिंग वगैरह अर्थकरी विद्या पढ़ सकता था। मेरे गुरुजन इससे प्रसन्न ही होते। वे प्रसन्न होकर मेरी पढ़ाई के खर्च का इन्तजाम करते। मैं और कुछ होने के बजाय साहित्यकार होना चाहता था इसीलिए उन्हें इतना मानसिक कष्ट होता था। सोचा, मेरा नाम, मेरी पहचान और मेरा अस्तित्व क्या अन्ततः एक नकली विमल मित्र के कारण धुल-पुँछ जायेंगे ?

उसी रात 'देश' पत्रिका के संपादक को एक पत्र लिखने बैठ गया। लिखा—मैं

मुझे विश्वास है

अब भी जिन्दा हूँ। कहानी लिखना छोड़ देने के बावजूद अब भी जिन्दा हूँ। आप लोग क्या मुझे जीवित अवस्था मे ही मार डालना चाहते हैं ? नकली विमल की खोजकर मुझे शर्मिन्दा न करें। अगर सोचते हों कि मैं मर गया हूँ तो मुझे शान्तिपूर्वक मरने ही दें, इत्यादि-इत्यादि।

पत्र लिखकर लेटरबॉक्स में डाल आया मगर रात मे मुझे अच्छी तरह नींद नहीं आयी। याद आने लगा कि मैं लेखक हूँ। याद आया, कभी मेरी रचनाएँ लोगों को अच्छी लगती थीं। उस युग में भी, जब साहित्य-कर्म नितान्त शौकिया चीज था, उपेन्द्रनाथ गंगोपाध्याय, रामानन्द चट्टोपाध्याय और जलधर सेन अपनी 'विचित्रा', 'प्रवासी' तथा 'भारतवर्ष' पत्र-पत्रिकाओं में मेरी रचनाएँ छापकर मुझे खासा अच्छा पारिश्रमिक देते थे। याद आया, कभी मैं रात-रातभर जगकर लिखता रहता था और इसके कारण मुझे गुरुजनों की झिड़कियाँ सुननी पड़ती थीं। गुरुजनो की बात मुझे याद आयी, सभी लेखक दरिद्र ही होते हैं। मेरा एक भाई डॉक्टर है, दूसरा इंजीनियर और मैं एक तुच्छ लेखक बनूँगा ! चाहे जो हो, अगर जीवन-भर दरिद्रता ही भोगनी है तो मैं इसके लिए भी राजी हूँ। बहुत दिन पहले की बात का मुझे स्मरण हो आया—A man is judged not by what he enjoys, but what he does * याद आया, मेरे जैसे लाखो आदमी इस धरती पर आये और यहाँ से बिदा हो गये। अपनी अनुभूति-परीक्षित जिन संपदाओ को मैं अपने हृदय मे पालता आ रहा हूँ उनका क्या होगा ? किसे देकर जाऊँगा ? अपनी उन चीजों को कब आमलोगों की चीज के रूप मे परिणत करूँगा ? मुझसे दसगुना अधिक वेतन मेरे आइ० जी० को मिलता है। मैं तो अपने दफ्तर के बारह जेनरल मैनेजरों को देख चुका हूँ। एक के बाद एक आया और चला गया। कौन उन्हे याद रखे है ? उनके चिन्तन से इस धरती की कितनी उन्नति हुई है, वह कहाँ तक आगे बढी है ? बडी-बड़ी गाडियाँ और कीमती सूट आज कहाँ चले गये ? महीने मे पाँच हजार तनख्वाह पानेवाले वे महापुरुष कहाँ चले गये ?

तीन दिन बाद ही कलकत्ते से पत्र आया।

संपादक ने लिखा था—आप यदि कहानी नहीं लिखेंगे तो हम नकली विमल मित्र की और भी रचनाएँ छापेंगे। जितने दिनो तक आप नहीं लिखेंगे, उतने दिनों तक छापेंगे। तुरन्त अपनी कहानी भेजिये।

आश्चर्य की बात है ! तब मेरी ख्याति ही कितनी थी। १९४६ ई० मे 'देश' पत्रिका में मेरा महज एक ही उपन्यास धारावाही तौर पर प्रकाशित हुआ था। उसका नाम मैंने 'छाइ' (दायरे के बाहर) रखा था। उस उपन्यास का अन्त होने के पहले ही अकस्मात् मुझे आँख का रोग हो गया और स्थिति ऐसी हो गयी कि मैं अंधा हो जाऊँगा। अंधी आँखें ले साहित्य-जगत् के साथ-साथ कलकत्ते से भी लापता हो गया।

* किसी व्यक्ति के बारे में इससे धारणा नहीं बनायी जाती है कि वह क्या भोगता है बल्कि इससे कि वह क्या करता है।

उस समय मेरा पता किसीको मालूम नहीं था। लेकिन 'देश' संपादक मेरी गतिविधि का पता लगाते रहते थे। क्यों लगाते रहते थे? वह मेरे मित्र भी नहीं हैं। उनसे मेरा कोई पारिवारिक रिश्ता भी नहीं है। अड्डेबाजी तो दूर की बात। वह संपादक ठहरे और मैं एक नगण्य, तुच्छ और अख्यात लेखक। फिर वह लिखने के लिए मुझ पर इतना दबाव क्यों डाल रहे हैं? हजारों कोशिश के बावजूद आज तक मुझे इसका ठीक-ठीक उत्तर नहीं मिला है। हालांकि मैं न लिखता तो उस समय 'देश' पत्रिका की कोई क्षति भी नहीं होती। मेरा नाम अपने साथ जोड़ने से 'देश' पत्रिका के गौरव में कोई वृद्धि नहीं हो सकती, बल्कि गौरव-ह्रास होने की ही आशंका थी।

बहुत कोशिश कर अपनी नौकरी मैंने बदल ली और कलकत्ता चला आया। तनख्वाह में बहुत कमी आ गयी लेकिन तब तनख्वाह के प्रति मुझमें घृणा का भाव जग गया था। यहाँ तक कि रुपये के प्रति भी। ऐसा महसूस हुआ कि परिचय देने को मेरे पास अगर कुछ नहीं बचता है तो रुपये से उसकी क्षति-पूर्ति नहीं हो सकती। मैं एक साधारण आदमी हूँ, अत्यन्त साधारण, नगण्य और तुच्छ—अपना यही परिचय किसी दिन रक्त के अक्षरों से लिखकर चला जाना पड़ेगा। उन्नीसवीं शताब्दी से शुरू कर बीसवीं शताब्दी तक जो अख्यात, अवज्ञात और अत्याचार से पीड़ित मनुष्य इस धरती पर आये हैं और यहाँ से चले गये हैं उन्हें मैं अपना जीवन उत्सर्ग कर अक्षय अधिकार दे जाऊँगा। जो आदमी ओवरसीयर होकर किसी दिन इम्प्रूवमेन्ट ट्रस्ट में दाखिल हुआ है, जिस आदमी ने मजदूर बनकर काम किया है, जिस बहू ने अन्तःपुर के बाड़े में रहकर अपनी सत्ता को कलंकित किया है—यहाँ तक कि विपन्न भी—मैं उन लोगों के बारे में लिख जाऊँगा। और सिर्फ उनकी ही बात नहीं, और भी बहुत सारे लोगों के बारे में लिख जाऊँगा। कालीघाट की बस्ती से लेकर पैलेस कोर्ट तक के जितने लोग कलकत्ते के रोजमर्रा के इतिहास को उन्नीसवीं शताब्दी से शुरू कर बीसवीं शताब्दी तक आगे बढ़ा-कर ले आये हैं, मैं उनके बारे में भी कहूँगा और इस तरह कहूँगा जैसा कि इसके पूर्व कभी नहीं कहा गया है।

मगर कठिनाई इस बात को लेकर हुई कि कैसे कहूँगा। किस्सागोई के नये तौर-तरीके कहाँ से ले आऊँ? इस तरह कहानी कहनी है कि पाठक भूख-प्यास भूल जाय, ट्रेन छोड़ दे, नींद को अपनी आँखों से दूर ठेल दे। मेरी कहानी पढ़ते-पढ़ते पाठक अगर पुस्तक को हटाकर एक ओर रख दे तो वह मेरा ही अपराध कहा जायगा।

टेलीफोन से संपादक पूछते, "कहानी तैयार हुई?"

मैं कहता, "नहीं।"

और अधिक समय लगेगा। दुनिया के तमाम देशों के सभी लेखकों की नयी-नयी कहानियाँ पढ़ना शुरू कर दिया। कोई भी पसन्द नहीं आयी। लगा, किस्सागोई के बँधे-बँधाये नियम को ही तोड़ना होगा। बँधे-बँधाये पथ पर चलने में जितनी सुविधा है असुविधा उससे कहीं अधिक। उसी बँधी-बँधायी बोली को ही अगर दुहराना है तो

मुझे विश्वास है

नये सिरे से लिखने की जरूरत ही क्या है ? फिर बंकिमचन्द्र ने कौन-सा दोष किया है या शरतचन्द्र ने ही कौन-सा दोष किया है ?

उस शाम मैं कालीघाट बाजार के निकट से आ रहा था। बगल में ही एक होटल है—मनोरंजन बोर्डिंग। देखा, होटल के दो मंजिले पर मारपीट चल रही है। मैनेजर किसी को पकडकर बेहद पीट रहा है।

मैं सीधे ऊपर चला गया। मैनेजर का हाथ पकड़कर कहा, "इसे आप मार क्यों रहे हैं ?"

मैनेजर ने कहा, "तीन रुपया बारह आने का खाना खा चुका है, अब कहता है कि जेब मे एक भी पैसा नहीं है। इसे तो जान से मार डालना चाहिए।"

मैंने कहा, "मारने से आपका पैसा वसूल हो जायगा ?"

अपनी जेब से पूरी रकम चुकाकर मैंने उस आदमी से कहा,"जा, यहाँ से भाग जा।"

वह एक निरीह जैसा आदमी था। चेहरा देखने पर लगा, बहुत दिनों से खाना नहीं खाया है। मेरी बात सुनकर वह वहाँ एक क्षण भी नहीं रुका। सिर झुकाये बाहर निकल आया।

सड़क के नुक्कड पर पहुँचते ही देखा, वह आदमी पान की एक दुकान के सामने खडा हो पान चबाकर होंठ लाल कर रहा है। मुझे देखकर खिलखिलाकर हँसने लगा।

"बेवजह आपने पैसा क्यो चुका दिया सर ? व्यर्थ ही आपको कुछ रुपये का घाटा सहना पडा।"

मैं स्तंभित रह गया।

आदमी ने कहा, "पट्ठा मुझे कुछ भी नहीं करता। मार-पीटकर आखिर मे छोड देता। मैं हर होटल मे यही करता हूँ। मार-पीटकर आखिरकार छोड़ देता है।"

बिना कुछ बोले मैं घर चला आया और सीधे 'देश' पत्रिका के कार्यालय मे फोन किया।

"कल सवेरे प्यून भेज दें, मेरी कहानी तैयार है।"

दूसरे दिन सवेरे सागरमय बाबू का पत्र लेकर प्यून आया और कहानी ले गया। और इसी से सूत्रपात हुआ। वह १९५१ ई० की तेरह फरवरी थी। उसके बाद ही एक नयी जिन्दगी की शुरुआत हुई और साथ ही साथ यातना की। १९५१ ई० से लेकर आज १९६२ ई० तक वही जिन्दगी एक ही तौर-तरीके से आगे बढती जा रही है। आज न तो आनन्द की सीमा है, न ही यातना की। कभी कभी लगता है, इतने आनन्द *को मैं सहन नहीं कर पाऊँगा और कभी-कभी लगता है, यातना अब मुझसे बरदाश्त* नहीं होगी। लेकिन पता नही क्यो, सब कुछ नतमस्तक हो स्वीकार लेता हूँ। वास्तव मे मेरे स्वीकारने की शक्ति का भी जैसे कोई अन्त नहीं है। मेरी प्राप्ति की भी कोई सीमा नहीं। मुझे आशातीत प्राप्ति हुई है। जीवन को मैंने प्राप्त करके भी पाया है और खोकर भी पाया है। आनन्द और यातना दोनो के माध्यम से प्राप्त किया है। आज अन्तर से बाहर, आनन्द से यातना और विचार-शक्ति से विश्वास का जो सामंजस्य

स्थापित करने की चेष्टा कर रहा हूँ—वह सब साहित्य की बदौलत ही कर रहा हूँ।

आज मेरे जीवन मे अन्तर, बाहर, सुख-दुःख घुल-मिल गये हैं। मुझे सिर्फ जीवन ही नहीं, मृत्यु की भी प्राप्ति हुई है। मुझे केवल संख्यातीत मित्र नहीं, संख्यातीत शत्रु भी मिले हैं। यही वजह है कि मेरे जीवन के लिए त्याग और भोग दोनों पवित्र हैं, लाभ और हानि दोनों सार्थक सिद्ध हुए हैं। तमाम सुख-दुःख, संपत्ति-विपत्ति तथा निन्दा-प्रशंसा की सार्थकता मेरे जीवन में सुपुष्ट होकर एक अखण्ड प्रेम की परिपूर्णता मे एकाकार हो गयी है। प्रशंसा-निन्दा, संपत्ति-विपत्ति सबको मैंने अपने प्राप्य के रूप में ही स्वीकार किया है। खासकर प्रशंसा और निन्दा को। मनु ने कहा है—'सम्मान को विष समझो और अपमान को अमृत।' और रवीन्द्रनाथ ने ?

रवीन्द्रनाथ की बात रहे। अपनी बात कहने के लिए रवीन्द्रनाथ का नाम जबान पर न लाना ही ठीक है। वह अहंकार की बात होगी। लेकिन फिर भी सोचता हूँ, साहित्य-रचना करने पर कुत्सा-कलह, निन्दा-प्रशंसा, स्तुति तथा परश्रीकातरता इत्यादि क्या एकान्त अपरिहार्य है ?

●

सूची से नाम रद्द करने का कहानी

[प्रस्तुत निबन्ध बंगाब्द १३७२ में 'भचित्र श्रीमती' के शारदीय अंक में प्रकाशित हुआ था। निबन्ध की विषयवस्तु अत्यन्त साधारण रहने के बावजूद कथ्य की सशक्तता ने इसे स्तरीय रचना की श्रेणी में लाकर पहुंचा दिया ह। लेखक को अपने साहित्यिक जीवन में जिस ईर्ष्या और द्वेष का सामना करना पड़ा है, उनका प्रस्तुत निबन्ध में बड़ा ही जीवन्त चित्रण हुआ है।—अनुवादक]

आज से पचीस-तीस वर्ष पहले साहित्य की हाट में किस प्रकार का शोर-गुल रहता था उससे आज के युवा लेखक परिचित नहीं हैं। 'हाट' शब्द का प्रयोग मैंने श्लेषात्मक अर्थ में किया है। श्लेष से अगर अधिक परिमाण मे कड़ुवाहट प्रकट हो जाय तो आशा है, अनिवार्यता के तौर पर इसे क्षम्य समझा जायगा।

जिस रचना-संसार में लेखक ध्यानमग्न रहता है, वह यद्यपि उसके आसपास का संसार होता है लेकिन उस संसार का नायक लेखक स्वयं ही होता है। स्वयं को जानने-पहचानने के माध्यम से लेखक आत्माभिव्यक्ति के पथ का अन्वेषण करता है। कभी वह नारी होता है और कभी नर। कभी वह देश होता है, कभी इतिहास। कभी वह व्यक्ति होता है और कभी तत्त्व।

परन्तु इन सबों के ऊपर एक और वस्तु है और वह है साहित्य के मूल्य की बात। उसका नाम है रस। रस संज्ञा बड़ी ही व्यापक है। किससे रस की सृष्टि होती है और किससे नहीं होती है, शास्त्र में उसका सुनिश्चित विधान है। लेकिन रसिक चित्त विधान के अधीन नहीं होता। वह कहेगा, तुमने विधान का पालन किया है या नहीं, यह मुझे नहीं देखना; मुझे न तो शास्त्र की जानकारी है और न ही विधान की। मैं केवल अपनी रसना को जानता हूँ। यही वजह है कि रस का आवेदन सबसे बड़ा आवेदन होता है। वह दूर को निकट बनाता है, पराये को अपना बनाता है। रस की अपरिहार्यता के कारण मुसलमान वैष्णव बन जाता है, ब्राह्मण फकीर हो जाता है। जो रस इतना व्यापक है वह क्या इतना सुलभ हो सकता है? विश्व के तमाम विश्वविद्यालयों में धरना धरने से भी रस की डिग्री उपलब्ध नहीं होती और चूंकि उपलब्ध नहीं होती इसीलिए साहित्यकारों को ध्रुव रसिक पाठक के भरोसे युग-युगों तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है।

प्रतीक्षा करने की यातना बड़ी भयंकर यातना होती है। यातना सहने की अटूट शक्ति न रहने पर साहित्यकार की अपमृत्यु हो जाती है। उसमें विचलित होने से साहित्य-कर्म में बाधा पहुँचती है। साहित्यकार को स्थितप्रज्ञ होकर अपने सृजन की साधना मे निमग्न रहना पड़ता है। साहित्यकार न तो संसारी होता है और न ही संसार-वैरागी। सब कुछ रहने के बावजूद साहित्यकार सब कुछ के संपर्क से विलग रहता है। सब कुछ से जुड़े रहने के बावजूद मुक्त रहना ही उसकी सिद्धि है। जीवित

अवस्था मे उसके लिए ख्याति या पुरस्कार पाना ठीक नहीं होता। पाने से बहुत हानि होती हो, ऐसी बात भी नहीं, परन्तु न पाने मे कोई नुकसान भी नहीं होता। क्योंकि जीवन के तमाम यथार्थ क्षेत्रों मे यद्यपि सरकारी कचहरी के कानून की आवश्यकता पड़ती है लेकिन साहित्य का यश अब भी उसके अधिकार-क्षेत्र के बाहर की वस्तु है और आशा की बात है कि चिरकाल तक ऐसा ही रहेगा। चौकीदार या दरोगा को निर्धारित उम्र मे पहुँच जाने पर पेंशन मिलती है लेकिन साहित्यकार की सेवा-निवृत्ति का कानून अब भी चालू नहीं हुआ है। उसके पेंशन की शुरुआत मृत्यु के बाद होती है।

यह सब संभवतः मैं कहीं कह चुका हूँ। फिर भी इस कहानी को कहने के सिलसिले मे इन बातों को कहानी की भूमिका के तौर पर ही प्रयोग मे ला रहा हूँ।

साहित्यकार या किसी कलाकार के जीवन की भावना के लिए उपर्युक्त शब्द अपरिहार्य रहने के कारण ही उल्लेखनीय हैं। चूंकि मैं व्यक्तिगत तौर पर उपन्यासकार हूँ इसीलिए स्वभावतया जीवन के प्रति चेतन हूँ। और-और कलाकारों के जीवन मे वह चेतना किस रूप मे प्रतिफलित हुई है, इसका मैं हमेशा निरीक्षण करता रहता हूँ। इसी वजह से इतिहास और जीवनियाँ पढ़ना मेरे लिए नशे जैसा हो गया है।

हाल ही मे मैंने एक और जीवनी पढ़ी। मेरे जीवन की घटना से इस घटना मे ऐसा सादृश्य मिल गया कि उसे बिना कहे रह नहीं पा रहा हूँ।

वह विख्यात चलचित्र-कलाकार चार्ली चैपलिन की जीवनी थी। चार्ली चैपलिन की कोई फिल्म देखने का मुझे सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ है। लेकिन उसके जीवन के संबंध मे इतनी बातें सुन चुका हूँ कि उनके विषय मे मुझे काफी-कुछ जानकारी प्राप्त हो गयी है।

शुरू मे उनके जीवन की घटना के बारे मे ही बताता हूँ। बाद में अपने साहित्यिक जीवन के बारे मे कहूँगा।

यह चार्ली के जीवन के बिलकुल प्रारंभिक काल की बात है। उस समय उन्हें यह भी पता न था कि सिनेमा क्या चीज है। गरीबी, अर्थाभाव और उत्कट महत्त्वाकांक्षा के कारण तब उनकी हालत पागलों की तरह थी। तभी एक कंपनी के मालिक ने चार्ली से कहा कि वह उसके स्टूडियो के कार्यालय मे उससे आकर मिलें।

सिनेमा कंपनी के स्टूडियो का कार्यालय। साधारण कार्यालयों की तरह ही शान्त परिवेश। लोगों की भीड़, व्यस्तता, और कलरव से भरा माहौल।

चार्ली सदर फाटक तक गये। लेकिन अन्दर जाने मे अहेतुक लज्जा ने दबोच लिया। अन्दर जायें या नहीं जायें—इस वजह से दुविधा और संकोच से मिला-जुला एक प्रकार का आतंक था।

आखिरकार चार्ली घर लौट आये।

उसके दूसरे दिन भी यही बात हुई। एक अकारण जड़ता ने आकर उनके मन और पाँवों को उस दिन भी जकड़ लिया। सदर फाटक के सामने खड़े हो अपने अस्तित्व की क्षुद्रता और नगण्यता के कारण वह परेशान हो उठे। स्टूडियो के अन्दर से जो लोग

मुझे विश्वास है

बाहर निकल रहे थे और जो बाहर से फाटक के अन्दर जा रहे थे वे सभी उनकी निगाह मे स्वनामधन्य व्यक्ति प्रतीत हुए और उस समय वह एक तुच्छ, अविख्यात साधारण व्यक्ति थे। कोई अगर उन्हे अन्दर जाने से रोक ले!

उस दिन भी चार्ली आखिरकार घर लौटकर चले आये।

उसके बाद लगातार दो दिनो तक यही हालत रही। उन्होने तय किया, अब वह स्टूडियो के भीतर नहीं जायेंगे। स्टूडियो के अन्दर जाने की उनमे हिम्मत नहीं है।

कंपनी के मैनेजर ने उनके पास खबर भेजी। "क्या हुआ? तुम आये क्यो नहीं? आज जरूर आना। आकर मुझमे स्टूडियो में मिलना।"

उस दिन उस तरह की जड़ता ने आकर चार्ली को पहले की तरह अचल नहीं बनाया। उस दिन वह सिर ऊपर उठाये स्टूडियो के अन्दर चले गये। उस समय चारो ओर व्यस्तता का वातावरण था। चेहरे पर रंग पोते युवक-युवती इधर-उधर चहल-कदमी कर रहे थे।

कंपनी के मैनेजर ने हेनरी लारमैन से जान-पहचान करा दी।

उन दिनों हेनरी लारसैन फिल्मी दुनिया के ख्यातिप्राप्त निर्देशक थे। बड़े ही अहंकारी आदमी।

बोले, "तुमने कभी फिल्म मे काम किया है?"

"नहीं।" चार्ली का उत्तर था।

लारमैन ने कहा, "फिर मैं जो कुछ करूँगा, उसे ध्यान से देखो।"

चार्ली का सिनेमा के संबंध मे वही पहला अनुभव था। किस तरह तसवीर ली जाती है, कैसे एडिटिंग की जाती है, यह सब उन्होंने देखा। उसके बाद एक फिल्म में काम करने की बारी है, एक समाचार-पत्र के रिपोर्टर की भूमिका मे।

हेनरी लारमैन ने चार्ली को समझाया कि किस तरह अभिनय करने से लोग हँसेंगे। किस तरह की शारीरिक मुद्रा का प्रदर्शन करे कि लोगों को मजा मिले।

यह उनके जीवन में पहली बार सिनेमा के अभिनय मे उतरने का मौका था। उन्हे रोमांच और कौतूहल का अनुभव हो रहा था। साथ ही साथ उनके मन मे आशंका भी जग रही थी! भय के कारण चार्ली को रात मे नींद नहीं आती थी। नींद की बेहोशी मे भी चार्ली अपनी तसवीर कल्पना में देखते थे। कल्पना करते थे कि लाखो आदमी उनकी तसवीर देख रहे हैं और देखकर लोट-पोट हो रहे हैं। जब तक फिल्म बनने का काम चलता रहा चार्ली मन लगाकर काम करते रहे। कलाकार के जीवन के वे संघर्ष के दिन होते हैं। हर जीवन-चेतन कलाकार को इस संघर्ष मे उत्तीर्ण होना पड़ता है। जिसके जीवन मे संघर्ष नहीं होता उसे सफलता भी नहीं मिलती। संघर्ष में जितनी यातना रहती है सफलता का सिंहद्वार उतने ही निकट खिसक आता है।

चार्ली ने हर दृश्य मे अभिनय किया। जो भी निकट मिल जाता चार्ली उसी से पूछते, "कैसा लगा?"

लोग कहते, "ठीक ही है।"

चार्ली ने हेनरी लारमैन से भी पूछा, "आपको मेरा अभिनय कैसा लगा?"

लारमैन ने उपेक्षा भरे स्वर मे कहा, "देखूं....."

जो कलाकार भविष्य मे किसी दिन पूरी दुनिया की प्रशंसाभरी दृष्टि अपनी ओर आकर्षित करेगा उसे सहज ही प्रशंसा की उपलब्धि नही होनी चाहिए, यह बात चार्ली को उस दिन मालूम नही थी। उसे सिर्फ इसी बात का दुख था कि लोग उसके अभिनय की प्रशंसा क्यो नहीं कर रहे हैं। क्यो लोग उनका अभिनय देखकर लोट-पोट नही हो रहे हैं?

हालांकि अधिक पूछने मे भी उन्हे शर्म महसूस हो रही थी। लोग क्या सोचेंगे। इस युवक को अपने आप पर विश्वास नहीं है?

एक दिन बहुत प्रतीक्षा के बाद फिल्म बनकर तैयार हो गयी। चार्ली के मन को आशा का एक दुर्दमनीय आवेग आन्दोलित करने लगा—अब शायद मेरी ख्याति फैल जायेगी। दुनिया-भर के लोग मेरे नाम से परिचित हो जायेंगे। लोग मुझे देखना चाहेंगे, मेरी प्रशंसा करेंगे, मुझे प्यार करेंगे। हर क्षण यही चिन्ता उस युवक को बेचैन बनाती रही।

एक दिन फिल्म दिखाने का इन्तजाम किया गया।

फिल्म कंपनी के मालिक, निर्देशक हेनरी लारमैन, अभिनेता-अभिनेत्री वगैरह ने उत्कट आग्रह के साथ हाल के अन्दर प्रवेश किया।

सुबह से ही चार्ली की छाती धड़क रही थी। जाने पर क्या देखूंगा, कैसे देखूंगा, मेरा अभिनय कैसा लगेगा।

फिल्म शुरू हुई।

फिर फिल्म खत्म भी हो गयी।

लेकिन फिल्म मे कहीं चार्ली का नाम तक न था।

उस समय सभी फिल्म के गुण-दोष का विवेचन करने मे व्यस्त थे। चार्ली ने उन लोगो के बीच जाकर पूछा, "अच्छा उसमे मेरी तसवीर क्यो नही है? मैंने इतनी तकलीफ उठा कर, मन लगा कर अभिनय किया था।"

उनकी बात का उत्तर देने का अवकाश उस समय किसी को नहीं था। लोग उस समय दूसरी ही बात मे व्यस्त थे।

अन्त मे लारमैन से आमने-सामने भेंट हो गयी।

"मिस्टर लारमैन, आपने मेरी तस्वीर नहीं खींची थी?"

लारमैन ने चार्ली की ओर कृपा-कटाक्ष से देखा। बोले, "हाँ खींची थी, लेकिन एडिटिंग के समय उसे हटा दिया गया है।"

यह कह कर वह दूसरे-दूसरे लोगो से बातचीत करने में व्यस्त हो गये।

उस दिन की जिस घटना के दौरान व्यर्थता ने आँखो मे आँसू छलका कर कलाकार के हृदय को जख्मी बना दिया था, चार्ली ने बहुत साल बाद विश्व-ख्याति का महसूल अदा कर उस जख्म का प्रतिकार किया था। उस दिन चार्ली चैपलिन की

मुझे शिकायत है

समझ मे आया था कि सफलता का सौध चिरस्थायी तौर पर मजबूत बनाने के लिए विफलता और आँख के आँसू से ही उसकी नींव खडी करनी पडती है।

बहुत दिनो के बाद लारमैन से चार्ली की मुलाकात हुई थी। लारमैन तब विस्मृति के अतल मे समा चुका था और चार्ली की ख्याति मध्याह्न गगन का स्पर्श कर रही थी। पुरानी बातो के साथ उस फिल्म की भी चर्चा चली। चार्ली ने पूछा, "अच्छा, उस दिन आपने मेरी तसवीरें काट क्यो दी थीं ? मेरा अभिनय क्या बुरा हुआ था ?"

लारमैन ने कहा, "जानते हो, मैंने क्यो काट दिया था ? आज मुझे कहने मे कोई आपत्ति नहीं है। तुम्हारा अभिनय इतना अच्छा था कि मुझे रश्क होने लगा। सोचा, फिल्म मे तुम्हारा अभिनय रहेगा तो खूब नाम पैदा कर लोगे। इसलिए मैंने काट दिया था।"

दुनिया के कला-साहित्य के इतिहास मे केवल हेनरी लारमैन ही चार्ली चैपलिन से से ईर्ष्या करता हो,ऐसी बात नहीं, वैसे लोग हर युग मे पैदा होते है और कलाकार को वे ही यश के उच्च शिखर पर बिठा जाते हैं।

अब मैं अपनी बात बताता हूँ।

उन दिनों मैं नया-नया था। बिलकुल नया चाहे न होऊँ मगर नया ही था। उन दिनो की नयी हवा से आज की नयी हवा मे बहुत अन्तर है। उन दिनो के नये लोगों के लिए एक सुविधा थी।

उन्हें सहानुभूति, स्नेह और उत्साह मिलता था। उन दिनो बगला साहित्य के अभिभावक थे। आज के नये लोगो की तरह वे मातृ-पितृहीन नहीं थे।

एक दिन मैं घर पर आराम कर रहा था। अचानक एक आदमी आया और मेरे बारे मे पूछताछ करने लगा।

मैंने पूछा, "आपको क्या जरूरत है ?"

भले आदमी ने कहा, "आपसे एक रचना की माँग करने आया हूँ।"

"कौन-सी पत्रिका के लिए ?"

भले आदमी ने कहा, "पत्रिका का नया-नया प्रकाशन हुआ है। नाम रखा है शताब्दी। उसके प्रथम अंक में ही आपकी रचना प्रकाशित करना चाहता हूँ।"

एक तो मैं नया लेखक, उस पर रचना के लिए खुशामद। और सबसे बडी बात, प्रथम अंक के कथाकारो की उन्होने जो सूची बतायी तो फिर मेरे लिए कृतार्थ होने के अतिरिक्त दूसरा उपाय न रह गया। मैं सचमुच ही यह सोचकर कृतार्थ हो गया कि बंग विख्यात लेखकों की बगल मे मेरे जैसे नये को भ। स्थान देने का उनका विचार है।

मैंने कहा, "पत्र-पुष्प की व्यवस्था है ?"

भले आदमी ने कहा, "है, लेकिन, प्रथम अंक में दे नहीं पाऊँगा। तृतीय अंक से नियमित तौर पर दूँगा।"

इतनी देर के बाद बंग-विख्यात लेखको के साथ मेरी रचना छापने की बात मेरी

समझ में आयी। फिर भी मैं सहमत हो गया। क्योंकि तब मुझे पैसे की जरूरत नहीं थी। इसके अलावा बीस-इक्कीस साल की उम्र में तत्कालीन श्रेष्ठ पत्रिका 'प्रवासी' में मेरी रचना छपती थी और यथेष्ट पारिश्रमिक भी मिलता था। पैसा भले ही गौण हो मगर सम्मान यथेष्ट प्राप्त होता था।

"आपका शुभ नाम ?" मैंने पूछा।

भले आदमी का नाम आज गोपन ही रहे। काम चलाने के लिए मान लीजिये कि उनका नाम हेनरी लारमैन है।

पत्रिका यथासमय प्रकाशित हुई और सच कहने में हर्ज ही क्या, गुणीजनों के बीच पत्रिका को पर्याप्त सम्मान प्राप्त हुआ और वह काफी चर्चित भी रही। मेरी कहानी कितने सुधीजनों को अच्छी लगी, हेनरी लारमैन ने उसका ब्यौरा भी प्रस्तुत किया। कहना न होगा कि उनके द्वारा संगृहीत मंतव्यों को सुनकर मैं मन ही मन बड़ा प्रसन्न हुआ। लेकिन इतना अवश्य समझ गया कि पारिश्रमिक की शून्यता की क्षतिपूर्ति वह प्रशंसा से करना चाहते हैं।

फिर भी मुझे खुशी ही हुई।

चारों तरफ की प्रशंसा सुनकर मुझे खुशी हुई हो, बात ऐसी नहीं। खुशी का कारण कुछ और ही था। मेरे जैसे नये लेखक के घर का पता लगाकर काफी परिश्रम स्वीकार कर वह मेरे घर पर आये और रचना के लिए साग्रह अनुरोध किया। उसी से मैं बेहद खुश हुआ।

उसके बाद लारमैन साहब अकसर मेरे पास आने लगे। मुझसे घनिष्ठता बढ़ायी। मैंने भी स्वयं को धन्य और कृतार्थ समझा।

उस समय क्योंकि मेरी उम्र कम थी इसलिए इसका पता नहीं था कि प्रशंसा-ख्याति की चाह नहीं करनी चाहिए। मैं यह नहीं जानता था कि मनुष्य का बाहरी चेहरा वैसा नहीं होता। नहीं जानता था कि जो लोग मेरी प्रशंसा करते हैं, जो मेरे साथ हँस-हँसकर बातचीत करते हैं वे मेरे सम्मान के सुयोग से फायदा उठाकर अपना काम बनाना चाहते हैं। नहीं जानता था कि दुनिया में ऐसा भी दिन आनेवाला है जो आदमी को ख्याति-प्रतिष्ठा-प्रभाव से दूर ठेल देगा। यह भी नहीं जानता था कि ऐसा दिन आनेवाला है जिस दिन प्रेम, पुण्य, प्यार, स्नेह, दया और ममता की जांच पैसे से होगी, सब कुछ की गणना पण्य पदार्थ के रूप में ही की जायेगी।

उसी लारमैन साहब ने पहले-पहल मेरे जीवन में उस धारणा को बद्धमूल बना दिया।

घटना यों घटी : 'शताब्दी' पत्रिका के तृतीय अंक में एक आलोचना छपी। आलोचना का नाम था आधुनिक बंगला की छोटी कहानियाँ।

इस तरह की आलोचनाएँ काफी मात्रा में प्रकाशित होती रहती हैं। कुछ ऐसे मास्टर साहित्यकार होते हैं जो इस तरह की आलोचना लिख साहित्यिक यश बटोरना चाहते हैं। मास्टरी करते-करते नशा उन लोगों को इस कदर धर दबा लेता

है कि जीवन के हर क्षेत्र मे वे मास्टरी तालीम को ही अमल में लाना चाहते हैं। साहित्य के क्षेत्र को भी उनके हाथो से निष्कृति नहीं मिलती है।

लेकिन उपर्युक्त आलोचना उस कोटि की नहीं थी। रसज्ञी मन के साथ बुद्धि-वृत्ति का उदार समन्वय उस आलोचना मे स्पष्टतः किया गया था। बंगाल के विख्यात लेखकों का नाम, उनकी उपलब्धियों का विवरण विश्लेषण के साथ प्रस्तुत किया गया था। उन दिनो जो लोग ख्याति के शिखर पर विराजमान थे उनके नामों का उल्लेख था, साथ ही साथ उनके साहित्यिक कृतित्व का भी लेखा-जोखा प्रस्तुत किया गया था।

आलोचना मुझे उच्च श्रेणी की प्रतीत हुई।

लारमैन साहब ने उस दिन आकर मुझसे पूछा, "आलोचना कैसी लगी?"

मैंने मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की, "बहुत ही सुन्दर।"

लारमैन साहब ने कहा, "बड़े ही विद्वान् हैं। विद्वान् रहने के बावजूद उनमें रस बोध है, जो आम तौर से इस लाइन मे देखने मे नही आता।"

बात मेरी समझ मे नही आयी। पूछा, "लाइन का मतलब? कौन-सी लाइन?"

"मास्टरी लाइन! भले आदमी प्रोफेसर हैं, टाकी कॉलेज मे बंगला के प्रोफेसर। आलोचना की सबने प्रशंसा की है।"

मैंने पत्रिका के शुभैषी के नाते कहा, "उनसे और भी आलोचनाएँ लिखवाइए।"

लारमैन साहब और भी बहुत सारी बातें कहने लगे। इसके बाद वहाँ से चले गये। इसी तरह संपर्क घनिष्ठतर होता गया। पत्रिका की कैसे उन्नति हो, किस-किस से रचना लिखवानी चाहिए, यह सब उपदेश भी मैं उपयाचक बन कर देने लगा। कहा जा सकता है कि मैं भी लारमैन साहब के सुख से सुखी और दुख से दुखी रहने लगा। लारमैन के उपकार की खातिर बिना पारिश्रमिक लिए अपनी कहानी देने लगा।

लेकिन अचानक एक दिन एक घटना हो गयी।

एक मित्र के घर पर जाने पर एक व्यक्ति से जान-पहचान हुई। क्या नाम तो गोष्पति भट्टाचार्य! मैंने कहा, "आपने ही क्या आधुनिक बंगला की छोटी कहानियाँ' शीर्षक एक आलोचना लिखी थी?"

"हाँ।" उन्होंने कहा।

मैंने कहा, "अब क्यों नहीं लिखते हैं? आपकी आलोचना हमें बहुत अच्छी लगी थी। मैंने संपादक से कहा था कि आपसे और आलोचनाएँ लिखवायें।"

भले आदमी ने कहा, "आप संपादक को पहचानते हैं?"

मैंने कहा, "आजकल तो गहरी जान-पहचान हो गयी है। वह मेरी रचना के प्रशंसक हैं। पत्रिका के प्रथम अंक मे ही मेरी रचना प्रकाशित हुई है।"

"संपादक आपकी रचना के प्रशंसक हैं?"

"हाँ।" मेरा उत्तर था।

"आपको ठीक-ठीक मालूम है कि वह आपकी रचना के प्रशंसक हैं?"

"वह खुद ही ऐसा कहा करते हैं।" मैंने कहा।

"फिर उन्होंने आपका नाम मेरी आलोचना से काट क्यों दिया?"

"किस चीज का नाम? किसका नाम? किस आलोचना से?"

भले आदमी ने कहा, "आधुनिक बंगला की छोटी कहानियाँ में आपका भी नाम था। उन्होंने पूरी रचना प्रकाशित की है। मगर वह आपकी रचना के प्रशंसक हैं तो फिर उन्होंने आपका नाम काट क्यों दिया?"

इसके बाद बहुत सारे वर्ष बीत गये। वह युग बदल गया है और स्वयं मुझमें भी बदलाव आ गया है। उस लारमैन साहब में भी बदलाव आ गया है! उस पत्रिका का प्रकाशन भी बन्द हो चुका है। हमेशा कोई चीज एक जैसी नहीं रहती। लारमैन साहब अब वैसे आदमी नहीं रहे। कलकत्ते के एक विख्यात प्रेस के हेड प्रूफरीडर हैं। पहले की तरह अब उनसे सम्पर्क भी नहीं है। बहुत दिनों के बाद एक दिन उनसे मुलाकात हुई थी। तब उनकी हालत बहुत खराब थी। घटना की याद दिलाते हुए उनसे पूछा था, उस दिन मेरा नाम काट देने के पीछे कौन-सा कारण था। लारमैन साहब ने निष्कपट भाव से स्वीकार किया—ईर्ष्या। उस दिन एक प्रसिद्ध पत्रिका की एक आलोचना के एक कोने में मेरा नाम छप जाता तो मैं विख्यात हो जाता—उन्हें यही डर लगा था। इसीलिए निर्ममतापूर्वक मेरा नाम दिया था। अन्त में उन्होंने स्वीकारा था, "विमल बाबू, मैंने सोचा था, आपका नाम काट दूँगा तो आपकी किस्मत भी कट जायेगी। मगर ऐसा नहीं हुआ, मैं आपकी किस्मत नहीं काट सका।"

वही आरंभ था, उसके बाद और भी बहुत से लारमैनों ने इतने सालों के दरमियान अनगिन बार मेरा नाम रद्द कर दिया है। अब भी काट रहे हैं, जीवन के आखिरी दिन के आखिरी क्षण तक लारमैन साहबान मेरा नाम काटते रहेंगे। लेकिन इससे विचलित होने से साहित्य की निष्ठा में बाधा पहुँचती है। इससे दुविधा में नहीं पड़ना चाहिए। क्योंकि कलाकार के लिए जीवित अवस्था ही सब कुछ नहीं है! यह नाम काटने का सिलसिला, यह विरोध में दिया गया वक्तव्य, यह अपयश, यह प्रशंसा, यह स्वागत-सत्कार, यह पुरस्कार और यह तिरस्कार—सब कुछ संघर्ष ही है। कलाकार को इस संघर्ष से गुजरते हुए ध्रुव चित्त के भरोसे युग-युगों तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है। तभी सिद्धि प्राप्त होती है, उसके पहले नहीं।

o

आईने के सामने

[प्रस्तुत निबन्ध बम्बई से प्रकाशित 'सारिका' में १९६० ई० में प्रकाशित हुआ था। 'सारिका' के तत्कालीन सम्पादक मोहन राकेश के अनुरोध पर विमल मित्र ने मूल निबन्ध बंगला में लिखा था जिसका हिन्दी रूपान्तर उक्त पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। बाद में यह रचना मोहन राकेश द्वारा सम्पादित और नयी दिल्ली से प्रकाशित 'आईने के सामने' पुस्तक में सकलित कर लिया गया।—अनुवादक]

अपने अनुभवों की ओर आँख उठाकर देखता हूँ तो मुझे हिदायत मिलती है, जहाँ तक संभव हो अपने बारे मे कुछ न कहना ही ठीक है। शास्त्र मे भी कहा गया है, प्रशंसा से अपने आपको यथासम्भव दूर ही रखना चाहिए, खास तौर से साहित्यकार को। मैं साहित्य के पथ का साधारण राहगीर हूँ अतः अपने आपको अपनी रचना मे देखना ही मेरे लिए अपना प्रतिबिम्ब देखना होगा। मेरी रचना ही हकीकत मे मेरा आईना है। उस आईने मे ही मेरी विशेषता उभर आती है और इसीलिए मैंने शीशे के दर्पण मे अपना मुखडा नही देखा है।

मैं जो कुछ खाता-पीता हूँ, जो कुछ पहनता हूँ, सूर्योदय से सूर्यास्त तक जो कुछ करता और सोचता हूँ—मेरे उस 'मैं' का सारा कुछ मेरे साहित्य मे वर्णित है। अतः अगर मैं स्वयं को आईने मे देखना चाहूँ तो सब कुछ अपने लेखन मे ही देखना मेरे लिए उचित होगा।

तब हाँ, एक बात। अपनी रचना की आलोचना न करना ही ठीक है। क्योंकि उस रचना में पक्षधरता न होगी, इसका मैं दावा नही कर सकता। उपनिषद् मे भी कहा गया है—अपनी निन्दा को अमृत और प्रशंसा को विष समझो।

आज आईने के सामने खड़े हो अगर मैं अपनी निन्दा करूँ तो वह झूठ तो होगा ही मगर उससे भी बड़ा झूठ यह होगा कि मैं अपनी प्रशंसा के रंग से स्वयं रंगकर कलंकित करूँ।

बचपन से आज तक मैंने जो कुछ किया है, मेरे साथ जो कुछ घटित हुआ है, मेरी जो कुछ पूर्ण अपूर्ण इच्छा रही है, उन्हे मैं अलग-अलग कर अपने प्रतिबिम्ब मे खोजने लगा। सोचा, मेरे साहित्य मे क्या उनकी थोडी सी छाप है? अपने साहित्य में मैं क्या अपने मन के विचार और चिन्तन को हूबहू उतार सका हूँ? अब तक मैंने जो कुछ सोचा है उसका प्रतिरूप क्या मेरे साहित्य मे उभर पाया है?

इसीलिए मैं आँख खोलकर बारीकी से देखने लगा।

देखते-देखते मैं अपने छुटपन की जिन्दगी मे लौट आया। एक छोटा-सा बालक, विमल मित्र। वह विमल मित्र हर चीज की ओर अवाक् होकर ताकता रहता है। इस

धरती, इस आकाश को देखकर वह एकाग्र होकर सोचता है और जो मन है उसे कसकर पकड़ता है और भावों के समन्दर में गोते लगाता है।

मैं उस दिन के उस छोटे बालक को ही देखता रहा, देखता रहा और, उन दिनों की भावनाओं के बारे में सोचता रहा। इस धरती का स्रष्टा कौन है? स्रष्टा अगर है तो वह कहाँ है? वह देखने में कैसा है? वह रहता कहाँ है?

घर से स्कूल जाने के रास्ते में एक लड़के ने मेरे सिर पर एक तमाचा जड़ दिया। लेकिन तब वह शायद अपने आनन्द में ही विभोर था। मैंने पूछा, "मुझे क्यों मारा, मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है?"

वह मन के आनन्द में हँस रहा है। बोला, "ठीक किया है। मेरी मर्जी हुई इसीलिए मार दिया।"

सोचने लगा, मैंने ऐसा कौन-सा अपराध किया है जिसके कारण मुझे बेवजह पिटना पड़ा। सोचते-सोचते उस दिन बहुत सी बातें मन में आयी थीं—शायद मैंले कपड़े-लत्ते के कारण मुझे पिटना पड़ा है। दूसरे दिन मैं साफ-सुथरा कपड़ा पहन स्कूल गया, मगर उस दिन भी वही वारदात हुई। उस दिन भी दासु की मार से बच नहीं सका। अब सोचा, मेरे सिर के बाल शायद अच्छी तरह कटे नहीं हैं। उसी दिन और उसी क्षण सैलून जाकर बाल कटा आया। सोचा, अब शायद मुझे पिटना नहीं पड़ेगा। लेकिन दूसरे दिन भी यही हुआ। मुलाकात हुई तो उसने फिर तमाचा जड़ दिया। वह मुझे हर रोज पीटने लगा।

उस दिन अहसास हुआ, गलती किसी की नहीं। मेरे पिटने के पीछे किसी कारण का हाथ नहीं था या दासु के मन में भी मेरे प्रति कोई विद्वेष भाव नहीं था। यह उसकी ख्वामख्याली थी। किसी-किसी को आक्रमण करने से अच्छा लगता है—दासु को भी अच्छा लगता था, पीटने पर उसे संतोष मिलता था। बड़ी बात यही है।

याद है, पहले दिन दासु के हाथों पिटकर मैं फूट-फूट कर रो पड़ा था। लेकिन तब मेरे लिए कोई ऐसा ठौर नहीं था जहाँ बैठकर चुपचाप आंसू बहाता। रोते-रोते घर चला जाऊँ इसका भी उपाय नहीं था। घर जाने पर पहले माँ से ही मुलाकात होगी। माँ पूछेगी, "रो क्यों रहा है?" मैं कहूँगा, "दासु ने पीटा है।" माँ कहेगी, "सबको छोड़कर दासु तुम्हें ही क्यों पीटता है? बेवजह क्या कोई किसी को मारता है?"

छुटपन में ही न्याय-अन्याय के मानदण्ड के बारे में मेरी एक स्पष्ट धारणा बन गयी थी। समझ गया था कि मनुष्य-समाज में विचार का मतलब ही अविचार है। यही वजह है कि आगे चलकर कभी पिटने पर मैंने रोने की बेवकूफी नहीं की। छुटपन में मुझमें यह समझदारी आ गयी थी कि शिकायत करना बेवकूफी है। इस दुनिया के न्यायालय में न्याय की भीख नहीं माँगनी चाहिए। न्याय की भीख माँगना अन्याय है। तब हाँ, एक बात उस दिन नहीं समझ सका था कि सर्वशक्तिमान ईश्वर के दरबार में न्यायप्रार्थी होने का साहस कहाँ से लाऊँगा। यही नहीं, ईश्वर से साक्षात्कार कहाँ होगा?

कहा जा सकता है कि उसी दिन से मैं घर और बाहर के लोगों के लिए पराया हो गया। परिवार और समाज से बिलकुल कट गया। अपने-पराये और दोस्त-मित्रो से मेरा सम्पर्क हमेशा के लिए छिन्न हो गया।

कलकत्ते मे कॉलेज आने-जाने के रास्ते मे एक गिरजाघर पड़ता था। गिरजाघर की दीवार पर बड़े-बड़े अक्षरो मे लिखा था—The wcrld is a mirr r, look pleasant please * यह वाक्य बाइबिल से उद्धृत किया गया था। पहले इस बात पर मुझे अगाध विश्वास था लेकिन जैसे-जैसे दिन बीतते गये वैसे-वैसे लगने लगा, इससे बढ़कर झूठी बात इस दुनिया मे कुछ और नहीं हो सकती है। या अगर यह बात बिलकुल झूठी नहीं है तो कम से कम अर्ध मिथ्या अवश्य ही है। क्योंकि तब तक दासु को मैंने यद्यपि अपने मन से अलग हटा दिया था मगर दासु ने मेरा पीछा नहीं छोड़ा था। मैं स्कूल से कॉलेज पहुँचा और एक दिन कॉलेज से भी बाहर निकल आया। इसके बाद युनिवर्सिटी पहुँचा। फिर एक दिन युनिवर्सिटि के घेरे को भी लांघ गया। नौकरी करने लगा और फिर एक दिन नौकरी भी छोड़ दी। नौकरी से मुझे वितृष्णा हो गयी थी और अब तो उम्र काफी बढ़ चुकी है। उस दिन दासु एकल था, अब दासु की संख्या अनगिनत हो गयी है। वे चारो ओर फैल गये हैं। और मै ? मैं तब भी बिलकुल निस्संग था और अब भी निस्संग ही हूँ।

मेरे घर के पीछे एक रेलवे स्टेशन था। वह बड़ा ही निर्जन स्थान था। स्टेशन का नाम था कालीघाट। कभी-कभार वहाँ कोई गाड़ी आ जाती, रुकती और फिर चली जाती। कभी-कभी दो-चार मुसाफिर चढते-उतरते भी थे। स्कूल से छूटते ही मैं वहाँ पहुँच जाता। घटना-चक्र से वहाँ दो-चार संगी-साथी भी जुट गये थे। वे कभी मेरे पीछे नहीं पड़ते, बल्कि मुझे स्नेह की दृष्टि से देखते थे।

वह खुला-खुला आकाश, हरी-भरी घास, पक्षियों का कलरव, नदी, तारे और चाँद—सब मुझसे घुल मिल गये और मै भी जैसे उनके बीच का एक सदस्य हो गया। बैठा-बैठा उनसे मैं मन की बातें बतियाता था। न जाने, उन दिनों कितनी ही बातें कही थीं। लेकिन सब कुछ एक तरफा होता था। वक्ता मैं होता था, श्रोता वे लोग वही सब बातें बहुत दिनों तक जमते-जमते एक दिन मन मे पर्वत बन कर खड़ी हो गयीं। प्रेम, आनन्द, अवसाद, दुःख या फिर जो कुछ भी जमता गया, सब कुछ आहिस्ता-आहिस्ता बाहर निकलने लगा।

मेरे मन ने उस दिन मुझ से कहा था, जिन्होंने तुम्हे अपमानित किया है, जिसने तुम्हे कुछ भी नहीं दिया है, उन्हीं लोगो से तुम मन का आवेदन करो। यह दुनिया मनुष्य की है इसलिए मनुष्य के जोर-जुलम की बात मनुष्य के दरबार मे ही कहनी चाहिए—मनुष्य ही उस आवेदन को सुनेगा। आदमी ने अपने प्रयोजन के निमित्त ही ईश्वर की सृष्टि की है। आदमी चाहे तो वह खुद भी ईश्वर हो सकता हैं। ईश्वर

* दुनिया एक आईना है, प्रसन्न दिखो।

आदमी को जीवन की दूरबीन से देखता है और इसीलिये आदमी के द्वारा दिये गये सिंहासन को देख कर उसे दुःख होता है। यही वजह है कि आदमी पर पशुता का इतना प्रभाव है। और यही वजह है ईश्वर रोता है और उस रुलाई से आदमी भी कलपने लगता है। उन दिनों मेरे मन की बातें बहुत कुछ इस तरह की ही थीं।

मगर उन्हें सुनाऊँ तो कैसे! मेरे मन में जो बातें पछाड़ खाकर चूर-चूर हो जाती हैं, इस हृदयहीन धरती को सुनाने की खातिर कौन-सा रास्ता अपनाऊँ। मैं उपदेश देना नहीं चाहता। सोचा, हृदय की यातना के माध्यम से ही। अपनी बात उन लोगों तक पहुँचा दूँ। किया भी यही। मगर हुआ वही जिसे अँग्रेजी में 'एक्सट्रैक्ट' कहते हैं। मैं हिन्दू हूँ, मुझे पूजा के लिए मूर्ति की जरूरत है। सामने जब तक कोई मूर्ति न हो तब तक सन्तोष नहीं मिल सकता। सोचा, मूर्ति एकमात्र कहानी में है। इसीलिए कहानी पर कहानी लिखता चला गया। कविता से जिन्दगी की शुरुआत की और कहानी तक पहुँच गया तो सन्तोष मिला।

जो लोग मेरे अग्रज हैं यानी जो बहुत दिन पहले ही कहानी के माध्यम से अपने मन की बात जाहिर कर चुके हैं, मैं उनकी रचना पढ़ने लगा। मगर देखा, मैंने जो कुछ सोचा-विचारा है, वे उन बातों को पहले ही लिख चुके हैं। कुछ बाकी नहीं रहने दिया है।

मगर मैंने तो उनके बहुत बाद जन्म लिया है, मैंने जिन लोगों को देखा है, उन्होंने उन लोगों को नहीं देखा था।

बीसवीं सदी की जिन विविध समस्याओं के बीच जीवन जीकर मैं बड़ा हुआ हूँ उन समस्याओं के बारे में उन्हें कोई जानकारी नहीं थी। दो कौर भात के लिए अपनी सन्तान की हत्या करना, मान-सम्मान को तिलांजलि दे औरतों का नशे में धुत्त होना, राजनीति के नशे में चूर होकर देश को पराये हाथों में बेच देना और इन तकलीफों से छुटकारा पाने के खयाल से किसी उपाय की तलाश करना—यह सब कहानी उनकी रचनाओं में नहीं थी। इस यथार्थ के मर्त्यलोक में ही बड़ा हुआ हूँ। अतः अपनी कहानी के माध्यम से इन सारी बातों को कहूँगा। लिखते-लिखते अगर कलम की स्याही सूख जाय तो अपने खून से कलम भर लूंगा। अच्छी-बुरी दोनों तरह की चीज लिखूंगा। दुनिया के सब कुछ के बारे में लिखूंगा, और प्रार्थना करूँगा कि आदमी आदमियत का खून न करे।

मैंने अपनी तीक्ष्ण दृष्टि आईने पर टिका दी। उस दिन का वह छोटा बालक अब बहुत बड़ा हो गया है। इतने दिनों के दरमियान वह बहुत कुछ देख चुका है, बहुत कुछ लिख चुका है मगर उसे शान्ति नहीं मिली है। उसकी इच्छा पूरी नहीं हुई है। एकाएक नजर पड़ी, मेरे प्रतिबिंब की आँखों से आँसू बह रहे हैं। मैं चौंक पड़ा। पूछा, "क्या हुआ, रो क्यों रहे हो?"

उत्तर नहीं मिला। दुबारा पूछा, "कुछ भी तो कहो।"

वह सचमुच ही क्या रो रहा हैं ! अपनी आँख पर हाथ रख कर देखा। मेरी आँखो मे आंसू नही हैं, फिर मेरा अक्स रो क्यो रहा है ? वह क्या खिन्न हो गया है ?

मैंने फिर उससे पूछा। उसने कहा, "मै कौन हूँ ? मैं तो कुछ भी नही हूँ। किसने मुझे सम्मान दिया है ? मेरा रहना न रहना एक जैसा ही है।"

मैंने कहा, "तुम्हे इतनी बातो की तालीम किसने दी ?"

"उन लोगो ने जिन्होने मानवता को अपमानित किया है। सोचता हूँ, काश मुझे भी सम्मान और प्यार मिला होता ! अगर ऐसा हुआ होता तो मुझे भी खुशिया हासिल हुई होती।"

कहते-कहते उसने अपना सिर झुका लिया।

मैं हँस पडा। उससे कहा, "आदमी पर तुम यदि थोड़ा भी विश्वास रखते तो तुम्हारे लिए दुखित होने की कोई बात नहीं होती। जिन्दगी मे जल्दीबाजी मचाना ठीक नहीं होता। तुम्हे क्या यह मालूम नहीं कि बुराई मे भी भलाई रहती है ? *आदमी कोई ईश्वर नहीं है, आदमी की प्रशंसा की राजनीति और ही तरह की होती* है। आदमी ने जहाँ एक ओर आदमी को ईश्वर बना दिया है वहाँ दूसरी ओर उसकी हत्या भी की है। ईसामसीह, महात्मा गाँधी, सुकरात वगैरह के साथ यही बात हुई है। तुम शक्तिशाली हो इसीलिए तुम्हारे शत्रु भी हैं। तुम क्योकि छोटे नही हो इसीलिए जो बिलकुल साधारण जीव हैं, वे दूसरो को भी खीच कर अपने स्तर पर ले लाते हैं। क्योकि वे निन्दा से ऊपर नही उठ सके हैं। इसमे सच्चाई है कि किसी ने तुम्हारी प्रशंसा नहीं की है—लेकिन दुनिया मे प्रशंसा मिली ही किसे है ? शेक्सपीयर से लेकर रवीन्द्रनाथ तक को लॉछना का शिकार होना पडा है। रवीन्द्रनाथ ने कहा है : "मेरे चलने के रास्ते पर जो बाधाएँ आकर खडी हुई हैं वे मेरे अग्रजो के समय भी थी, क्योकि चलने का रास्ता काँटो से भरा रहता है।" टॉमस मान ने कहा है—"मेरी पुस्तक शब्दो का पिटारा है। वहाँ से मनुष्यता को परे हटा कर नहीं रखा गया है। उसमे साहित्य से भी बड़ी वस्तु है।"

शायद तुम यही सोच रहे हो कि तुम्हे जो लोग तकलीफ पहुँचाते हैं, उन्हे सफलता हासिल हो रही है। मगर तुमने करोड़ो वैसे आदमी की खुशियाँ तो देखी नही जो तुम्हारी तारीफ कर रहे हैं। मिट्टी मे देश का निर्माण नही किया जा सकता, मनुष्य से ही उसका निर्माण किया जाता है। पेड़-पौधे, पशु-पक्षी न रहेगे तो भी काम चल जायेगा परन्तु आदमी न रहे तो काम नहीं चल सकता। अगर यह सम्भव हो तो देश ऐसी स्थिति मे मरुभूमि मे परिणत हो जाये। और यह भी सोचो कि आदमी साँचे मे ढला हुआ कटोरा-गिलास नहीं है। हर आदमी मे विशेषता है और उसे अनगिनत संकटो का सामना करना पड़ता है। लेकिन फिलहाल विभिन्नता मे भी उसमे एक रूपता है। उस एकरूपता पर ही समाज की बुनियाद खड़ी है। परन्तु उसमे अच्छाई और बुराई दोनो है और दुनिया का नियम भी यही है। जब समाज ग्लानि से भर

जाता है तो ग्लानि और अधर्म को दूर करने के लिए महापुरुष पैदा होते हैं, जैसे ईसा, बुद्ध, चैतन्य, तुलसीदास, कबीर।

साहित्य की दुनिया में इस प्रकार के संस्कार पैदा होते हैं। शेक्सपीयर, गेटे, डिकेन्स, फ्लॉबेयर, तॉलस्तॉय, रूसो, वाल्तेयर, स्टेनदल, रवीन्द्रनाथ आदि का इसीलिए आगमन हुआ था।

दुनिया ने क्या इन्हें कोई कम लाछित किया है? मगर उन्होंने अपमान और लाछना की कोई परवाह नहीं की। निन्दा और अपमान से ऊपर उठ कर वे अपना-अपना काम कर गये हैं। वे अपने गुणग्राही पाठकों की अपेक्षा करते रहे। साहित्य का रस जाति-धर्म के भेद को अपने पास फटकने नहीं देता है। उसी साहित्य रूपी अमृत रस को वे एक साथ पीते हैं और उसी मे उन्हें जीवन का सबसे बड़ा आनन्द मिलता है। यह रस पराये को अपना बनाता है, दूर को समीप ले आता है। इस रस का विवेचन करना सहज-सरल काम नहीं है। इतनी सहजता से उस पर अधिकार जमाना भी साधना-सापेक्ष है। जिन लोगों के पास इस रस का भण्डार है, उन्हें इस बात की जानकारी है कि उनकी कलम से स्याही के जो दाग उभर आते हैं उनके लिए बाहरी दुनिया का दंशन निरर्थक, कमजोर और असहाय साबित होता है। इसीलिए वे निर्भीक, निरलस और संगीहीन होते हैं।

अगर यह कहूँ कि जिसने अपने हाथ मे कलम थाम ली है उसके लिए सगे-सम्बन्धी भी पराये हो जाते हैं तो कोई गलती न होगी। उसकी न तो कोई अलग से दुनिया है और न ही उसके लिए अपनी दुनिया से बाहर जाने का कोई प्रश्न खड़ा होता है। उसकी सफलता का सबसे बड़ा रहस्य यही है कि वह दुनिया मे रहने के बावजूद दुनिया की बाकी चीजों से अलग रहता है।

जो लोग कलम को वरण कर लेते हैं दुनिया उसे कभी कोई पुरस्कार नहीं देती। उसे जो कुछ भी प्राप्ति होती है वह इस दुनिया से विदा लेने के बाद ही होती है। पुरस्कार पाने से हालांकि कोई हानि नहीं है, मगर न भी मिले तो कोई नुकसान नहीं होता।

अब सरकारी कानून का दायरा जीवन के हर क्षेत्र तक फैल गया है। लेकिन कला का राज्य उसके अधिकार क्षेत्र के बाहर है। वहाँ पुलिस-दरोगा की लाठी का कोई जोर नहीं चलता। सरकारी नौकरी रहने पर सबको एक दिन पेंशन लेकर नौकरी से बाहर निकल आना पड़ता है लेकिन साहित्यकारों के लिए कोई पेंशन नहीं होती। सरकारी नौकरी की पेंशन मृत्यु दिन के बाद से रुक जाता है और साहित्यकार के पेंशन की शुरुआत मृत्यु के बाद ही होती है।

अब तक मेरी परछाई ध्यान से मेरी बात सुन रही थी, अब वह एकाएक पूछ बैठी, "तो फिर तुम यही कहना चाहते हो न, कि दुनिया मे मेरा प्राप्य कुछ भी नहीं है?"

मुझे फिर हँसी आ गयी और मैंने कहा, "तुल जिसकी तलाश में हो, वह शान्ति है। शान्ति ही तुम्हे क्या कोई कम मिली है? इसकी कीमत चावल-दाल की कीमत के बराबर नहीं है। शान्ति असाधारण चीज है। एक बात हमेशा ध्यान में रखो—अपनी कीमत पाने के लिए बेचैन होने से काम नहीं चलेगा, उसके लिए धीरज रखना होगा। तुम संभवतः खुद को तारीफ के लायक समझते हो लेकिन तुम्हे अब भी वही लड़ाई लड़नी है। दुनिया को आंख खोल कर देखो, दुनिया को समझने की कोशिश करो, उसकी परख करो—इन्हीं सबके बीच पुरस्कार छिपा हुआ है। इस दुनिया में तुम अगर न आये होते तो आदमी की शोभायात्रा का इतना बड़ा जुलूस तुम्हे कहीं और देखने का मौका मिलता? अपनी आँखों से दुनिया का असली चेहरा देखने में तुम्हें जो कामयाबी हासिल हुई है वह कामयाबी कहीं हासिल होती? तुम्हें इस बात का पता चल गया है कि आदमी-आदमी के बीच कोई भेद नहीं है। यही वजह है कि यहाँ एक की गलती के लिए दूसरे को महसूल चुकाना पड़ता है। इसीलिए कह रहा हूँ, दुनिया की सारी गलतियां माफ कर दो। जहाँ अधिक चोट लगती है, वहीं अधिक प्यार मिलता है। जिसका प्यार गहरा होता है वही तमाम दुःख-तकलीफों को हँसते-हँसते बरदाश्त करता है। इसीलिए मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि तुम मेरा अभिनन्दन स्वीकारो, मेरा प्रणाम स्वीकारों, तुम्हारी इस विचित्र सृष्टि की जय हो।

•

मिलावट

[बंगला साहित्य की स्वतंत्रता के उत्तरकाल में जो साहित्यिक विधा सब से अधिक फूली फली थी, वह है रम्य रचना या ललित निबन्ध। रसोत्तीर्ण न रहने के कारण इस प्रकार की रचना पाठक वर्ग के हृदय में अपना स्थायी प्रभाव न छोड़ सकी। बंगला में इस तरह की कितनी ही रम्य रचनाएँ प्रकाशित हुई, उनकी हजारों प्रतियाँ बिकी थीं परन्तु आज उन रचनाओं की कहीं कोई चर्चा भी नहीं है।

प्रस्तुत रचना 'माजघर' मासिक के प्रथम अंक में अगस्त १९६७ में प्रकाशित हुई थी। लेकिन 'मिलावट' रम्य रचना या ललित निबन्ध का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। इसके अतिरिक्त इस रचना से यह भी पता चलता है कि लेखक में उपन्यास लेखन की तरह व्यंग्य लेखन की भी बेजोड़ प्रतिभा है।—अनुवादक]

मनोजगत् मे भूल को जो स्थान प्राप्त है, भौतिक जगत मे मिलावट को वही स्थान प्राप्त है। जिसको एक ही साथ बहुत सारी बातो का स्मरण रखना पड़ता है, उससे भूल या गलती होना स्वाभाविक है। उसी तरह जो आदमी एक ही साथ बहुत सी चीजो का कारोबार करता है, मिलावट किये बगर वह रह नही सकता।

व्यक्तिगत तौर पर मैं वैसे आदमी को प्यार करता हूँ जिसकी प्रकृति ही गलती करने की होती है। जिसको इसका फख्र है कि मैंने जीवन मे एक पेंसिल तक नहीं खोयी है, मुझे वैसे लोगो से मिलने मे डर लगता है। कहानी-उपन्यास मे मैंने भुलक्कड़ प्रकृति के चरित्रो की कहानी जमकर लिखी है। मैंने एक बात पर गौर किया है, जो लोग भुलक्कड़ होते हैं वे अन्य लोगो के बनिस्वत ईमानदार होते हैं। आज तक मुझे वैसा कोई आदमी नहीं मिला जो एक ही साथ हिसाबी और ईमानदार दोनों हो। हिसाब से सम्भवतः ईमानदारी का हमेशा से विरोध चला आ रहा है।

कभी-कभी लगता है, मेरी चाह थोड़ी बहुत हठधर्मिता जैसी है। सभी हिसाबी भी हो और उसके साथ ईमानदार भी, यह दावा तो एक बेमतलब की हठधर्मिता है। दूसरी बात है, मेरी हठधर्मिता पर टिककर यह दुनिया चल भी नहीं रही है। न तो अतीत में चली है, न भविष्य ही में चलेगी। फिर इस हठधर्मिता का मतलब ही क्या रह जाता है?

यही नहीं, मैंने यह भी देखा है कि लोग भुलक्कड़ आदमी को स्नेह की दृष्टि से देखते हैं (शायद एकमात्र उसकी पत्नी को छोड़कर)। लेकिन मिलावट का कारोबार करनेवाले लोगों की आँख का काँटा होते हैं। मिलावट के कारोबार करनेवाले को लोग फाँसी के फन्दे पर चढ़ाना चाहते हैं। मानो, मिलावट का व्यापारी मनुष्य की कोई भलाई नहीं करता है।

दरअसल किसी को इस बात का ख्याल नहीं है कि भूल और मिलावट एक ही चीज है। इसीलिए पहले ही कह चुका हूँ कि मनोजगत मे भूल को जो स्थान प्राप्त है, भौतिक जगत मे मिलावट को भी वही स्थान प्राप्त है।

फिर स्वीकार क्यों न कर लूं कि मैं मिलावट प्रेमी हूँ।

अब, इस मिलावट के युग मे, दवा, दूध, चावल, तेल, तालीम, शोहबत आदि मे जब कि मिलावट का बोल-बाला हो गया है तो मिलावट की तरफदारी करना खतरे से खाली नहीं है। जानता हूँ, मिलावट साबित हो जाये तो कीमत वापस करना मेरे बूते की बात नहीं है, लेकिन मिलावट की तरफदारी करने से मुझे छुटकारा मिल जाये, इस तरह की दुराशा भी मैं नहीं कर सकता।

बतौर उदाहरण रामायण बहुत बड़ा महाकाव्य है लेकिन महाकवि वाल्मीकि ने क्या इसमें मिलावट नहीं की है? महाकवि का उद्देश्य अगर धर्म की जय और अधर्म की पराजय ही दिखाना था तो फिर रामचन्द्र को पराजय के हाथ से मुक्ति कैसे मिल गयी? रामचन्द्र क्या मिलावट से परे थे? रामायण की रचना ही एक निरपराध हत्याकाण्ड से शुरू होती है। हत्या तो अधर्म ही है। निरपराध क्रौंच-मिथुन की हत्या से व्यथित होने के बाद महाकवि की कलम से जो आंसू बाहर निकल आये, उसी से तो एक महाकाव्य की रचना हुई।

इसके अलावा रामचन्द्र को जो जीवन-भर यातना भोगनी पड़ी वह भी तो मनोजगत की एक मिलावट है। यानी बुद्धिनाश! हिरन का छौना समझ राजा दशरथ ने जिसकी हत्या की वह और कोई नहीं बल्कि एक निरपराध ऋषि-पुत्र था।

यही वजह है कि आज मैं सोचता हूँ, ऋषिपुत्र मरकर काव्य-साहित्य के कितने बड़े अवदान की रचना कर गया। वरना वाल्मीकि क्या रामायण लिखते या तुलसीदास ही 'रामचरितमानस' की रचना कर जाते?

बहुत दिन पहले की बात बता रहा हूँ।

बात का मतलब घटना से है।

आज से लगभग तीस वर्ष पहले की बात है। उन दिनों मैंने कुल मिलाकर साहित्य का ककहरा शुरू किया था।

एक सुप्रतिष्ठित कुशल साहित्यकार ने मुझे अपने पास देखकर कहा, "तुमसे एक बात कह रहा हूँ, विमल! तुमने नया-नया लिखना शुरू किया है। भविष्य मे यह बात तुम्हें काम देगी।"

"कहिये।" मैंने कहा।

"तुम चाहे कितना ही अच्छा क्यों न लिखो, लोग तुम्हारी निन्दा करेंगे। इसे तुम किसी तरह रोक नहीं सकते। तुम जितना ही अच्छा लिखोगे, निन्दा भी तुम्हें उतनी ही अधिक मिलेगी। लेखन की दुनिया का यही नियम है।"

"अच्छा लिखने पर भी निन्दा करेंगे?" मैंने पूछा।

"तब हां, तुम अगर घटिया लिखो तो कागज-कलम मे तुम्हारी तारीफ की जायेगी। बेहद तारीफ। अब इन दोनो मे तुम क्या चाहते हो, यही बताओ।" उनका कहना था।

जवाब देना मुश्किल था। एक ओर पाठक पुस्तक नहीं खरीदेगा, लेकिन कागज-कलम मे तारीफ छपेगी, दूसरी ओर पाठक हजारों प्रतियां खरीदेगा लेकिन कागज-कलम

मे निन्दा छपेगी। इन दोनो मे किसका चुनाव करूँ, समझना मुश्किल होगा।

मुझे उधेडबुन मे देखकर उन्होंने कहा, "एक काम करने मे दोनो सरहद पर विजय का डंका बजता रहेगा। वैसा कर सकोगे ?"

"कहिये।" मैंने कहा।

"एक किताब को छोड़कर बाकी सारी पुस्तको को मेहनत के साथ लिखने की कोशिश करना।" उन्होंने कहा।

समझ नहीं सका। पूछा, "इसका मतलब ?"

उन्होने कहा, "दोष निकालना आदमी का स्वभाव है। दोष न निकाल सके तो आदमी का खाना हजम नहीं होता। तुम चाहे लाख अच्छा लिखो लेकिन दोष वे निकाल ही लेंगे। इसीलिए एक घटिया पुस्तक लिख देना जिससे कि उनकी दोष निकालने की प्रवृत्ति एक ही स्थान पर जाकर केन्द्रित हो जाये। विभूतिभूषण वंद्योपाध्याय ने इसीलिए 'दम्पति' नामक एक किताब लिखी थी—यानी मेरे कहने का मतलब है कि एक कडाई दूध मे एक करछी पानी मिला देना।"

यह घटना बहुत पहले की है, इसीलिए शुरू मे ही में बता दिया। उस कुशल साहित्यकार का उपदेश मानकर काम करने से मुझे एक दार्शनिक उपलब्धि हुई। बचपन मे देखा है, दूध मे पानी मिलाने की वजह से माँ ग्वाले से खूब झगड़ती थी। ग्वाला जितना ही इनकार करता था माँ उतनी ही शिकायत करती थी। लेकिन जब माँ दूध चूल्हे पर चढ़ाती तो लोटे से उसमे थोड़ा पानी डाल देती।

एक दिन मैंने माँ से पूछा था, "माँ, तुम तो खुद मिलावट कर रही हो।"

माँ कहती, "पानी मिलाने से दूध अधिक मीठा हो जाता है।"

माँ ने किस मतलब से यह बात कही थी, मालूम नहीं। वह आदमी के चिरकाल से आ रहे निन्दक स्वभाव के बारे मे जानती थी या नहीं, यह भी मुझे मालूम नहीं। दूध में मिलावट करने से वह ज्यादा मीठा होता है या नहीं, इसका भी मैंने कभी तुलनात्मक विवेचन नहीं किया है। मगर यथार्थ जीवन और साहित्यिक जगत मे यह बात बिलकुल सही साबित हुई है।

बहुत दिन पहले एक छोटी-सी कहानी पढ़ी थी। एक लेखक एक जिले के मुख्यालय मे गये थे। शहर के सभी गण्यमान लोग एक-एक कर आये और उनसे मुलाकात की। लोगो की जबान पर एक ही बात थी, 'भुवन बाबू से बातचीत हुई ?"

लेखक ने कहा, "नहीं।"

किसी ने बताया, "भुवन बाबू जैसा आदमी नहीं मिलेगा। बड़े ही उपकारी हैं।

एक व्यक्ति ने कहा, "भुवन बाबू आदमी नहीं, देवता हैं—एकबारगी स्वर्ग के देवता।"

एक दिन एक दूसरे व्यक्ति ने कहा, "आप, भुवन बाबू से आपका परिचय नहीं हुआ है ? परिचित होते तो पता चलता कि आदमी किसे कहते हैं। इस तरह के अच्छे आदमी इस जमाने मे पैदा नहीं होते है।"

दूसरे दिन एक और व्यक्ति ने कहा, "भुवन बाबू से आपकी मुलाकात नहीं हुई तो एक तरह से आपने इस शहर का कुछ भी नहीं देखा। इस तरह के आदमी दुनिया में नहीं मिलते।"

किसी एक दूसरे दिन एक व्यक्ति ने कहा, "भुवन बाबू जैसा शिक्षित आदमी तो मैंने अपने जीवन मे नहीं देखा है।"

भुवन बाबू की तारीफ सबसे सुनते-सुनते लेखक के मन मे सन्देह होने लगा। उनकी जो तारीफ सुनी उस पर विश्वास न होना ही स्वाभाविक है। इतने-इतने गुण एक ही आदमी में नहीं हो सकते।

अन्त में वह छिप-छिपकर पता लगाने लगे। बिलकुल अन्दरूनी खबर। उस समय एक आदमी ने सूचना दी कि भुवन बाबू सचमुच ही निर्दोष आदमी हैं। तब हाँ, एक ही दोष है उनमें। वह शराब पीते हैं।

लेखक ने इत्मीनान की सांस ली। समझ गये कि भुवन बाबू सचमुच ही निखालिस आदमी हैं। थोड़ी-बहुत मिलावट न रहे तो किसी भी चीज को विशुद्ध नहीं कहा जा सकता है।

पिछले युग मे बहुतेरे आदमी महात्मा गांधी को गाली-गलौज करते थे। अब भी न करते हों, ऐसी बात नहीं। तब हाँ, पहले की तरह नहीं। निर्लोभ, सत्यवादी और अहिंसक व्यक्ति की भी लोग निन्दा करते हैं, यह देखकर बहुतों के मन में कष्ट पहुँचता था। वे कहते, "इतने सत्यवादी आदमी की भी लोग निन्दा करते हैं! धिक्कार है!"

परन्तु जब उन्होंने चौराचोरी की हिंसा के कारण आडम्बर के साथ घोषणा की–I have made a Himalayan blunder–मैंने बहुत बड़ी गलती की है–तो उस दिन उनके निन्दकों ने कहा था : गांधी जी महात्मा हैं।

असलियत यही है कि आदमी मिलावट को ही पसन्द करता है। वे निखालिस चीज की कद्र नहीं करते। सुकरात एक खांटी आदमी थे, इस सम्बन्ध मे कोई दूसरी राय नहीं हो सकती। लेकिन खांटी आदमी रहने के कारण उनकी पत्नी उन्हे बरदाश्त नहीं कर पाती थी। समाज, राष्ट्र और जनता किसी भी निर्दोष वस्तु को बरदाश्त नहीं कर पाती है। सुकरात को इसीलिए जहर खाकर आत्महत्या करनी पड़ी थी।

अपने एक मित्र को रथ के मेले में तेल के पकौड़े खाते देख मुझे हैरानी हुई थी। मैं उसे सात्विक व्यक्ति के रूप मे ही जानता था। घर पर वह फल-दूध मिठाई के अतिरिक्त दूसरी कोई चीज नहीं खाता था।

मैंने कहा, "अरे यह क्या! तुम यह सब खा रहे हो? यह तो जहर के बराबर है। घर पर खांटी सरसों तेल से तला हुआ आलूचाप खा सकते थे।"

मित्र ने कहा, "भाई मेरे, खांटी तेल से तला हुआ आलू चाप इतना मीठा नहीं होता है।"

मिलावट खांटी चीज से अच्छी होती है, इसका प्रमाण है जयदेव का 'गीत-गोविन्द'।

जयदेव गीत-गोविन्द लिखते-लिखते एक जगह आकर रुक गये। पंक्ति मिल नहीं रही थी। बहुत माथापच्ची करने के बाद भी जब दिमाग में कुछ नहीं आया तो नदी में स्नान करने चले गये। सोचा, लौटकर ठण्डे दिमाग से लिखेंगे। लेकिन नहा-धोकर लौटने के बाद देखा, किसी ने उनके काव्य की पंक्ति की पूर्ति कर दी है—देहि पद पल्लवमुदारम्। उन्होंने अपनी पत्नी पद्मावती को पुकारा और पूछा, "यह पंक्ति किसने लिख दी?"

पद्मावती ने कहा, "प्रभो, आप ही तो स्नान करने जाकर भी लौट आये और यह पंक्ति लिख गये।"

उस समय जयदेव की समझ में आया, स्वयं श्रीकृष्ण ही सशरीर छद्मवेश में आये और यह अलौकिक कार्य कर चले गये।

सो यह भी तो एक तरह की मिलावट ही है। अन्तर इतना ही है कि वह लौकिक के बजाय अलौकिक मिलावट है।

रामायण की अहल्या भी ठीक इसी प्रकार की एक मिलावट के कारण अभिशाप-ग्रस्ता हो गयी थी। इन्द्र को पति समझने की गलती करना भी तो मिलावट ही है। नैतिक चरित्र की गलती की मिलावट। लेकिन भाग्य अच्छा था कि उस तरह की मिलावट की थी। मिलावट न करती तो वह पाषाण होती? और पाषाण न होती तो रामचन्द्र के दर्शन हुए होते? मिलावट के कारण दण्ड-भोग की ऐसी शुभ परिणति देखने में बहुत कम ही आती है। मिलावट करने के कारण अगर श्री रामचन्द्र जी की कृपा होने की बात होती तो चाहे आप हों या मैं कोई मिलावट करने से बाज नहीं आता। श्री रामचन्द्र को भी पत्थर की ठोकर खा-खाकर वन जाने का कार्यक्रम स्थगित करना पड़ता। सारी दुनिया पत्थरों से भर गयी हुई होती। मिलावट करने वालों को ही लक्ष्य बनाकर सम्भवतः कवि ने लिखा था—हाय री राजधानी, पाषाण काया।

इसका एक और उदाहरण है कार्लाइल। निखालिस खाँटी लेखक होना हो तो भी निखालिस-खाँटी लेखक नहीं होना चाहिए। टॉमस कार्लाइल इसके सबसे बड़े उदाहरण हैं। वह जब लिखना शुरू करते तो विश्व-ब्रह्माण्ड को भी भूल जाते। जिस कमरे में बैठकर लिखते उसके चारों ओर दोहरी दीवार थी। लिखने के समय किसी को उस कमरे में प्रवेश करने का अधिकार नहीं था। यहाँ तक कि उनकी पत्नी को भी नहीं।

शाम के वक्त पत्नी को दिन भर में लिखी रचना सुननी पड़ती थी और सुनकर राय जाहिर करनी पड़ती थी कि अच्छी हुई या बुरी।

बरसों तक यही सिलसिला चलने पर पत्नी एक दिन अड़कर खड़ी हो गयी।

बोली, "अब बरदाश्त नहीं हो रहा है। दिन भर तुम्हारे लेखन की बात सुनते-सुनते अब मेरी सहनशक्ति जवाब देने लगी है। अब मुझे छुटकारा दो।"

लेखन की दुनिया में मशगूल रहनेवाले कार्लाइल साहब को तब अपनी गलती का अहसास हुआ। पत्नी से उन्होंने क्षमा माँगी, 'मैं समझ नहीं सका था कि मेरे लेखन का नशा किसी दिन मेरे घर का अमन-चैन दूर भगा देगा।"

कहा जा सकता है कि तभी से उन्होंने सामाजिक बनना शुरू किया। लोगों से मिलना-जुलना शुरू कर दिया। पहले देवता थे बाद में आदमी हो गये।

इस सिलसिले में एक और आदमी की बात याद आ रही है। रिचर्ड वगनर। रिचर्ड वगनर एक असाधारण संगीतज्ञ थे। धरती ने संगीत के जगत में जो दो-चार विरल प्रतिभाओं का सृजन किया है, रिचर्ड वगनर वैसे ही लोगों की श्रेणी में आते हैं।

वगनर ने अपने जीवन में कभी मिलावट नहीं की थी। अपने संगीत में वह इतने तल्लीन रहते थे कि मनुष्य होने की बात सोचते तक नहीं थे। उनकी जीवनी जिन्होंने लिखी है, पुस्तक का नाम 'द मॉनस्टर' रखा है। थोड़ी-सी मिलावट करते तो हो सकता है वह मनुष्य हो जाते लेकिन महान् कलाकार नहीं हो पाते।

असल में जो लोग यह सोचते हैं कि मिलावट न होती तो जीवन मधुर होता, उनसे मैं अनुरोध करूँगा कि वे एक बार सुकरात की जीवनी पढ़ कर देखें। और सुकरात ही क्यों, ईसामसीह के साथ भी यही बात थी। हमारे तथागत बुद्ध देव के साथ भी यही बात है। इनमें से किसी का जीवन सुखी नहीं रहा है। सुख तो दूर की बात, थोड़ी-सी शान्ति का भी स्पर्श उन्हें कभी नहीं मिला था। लेकिन हम उतने बड़े दुःख का बोझ उठा सकते हैं? हमारे जैसे जो साधारण लोग हैं, जो सासारिक सुख-भोग के लिए लोलुप हैं, उनके लिए मिलावट ही काम्य वस्तु है। थोड़ी-सी मिलावट का पुट देकर हम लोकप्रियता को बरकरार रखना चाहते हैं। हम इस तरह चलते हैं कि किसी से हमारा विरोध न हो। हम कीचड़ से बच कर चलते हैं, मैले से कतरा कर चलते हैं, धूल-धुआँ गन्ध को अनदेखा कर चलते हैं। लेकिन धर्म, सत्य और बोध को अक्षुण्ण रख कर नहीं चलते। क्योंकि इसमें बहुत झंझट है। धर्म, सत्य बोध को अक्षुण्ण रख चलने से महान् दुख के बोझ से हम निश्चल हो जाते हैं। महान दुख क्या हर कोई बरदाश्त कर सकता है?

एक बार एक छोटी लड़की मेरे पास ऑटोग्राफ की कापी लेकर आयी थी। ऑटोग्राफ कापी में, लिखने के लिए बहुतेरे लोग अनमोल वचन कण्ठस्थ किये रहते हैं इसलिए कि जरूरत पड़ने पर वह वाणी ऑटोग्राफ की कापी में लिख सकें। यहाँ तक देखा है कि कहानी-उपन्यास के लेखक भी कविता की दो पंक्ति लिख देते हैं और इतनी जल्दी लिख देते हैं कि लगता है, कविता की तुक जोड़ने में उन्हें देर नहीं लगती। शुरू में यह सब देख कर मुझे आश्चर्य लगता था। उसके बाद एक लेखक बन्धु ने इस बात को स्पष्ट कर दिया। बोले, "जब कभी वक्त मिलता है, कई सेट पद्य तैयार करके रख देता हूँ।"

लेकिन कोई चीज पहले से ही तैयार करके रख छोड़ूँगा, मेरा यह स्वभाव नहीं है। यही वजह है कि कोई ऑटोग्राफ की कापी मेरा ओर बढ़ा देता है तो मैं मुश्किल में पड़ जाता हूँ। हर व्यक्ति के अनुरोध पर कुछ न कुछ लिखना ही है। जैसे लोगों के झुण्ड के बीच कुछ लिख देना सहज सरल काम है। सब तो रवीन्द्रनाथ नहीं हैं न!

इसीलिए किसी की ऑटोग्राफ कापी मिल जाती है तो उसे उलट-पुलट कर देखता हूँ कि किसने क्या लिखा है। देखते-देखते यही सोचने लगता हूँ कि इतने अच्छे-अच्छे उपदेशों का ऑटोग्राफ की कापी में बन्दी रहने के बजाय अगर प्रकाशन हो जाता तो आम लोगों की कितनी भलाई होती!

बहरहाल एक ऑटोग्राफ कापी में प्रमथनाथ विशी की एक वाणी देखने का मौका मिला था। उन्होंने लिखा था: 'हमेशा सच मत बोलो।' हमेशा सच बोलने का उपदेश सुनते-सुनते जब मैं बेदम हो गया था तो उस समय उस वाणी को देख कर दंग रह गया। कहा जा सकता है कि उस वाणी ने मृतसंजीवनी का काम किया। तभी सोचा, इतने दिनों के बाद सचमुच ही एक खाँटी बात सुनने को मिली। यह भी मिलावट ही है—सचाई में झूठ की थोड़ी-सी मिलावट।

रामकृष्ण परमहंस एक साधु की कहानी सुना रहे थे। साधु ने एक साँप को अहिंसक होने का उपदेश दिया। इस पर उसकी जो दुर्दशा हुई, यह देखकर साधु ने कहा, "तुझे मैंने काटने से मना किया था, फुँफकारने से थोड़े ही मन किया था?"

महात्मा गांधी ने नोआखली के हिन्दुओं की दुर्दशा देखकर उन्हें खरी-खोटी सुनाते हुए कहा था, "उन लोगों ने तुम्हें मारा और तुम लोगों ने बिना चूँ किये मार बरदाश्त कर ली? बदले में तुम उन्हें नहीं मार सके?"

कहने का मतलब है विशुद्ध अहिंसा भी ठीक नहीं होती, उसमें थोड़ी बहुत हिंसा की मिलावट होनी चाहिए। इसी का नाम खाँटी अहिंसा है।

एक प्रेमिका के गाल में एक फोड़ा निकल आया था। प्रेम के मामले में गाल एक ऐसी वस्तु है जिसका व्यवहार बहुत बार किया जाता है। प्रेमिका भारी परेशानी में पड़ गयी। गाल में फोड़ा ले प्रेमी से मिलना सम्भव नहीं है। एक तो फोड़ा यों भी देखने में बुरा लगता है, उस पर अगर प्रेम की अधिकता के कारण असावधानी से किसी तरह गाल का उपयोग किया जाये तो फिर मौत की यातना हो सहनी पड़ेगी। मगर बहुत दिनों तक न मिलना भी खतरे से खाली नहीं है। न मिलने से प्रेमी के विचार में परिवर्तन आ सकता है। आकर्षण कहीं दूसरे पर केन्द्रित न हो जाये।

बहुत सोचने-विचारने के बाद प्रेमिका एक दिन रूमाल से गाल ढँक प्रेमी के सामने उपस्थित हुई। लेकिन प्रेमी पहले जैसा ही निस्पृह था।

प्रेमिका ने मान भरे स्वर में कहा, "तुम क्या मुझे भूल गये?"

प्रेमी ने कहा, "नहीं।"

प्रेमिका बोली, "तुम एकबार भी यह पूछ नहीं रहे कि मैं इतने दिनों से क्यों नहीं आ रही थी?"

प्रेमी ने कहा, "तुम जरूर ही किसी काम में फँस गयी थी। इसमें पूछने की कौन-सी बात है?"

प्रेमिका ने कहा, "तुम अब मुझे प्यार नहीं करते।"

प्रेमी ने कहा, "किसने कहा? मैं तुम्हें बेहद प्यार करता हूँ।"

प्रेमिका ने कहा, "लेकिन तुम तो मेरी ओर एकबार मुड़कर भी नहीं देख रहे हो। मैं क्या खूबसूरत नहीं हूँ ?"

प्रेमी ने कहा, "कितनी ही बार कह चुका हूँ कि तुम बेहद खूबसूरत हो।"

प्रेमिका बोली, "जबान से कहने से क्या होगा, आदमी के व्यवहार से अन्दाज लग जाता है। पहले बहुत बार कह चुके हो, लेकिन आजकल ऐसा नहीं कहते हो। किसी प्रकार का हाव-भाव भी प्रकट नहीं करते।"

प्रेमी को ऊब महसूस होने लगी। बोला, "बार-बार एक ही बात अच्छी नहीं लगती, दूसरी बात कहो।"

प्रेमिका की आँखों में आँसू भर आये। असावधानी के कारण रूमाल से आँसू पोंछने लगी कि एक अनहोना हो गया। एकाएक प्रेमी की नजर गाल के फोड़े पर गयी और वह चिहुँक उठा।

"यह क्या ? फोड़ा ?" उसने कहा, "तुम्हारे गाल पर फोड़ा निकल आया है ?"

उसके बाद प्रेमी के व्यवहार में प्यार का आवेग उमड़ आया। प्रेमिका जितना ही फोड़े को ढँककर रखना चाहती है, प्रेमी उतनी ही आपत्ति करता है, उतने ही ध्यान से फोड़े को देखता है। फोड़े को चूमने लगता है। कहने लगता है, "तुम कितनी खूबसूरत दीख रही हो डार्लिंग।"

दरअसल, प्रेमिका के गाल के फोड़े ने इस मामले में 'ब्यूटी स्पॉट' का काम किया था। ब्यूटी स्पॉट का मतलब ही है ऐब। और ऐब का मतलब है मिलावट।

स्वामी विवेकानन्द को कौन ऐसा है जो श्रद्धा की दृष्टि से न देखता हो ? रामकृष्ण परमहंस अगर 'परमपुरुष' हैं तो विवेकानन्द मेरे जैसे चरमपुरुष। जिस चरित्र में पौरुष का चरमोत्कर्ष चरितार्थ हुआ हो, मैं उसी को चरमपुरुष कहता हूँ। लेकिन मेरी व्यक्तिगत श्रद्धा का कारण कुछ और ही है। जिस दिन मुझे पता चला कि वह योरोप जाकर गोमांस खाते थे, उसी दिन से मुझमें उनके प्रति अधिक श्रद्धा उमड़ आयी। पहले मुझसे उनके प्रति श्रद्धा थी लेकिन श्रद्धा अब वह प्रेम में परिणत हो गयी है।

चार्ल्स डार्विन के साथ भी यही बात है। जिन लोगों ने इस दुनिया का चेहरा बदल दिया है चार्ल्स डार्विन उन्हीं मुट्ठी भर लोगों में से हैं। लेकिन चार्ल्स डार्विन का स्थान मस्तक से हट कर मेरे हृदय में उस दिन चला आया जिस दिन मुझे पता चला कि वह मेरी ही तरह लजीले स्वभाव के थे, अजनबियों के सामने आते ही मेरी ही तरह उन्हें जड़ता दबोच लेती थी और पसीने से तर-बतर हो जाते थे।

असल में यह भी मिलावट ही है।

मेरे एक दोस्त ने बताया था कि वह तीन चीजों से सौ हाथ की दूरी पर रहता है। औरत, घोड़ा और वी० आइ० पी०।

"क्यों ?" मैंने उससे पूछा।

"ये तीन चीज बिलकुल निखालिस हैं।" उसका उत्तर था।

"निखालिस का मतलब ?"

मित्र ने कहा, "ये तीनों लात मारते हैं। सो लात ही मारे तो कोई बात नहीं, मगर लात मारने के बाद इन तीनों में से कोई चोट को सहलाने नहीं आता। यही वजह है कि मैं उनके पास फटकता नहीं हूँ।"

जूता मार कर गोदान करने की किंवदन्ती है। मित्रवर उसी किंवदन्ती पर विश्वास करते हैं। मगर जो लोग सिर्फ जूता ही मारते हैं और आखिर में गोदान कर अनुताप नहीं करते, वे मिलावट नहीं करते हैं और चूंकि मिलावट नहीं करते है इसलिए ईसा मसीह की तरह स्वर्ग भी नहीं जा पाते।

शोपनहावर कितने बड़े मिलावट करनेवाले थे, इसका प्रमाण उनकी जीवनी पढ़ने के बाद मिला था। वह एक पहुँचे हुए दार्शनिक थे। बड़े ही गम्भीर और दबंग। शादी-विवाह नहीं किया, माँ से झगड़ा कर अलग ही मकान बनाकर रहने लगे। होटल में खाना खाते थे और एक कुत्ता पालकर उसके साथ जीवन बिताते थे। यहाँ तक तो ठीक है। लेकिन जब यह पता चला कि उन्होंने अपने कुत्ते का नाम न तो जिमी रखा था, न पेगी, बल्कि आत्मा, तो उनके प्रति मुझमें प्रेम उमड़ आया।

शोपनहावर के अतिरिक्त आत्मा को किसने इतनी मर्यादा दी है? कौन ऐसा आदमी है जो आत्मा को इतना प्यार कर सका है? आत्मा में कुत्ते की मिलावट कर उन्होंने न केवल आत्मा को मर्यादित किया है बल्कि कुत्ते को भी मर्यादित किया है।

फूल के गुच्छे में सही मानी में केवल फूल ही होना चाहिए। मसलन पान। पान का मतलब सिर्फ पान की पत्ती ही नहीं, उसके साथ सुपारी, कत्था और चूना देना पड़ता है। लेकिन नाम पान ही है। कोई पान खाना चाहता है तो उसे केवल पान नहीं दिया जाता, सुपारी, चूना और कत्था भी दिया जाता है। फूल के गुच्छे में जितने फूल होते हैं उससे अधिक परिमाण में देवदारु के पत्ते होते हैं।

पिछले वर्ष लालगोला के राव राजा धीरेन्द्र नारायण राय ने मुझे एकबार अपने पोते के अन्नप्राशन के उपलक्ष्य में अपने मालिन पार्क के भवन में दावत पर बुलाया था। खाने-पीने का प्रचुर आयोजन था। शाम के वक्त उत्सव-अनुष्ठान में जाकर एक अस्वस्तिकर परिस्थिति में पड़ गया। बहुत से लोगों को खाने पर बुलाया गया था। मेज पर हम पंक्तिबद्ध खाने बैठ गये। गृहपति राजा धीरेन्द्र नारायण अपनी पुत्रवधू को मेरे साथ परिचय कराने ले आये।

मेरी ओर इशारा कर कहा, "आप हैं असली विमल मित्र।"

मैंने औपचारिकता के नाते नमस्कार किया।

"और आप हैं नकली विमल मित्र।"

उनकी राय सुनकर मैं चिहुँक उठा। मेरे पास ही एक सज्जन बैठे थे, इशारा उन्हीं की ओर था। मैंने उस सज्जन की ओर गौर से देखा। बड़े ही हट्टे-कट्टे पुरुष तल्लीन होकर कौर पर कौर निगल रहे थे। सात-आठ राधावल्लभी, उसके साथ उससे

भी अधिक परिमाण मे खाने की सामग्री चट किये जा रहे थे। मंतव्य सुनकर नाखुश नहीं हुए। खाते-खाते ही उन्होने एक ठहाका लगाया। 'नकली' सुनकर बेजार नहीं हुए।

मैंने आश्चर्य मे आकर पूछा, "नकली विमल मित्र का मतलब ?"

राजा साहब ने बताया, "टेलीफोन गाइड मे देखा, बहुतेरे विमल मित्र हैं। मैं एक-एक को फोन कर पूछने लगा कि आप लेखक विमल मित्र हैं या नहीं। सबने कहा नहीं। सिर्फ एक घर की एक महिला ने कहा : मेरे ससुर का नाम विमल मित्र हैं, वह लेखक हैं। तभी मुझे सन्देह हुआ कि विमल की क्या इतनी उम्र हो गयी कि वह ससुर बन बैठे ! दूसरे दिन एक दूसरे नम्बर पर फोन करने पर तुम मिल गये। लेकिन उस वक्त गलती सुधारने का कोई उपाय न रह गया था। नकली विमल मित्र के नाम पत्र डाल चुका था।"

सुनकर उपस्थित लोगो का समुदाय हँसने लगा।

मिलावट के विमल मित्र से परिचय हुआ। वह बहुत दिनों तक रंगून मे थे। बचपन में थोड़ा-बहुत लिखते थे। अब वह सब झमेला उनके साथ नहीं है। लोहा-लक्कड़ के व्यवसाय मे डूबे हुए हैं। शांखारी पाडा मे रहते हैं। बोले, "हर आदमी जनाब यही गलती करता है।"

याद है, उस दिन राजा साहब, मिलावट के विमल मित्र और मैं—तीनो ने मिलावट को अत्यन्त प्रसन्न होकर स्वीकार किया था।

अगर आप कहें कि यह सब तो मजाक है, गलती है। तो मेरे पास इसका भी उत्तर है। मजाक में गलती कर बैठने का जिस तरह का दृष्टान्त मिलता है, गलती करने के बाद उसे मजाक कहकर साबित करने की चेष्टा के भी असंख्य उदाहरण मिल जाते हैं। लेकिन यह बात अभी रहे।

मेरी रचना में गलती निकाल वाहवाही लूटने के लिए बहुत से अध्यापक खोजियों ने कितने ही निबन्ध लिखे हैं। मुझ पर आक्रमण करते हुए ढेरो चट्ठियाँ लिखी हैं। मैंने उत्तर नहीं दिया है। उत्तर दूँ तो क्या ? किस उपन्यास मे मैंने साल-तारीख की गलती की है, उद्धरण देने मे मुझसे कहाँ कौन-सी गलती हुई है, शेरशाह हिन्दू विद्वेषी थे या नहीं, भरतचन्द्र के पिता का नाम राजेन्द्र नारायण था या नरेन्द्र नारायण, अमुक व्यक्ति उत्तर रीढ़ी कायस्थ थे या उच्च राढ़ी कायस्थ इन बातो का मैं उत्तर देने जाता तो 'बेगम मेरी विश्वास' लिख ही नही पाता। 'साहब बीबी गुलाम' के साथ भी यही बात हुई थी। मैंने शिवनाथ शास्त्री की पुस्तक से चोरी की है या नही, सोडे का आविष्कार कब हुआ, बरफ इस मुल्क मे किस साल आयी—इस तरह के विविध प्रश्नो से बहादुरी लूटने के ख्याल मे कॉलेज के मास्टरो ने मुझे जीवन-भर परेशान किया है। बहुत मास्टरी करने से इसी तरह की बात हो जाती है। अपने पिता को भी बहुतेरे लोग छात्र कहने की गलती कर बैठते हैं।

लेकिन मेरा कहना है, चार्ल्स डिकेन्स के मामले मे तुम आपत्ति क्यो नहीं करने गये ? सर वाल्टर स्काट के मामले मे भी तुम लोग चुप्पी साधे रहे। कहानी के नाते

वे किसी-किसी युद्ध को एक सौ साल आगे या पीछे ले गये हैं अरे भाई मेरे, मैं तो कोई इतिहास लिखने नहीं बैठा था।

यही नहीं, उस दिन शेक्सपीयर की चतुर्थ जन्म शतवार्षिकी मनायी गयी, लेकिन विद्वानो ने इसका उल्लेख नहीं किया कि शेक्सपीयर ने कहाँ-कहाँ मिलावट का उपयोग किया है। 'एन्टोनी एण्ड क्लियोपेट्रा' नाटक मे उन्होने बिलियर्ड टेबुल का उल्लेख किया है। लेकिन क्लियोपेट्रा के जमाने मे क्या बिलियर्ड का आविष्कार हुआ था ? राजा जॉन के जमाने में कमान का उल्लेख है। कमान क्या जॉन के जमाने मे तैयार हुई थी ?

असल मे जहाँ तक मिलावट की बात है, शेक्सपीयर सबसे बड़ा आदमी है। शेक्सपीयर के सम्बन्ध मे निम्नलिखित वाक्यो को पढ़ने पर आपको मेरी बात की सच्चाई का पता चल जायेगा :

The very head and front of all offenders was Shakespeare himself. *He speaks of cannon in the reign of John*, whereas cannon were unknown until a century and a half later; of printing in the time of Henry II, of clocks--at striking clocks at that—in the time of Julius Caesar; he makes Hector quote Aristotle and Cariolanus refer to Cato and Alexander; he introduces a billard-table into Cleoptra's palace, he dowers Bohemia with a sea-cost, at an immesurable distanace from each other."*

Mistakes of Authors, page 730.

मुझे कभी-कभी लगता है,समालोचक समुदाय अगर रस मर्मज्ञ हुए होते तो साहित्य की कुछ उन्नति हुई होती। इस बात को उलट कर कहने से और अच्छा होगा—रस-मर्मज्ञ अगर समालोचक हुए होते तो साहित्य की कुछ उन्नति हुई होती। लेकिन बंगला साहित्य के साथ ऐसी बात नहीं है। यहाँ जिसका जो काम नहीं है, वही काम करता है। यहाँ कवि किरानी होते हैं, किरानी कवि; डॉक्टर कहानी लिखते हैं, कहानीकार डॉक्टरी करते हैं। यहाँ अखबारो के सम्पादक साहित्य सभा की अध्यक्षता करते हैं और साहित्यकार उसी अखबार के दफ्तर मे अंग्रेजी खबरों का तर्जुमा करते हैं।

यह भी मिलावट ही है। मिलावट ही मुझे अच्छी लगती है। क्योंकि मिलावट उपादेय है।

* शेक्सपीयर स्वयं तमाम अपराधियों का सरदार था। वह जॉन के शासनकाल में तोप की बात बताता है, हालाँकि उससे डेढ़ शती तक लोग तोप से परिचित नहीं थे। वे हेनरी द्वितीय के शासनकाल में मुद्रण और जुलियस सीजर के शासनकाल में घड़ी और सो भी बजने वाली घड़ी की बात बताता है। वह हेक्टर से अरस्तू के बारे में उद्धरण दिलाता है, कैरिलेलुस से कैटो और सिकन्दर की चर्चा कराता है, क्लियोपेट्रा के महल में बिलयर्ड टेबल होने की बात बताता है, बोहेमिया को एक समुद्र तट दहेज में दिलाता है, डेल्फॉस को एक प्रायद्वीप बताता है तथा ट्यूनिस एवं नेपल्स के बीच अपरिमित दूरी बताता है।

कलकत्ते का उपकंठ : चेतला

[विमल मित्र जिस विद्यालय में बचपन में पढते थे, उसके छात्र समिति के प्रमुख पत्र में १९६० ई० में प्रस्तुत रचना प्रकाशित हुई थी। निबन्ध की विषयवस्तु यद्यपि चेतला का इतिहास और उसकी समृद्धि के पीछे मेजर टेलर के अवदान का इतिवृत्त है, लेकिन इस बहाने उन्होंने अपने विद्यालय के प्रधानाध्यापक के प्रति अपनी श्रद्धांजलि व्यक्त की है। लेखक शिक्षकों के प्रति अत्यन्त श्रद्धाशील है। इसका प्रमाण उनके 'खरीदी कौड़ियों के मोल', 'इकाई दहाई सैकड़ा' और 'कलापक्ष' में मिलता है।—अनुवादक]

उम्र जितनी ही बढती जा रही है उतना ही पुराने पंचागों को उलट-पुलट कर देखता रहता हूँ। उम्र बढने से बहुत सी असुविधाओं का सामना करना पड़ता है। आदमी बातूनी हो जाता है, उसकी सहन-शक्ति का भी ह्रास हो जाता है। इसी को परमत-असहिष्णुता कहते हैं। इसके अलावा दांत गिरने, पाचन-शक्ति में ह्रास आने और आंख की दृष्टि-शक्ति मे कमी आने का सिलसिला तो लगा ही रहता है। मोटे तौर पर यही कहा जा सकता है कि बूढा होने का मतलब है रुपये मे साढे पन्द्रह आना असुविधा ही असुविधा। दो पैसा जो बाकी बचता है, एकमात्र वही सुविधा है। बहुत खोज-पड़ताल करने के बाद मैंने उस दो पैसे की सुविधा का आविष्कार किया है।

सुविधा यही है कि बचपन मे जिसका आरंभ देखा है ज्यादा उम्र होने पर उसका अन्त देखने का मौका मिलता है। मान लीजिये, बचपन मे किसी के बारे में कहा था कि यह आदमी जहन्नुम मे जायेगा—लेकिन बुढापे मे देखा, वह धन-जन, विषय-सम्पत्ति से भरा-पूरा है।

इसी तरह बहुत से आदमी और प्रतिष्ठान का आरंभ और परिणति देखने का सुयोग प्राप्त हुआ है। किसी की परिणति सुखद और किसी की दुःखद हुई है। लेकिन यह सब अधिक उम्र होने पर ही देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। अपने जीवन का नशा और पेशा जब देखना ही बना लिया है तो इसकी वजह से आनन्द भी मिलता है।

मसलन चेतला की ही बात लें।

बहुत दिन पहले यह एक अविख्यात गांव था। उन दिनो यहाँ बाघ और सांप निकलते थे, डाकुओं के भय से लोग शाम से ही घर की छिटकनी बन्द किये पडे रहते थे। वैसा दिन यद्यपि देखा नहीं है मगर उसकी कल्पना तो अवश्य कर सकता हूँ।

उन दिनो अलीपुर मे सिरस्तेदार की कचहरी नही बनी थी। आदिगंगा पार करने के बाद केवल माँ काली का मन्दिर मिलता था। चेतला के बाशिन्दे खेती-बारी करते, देवी-देवताओं के माहात्म्य के गीत सुनते और फुरसत के समय नहर-नाला-तालाब में मछलियां पकड़ते थे। इसी तरह सुख-दुख के साथ चेतला के रहने वाले

लोगो के दिन वीतते थे। वे हिन्दू, बौद्ध, पठान, मुगलों के शासनकाल के राजा-बादशाहों के उत्थान-पतन के बारे मे माथापच्ची नहीं करते थे। इसी बीच कब मराठे लुटेरों का उत्पात हुआ, कब शोभासिंह ने विद्रोह किया और कब चुपके से ईस्टइण्डिया कंपनी के फिरंगियो ने आकर उनके गाँव के पास ही खेमा गाड़ दिया—इन बातो का उन्हे पता ही नहीं चला। बेहाला के लोग राहगीरों को देख कर पूछते, "कहाँ चले घोष के लाड़ले ?"

घोष का लाडला कहता, "चेतला।"

बेहाला के लोगों को हैरानी होती। कहते, "तुममे तो बड़ी हिम्मत है घोष के लाडले! शाम के वक्त तुम चेतला जा रहे हो? प्राणो का तुम्हे कोई भय नहीं है?"

सो उन दिनों चेतला का दोष ही क्या था! चेतला तब कलकत्ते की तुलना मे स्वर्ग था। चेतला के उस पार भवानीपुर, चौरंगी, डलहौज़ी स्क्वायर उन दिनो और भी भयंकर स्थान थे। भवानीपुर के होगला जंगल में पोर्तुगीज़ी डाकुओ की तूती बोलती थी। बाल-बच्चो को डकैती करके ले आते थे और वहीं फिरंगियो के हाथ बेच देते थे। उन स्थानों की तुलना मे चेतला उन दिनों एक उपद्रव-हीन जगह थी। एक ओर दिल्ली की मसनद का राजकीय पड्यन्त्र और मुर्शिदावाद की नौकरशाही दूसरी ओर मराठी लुटेरों का प्रकोप। उस पर 'बडशे-बेहाला' के सवर्ण चौधरियो के नौकर-चाकरो का हमला तो हमेशा होना ही रहता था। इस तरह की स्थिति मे कहा जा सकता है कि चेतला के बाशिन्दे मजे से दिन गुजार रहे थे।

कब जॉब चार्नक ने १६९० ई० मे कलकत्ते की स्थापना की, कब यहाँ से सूत, रुई और पाट निर्यात होकर विलायत जाने लगे, इसका भी लोगों को पता नहीं चला। कब धान कूटने की मशीन, नोट छापने की मशीन, वाष्पीय जहाज हुगली नदी किनारे आकर पहुँचे, इस बात का भी चेतला के बाशिन्दे को पता नहीं चला। सिर्फ इतना ही उन लोगो ने देखा कि चेतला मे अचानक एक दिन फिरंगियों की एक कचहरी बन कर खडी हो गयी।

कब, किस वर्ष और किस तिथि मे कचहरी बनकर खड़ी हुई थी, यह बात खोजी लोग ही बता सकते हैं। मैं खोजी नहीं हूँ। तब हाँ, इतना जरूर पता है कि चेतला न तो कलकत्ते मे है और न कलकत्ते के बाहर ही। इसका भूगोल अजीब ही तरह का है। मानो यह शहर होने के बावजूद शहर न हो। हाल के भूगोल की माप के तिब्बत के जैसा ही इसका हाल है। न घर का न घाट का। पुराने कलकत्ते की माप मे चेतला का नाम तक नहीं है। अलीपुर, भवानीपुर, कालीघाट हैं मगर चेतला नहीं। टैक्स कलकत्ते की दर से चुकाना पड़ता है लेकिन कलकत्ते की पूरी सुविधा इसे हासिल नहीं होती है।

कलकत्ते के इतिहास और भूगोल की कई पुस्तकें हैं पर उनमे भी इस स्थान का नाम नहीं है। साथ ही साथ चौबीस परगना पुस्तक मे भी इसके नाम का उल्लेख नहीं है। यह अनुसंधान करने लायक बात है।

खोजते-खोजते १९०३ ई० मे छपी एक पुस्तक मे पहले-पहल चेतला का नाम

मिला। आज से १३९ वर्ष पहले का विवरण उसमें छपा हुआ है। रामतनु लाहिड़ी पहली बार कलकत्ता आने पर चेतला में अपने एक सम्बन्धी के डेरे पर टिके थे। यह १८२६ ई० की बात है। पुस्तक से कई पंक्तियाँ उद्धृतकर दूँ तो आपलोग तत्कालीन चेतला के बारे में कुछ धारणा बना सकेंगे। चेतला के बारे में उनकी राय हालांकि कुछ कटु है परन्तु उपभोग करने लायक है।

"उन दिनों चेतला के निकट कोई अंग्रेजी स्कूल नहीं था। चेतला के दास-दासी अभी जितने कुरूप दीख पड़ते हैं उस समय भी उतने ही कुरूप थे, यह नहीं कह सकता हूँ। सर्वत्र यही देखने को मिल रहा है कि तीर्थस्थान के निकट सामाजिक स्थिति बदतर है। अस्थायी गतिशील बहुसंख्यक नर-नारी इन स्थानों में हमेशा आते-जाते रहते हैं। इनके बीच बहुत से लोग मूर्ख और अशिक्षित हैं। इन्हें धोखा देना या पाप में लिप्त कर कुछ उपार्जन करने के उद्देश्य से बहुत से स्वार्थी, धर्मज्ञानशून्य व्यक्ति इन तीर्थ स्थानों में वास कर रहे हैं। दुश्चरित्र नारियों के आवास-स्थलों से ये सब स्थान भरे हुए हैं। यात्रियों को ठहरने के लिये इसी प्रकार की नारियों के आवास स्थान में टिकना पड़ता है। वे यात्रियों को आवास स्थान देकर और रात्रि के समय वारांगना-वृत्ति कर दोहरा उपार्जन करती हैं। जब रूप और यौवन विदा ले लेता है तो उनमें से बहुत सी नारियाँ गृहस्थों के घर में नौकरानी का काम करने लगती हैं। चेतला उन दिनों उसी श्रेणी के पुरुष और नारियों से भरा हुआ था। आज की तरह उन दिनों भी चेतला व्यवसाय का एक प्रमुख स्थान था।

प्रत्येक वर्ष जिस-जिस श्रेणी के चावल का निर्यात किया जाता था, चेतला में उन सभी श्रेणी के चावल की सबसे प्रमुख हाट थी। इसके निमित्त सुदूर बाखरगंज और दक्षिण के मगाराहाट, कुलपी वगैरह स्थानों से चावल की सैकड़ों नौका और डोंगियाँ आती थीं और कालीघाट के निकटवर्ती 'टाली का नाला' नामक नहर में लगी रहती थीं। अतः पूर्ववंग निवासी गोलादार, आढ़तदार और पूर्वबंगीय मल्लाहों से चेतला भरा रहता था। इस प्रकार के प्रवासवासी बनियों के आवास स्थान पर किस प्रकार के लोगों का जमघट होता है, इससे सभी अवगत हैं। सभी इस बात का अनुमान लगा सकते हैं कि जिस प्रकार की सामाजिक आबोहवा और कैसे-कैसे लोगों के सम्पर्क में रामतनु लाहिड़ी को चेतला में रहना पड़ता था। सौभाग्य की बात है, इस प्रकार के स्कूल और परिवेश के सम्पर्क में उसे अधिक दिनों तक नहीं रहना पड़ा।"

छपे अक्षरों में चेतला का जो विवरण प्राप्त हुआ वह आज का विवरण नहीं है। यह आज से १३९ वर्ष पहले की तसवीर है। इतना समझ में आ जाता है कि ईस्ट इण्डिया कंपनी के आविर्भाव के बाद १८२६ ई० तक, यानी एक सौ उनचालीस बरसों के दरमियान, चेतला में, जो बदलाव आया था वह किसी भी अच्छे घर की सन्तान को अधःपतन के रास्ते पर ले आने को पर्याप्त था। उस समय के विख्यात कवि ईश्वरचन्द्र गुप्त ने बचपन में एक कविता लिखी थी, ऐसा कहा जाता है।

कविता यों है—

दिन में मक्खी, रात में मच्छर
यही सब लेकर बसता हूँ कलकत्ता शहर।

मिथ्या की दृष्टि से यह कविता जितनी हृदयग्राही है, सत्य की दृष्टि से संभवतः उससे कहीं अधिक ही है। बचपन से यह कविता सुनते-सुनते अब जुबानी याद हो गयी है। चेतला के सम्बन्ध मे ठीक ऐसी ही एक कविता है। चेतला के कोई यश-लिप्सा से दूर रहने वाले कवि लिख गये हैं—

चावल, चिउडा, झ्यातला।
यह सब लेकर चेतला॥

'झ्यातला' क्या चीज है, पता नहीं। मेरा अनुमान है कि चटाई या शीतलपाटी जैसी कोई चीज हुआ करती थी। अब यह चीज शायद चेतला मे दुष्प्राप्य है। तब हाँ, चावल और चिउड़ा के सम्बन्ध मे जो उक्ति है वह आज की पृष्ठभूमि मे लज्जा या संकोच की चीज नहीं है। हम लोग जब छोटे थे उस समय उपर्युक्त चीजें कुछ न कुछ परिमाण मे मिल जाती थीं।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यकाल में कलकत्ते को केन्द्र बना कर पुनरुत्थान का जो दौर चला था, चेतला संभवतः बहुत दिनों तक उस दौर से अलग ही रहा। अलग रहने का असली कारण भौगोलिक स्थिति ही है। पूरब मे गंगा, दक्षिण में जेलखाना और दक्खिन मे रेलवे लाइन। तीन ओर से जकड़ा हुआ। आगे बढे तो कैसे? आज की तरह उन दिनो न तो ट्राम थी और न ही बस-टैक्सी। इससे तो अच्छा है, यहीं हम सन्तुष्ट रहेंगे, रोते-चीखते रहेंगे। लेकिन इतिहास का जो भगीरथ है, वह चुप्पी साध कर नहीं रह सकता। एक दिन उसकी नींद खुल गयी।

भगीरथ गंगा को मर्त्यलोक ले आये थे यह एक पौराणिक कहानी है। बंगला मे एक कहावत है नहर काट कर मगर ले आना। भगीरथ की गंगा के साथ मगर आया था या नहीं, यह पुराण मे लिखा हुआ नहीं है। परन्तु यह बात सबको मालूम है कि मकर-कुर्म हमारे देवता की श्रेणी में ही आते हैं। कलियुग के देवता फिरंगी ही हैं। इसी तरह का एक फिरंगी हम लोगों के चेतला मे नवभगीरथ होकर आया था उनका नाम था मेजर डब्लू० टाली।

मेजर टाली कहाँ के रहने वाले थे, उनका घर कहाँ था, यहाँ उनकी कब्र कहाँ है, इन बातो का किसी को कोई पता नहीं है। हमे भी इस सम्बन्ध मे कोई जानकारी नहीं है। हम बचपन मे चेतला के स्कूल मे पढने जाते थे। छुट्टी के बाद आदिगंगा के किनारे हवा खाते थे। उस किनारे, तत्कालीन टालीगंज या नगर के वन-जंगल के दोनो ओर, धान का आयात-निर्यात होना देखते रहते थे। अनगिन भैंसा गाडी पर धान के लदे बोरों को जाते देखा है। गंगा मे बड़ी-बडी नौकाएँ आती थीं। काठ की लम्बी सीढी के रास्ते से नाव के ऊपर तक लगा दी जाती थी। मजदूर सिर पर धान के बोरे रख कर ढोते थे।

डेविड साहब घड़ी मरम्मत का व्यवसाय करने इस मुल्क मे आये थे। चाहे जो कुछ करने आये हों मगर शिक्षक का काम करने लगे। बंगाल के युवकों को शिक्षित और योग्य बना गये थे। मेजर टाली भी हो सकता है क्लाइव के दल की ओर से लड़ाई लड़ने आये हो। हो सकता है, कमान दाग कर उन्होंने पलासी के युद्ध में सिराजुद्दौला को हराया हो। इतिहास की किसी पुस्तक मे उनके बारे मे कुछ भी नहीं लिखा हुआ है। बहुत ढूंढने पर भी उनका नाम कहीं नहीं मिला। लेकिन कल्पना करने मे दोष ही क्या ?

इतिहास बताता है कि १७७६ ई० मे मेजर टाली ने आदिगंगा को खुदवाया था।

लेकिन क्यों खुदवाया ? उन्हे कौन-सी जरूरती पड़ी।

उस समय पूरा बंगाल ईस्ट इंडिया कंपनी के अधिकार मे था। सिराजुद्दौला मारा गया। अंग्रेज मोटी रकम लूट कर छोटे-मोटे नवाब हो गये थे। उसी समय वह नौकरी से सेवानिवृत्त हुए। सेवा-निवृत्ति के बाद अपने देश लौटकर नहीं गये। बीवी के साथ इसी देश मे रहने लगे। तब वह अनगिन पैसे के मालिक थे। खाते-पीते और शिकार करते थे। उन दिनों कलकत्ते का हर स्थान शिकार के उपयुक्त था।

शिकार करने के ख्याल से एक दिन चेतला पहुँचे—चौबीस परगना की चेतला तहसील। नल खागड़ा और होगला के जंगल की तंग कच्ची सडक से पालकी पर सवार हो जाते समय अगल बगल मे रहनेवाले लोगो की दुर्दशा पर उनकी नजर पड़ी।

कहारो से पूछा, "इस जगह का नाम क्या है ?"

कहारो ने कहा, "चेतला तहसील हुजूर।"

पूछा, "यहाँ के लोगों की इतनी बदतर हालत क्यों है ?"

कहारों ने कहा, "हुजूर, आदि-गंगा सूख गयी है। अब यहाँ फसल नहीं होती है।"

उन लोगों ने वहाँ दुर्दशा की और भी कितनी ही बातें बतायीं। खिदिरपुर से आकर यह आदिगंगा सीधे कुलपी से होती हुई विद्याधरी मे गिरती थी।

वहाँ से मातला मे।

तब यहाँ के लोगो की हालत अच्छी थी। इस आदि गंगा से होकर लोहार, कुम्हार, तेली सभी के बिकाऊ माल विदेश जाते थे। यहाँ तक कि पुआल और जलावन की लकड़ी भी। गंगा सूख गयी तो सबकी हालत खस्ता हो गयी। कारोबार ठप पड़ गया। रोग-बीमारी का उत्पात बढ गया। यहाँ अब वास करना ठीक नहीं। यहाँ के किसान और खेत-मजदूरों को आधा पेट खाकर रहना पड़ता है।

यह सब देखकर साहब के दिल मे दया उमड़ आयी।

दूसरे दिन उन्होंने लाट साहब से मुलाकात की। प्रस्ताव रखा, अपने खर्च से वह इस नहर को खोदवा देंगे। अतः उन्हें कंपनी की ओर से यह जमीन इजारे पर दी जाये।

बात मान ली गयी।

अठारह मील की लम्बी नहर। एक बारगी खिदिरपुर से लेकर दक्षिण के तारदह तक। १७७७ ई० में नहर की खुदाई शुरू हुई। उसके कुछ दिन पहले ही १७७० ई०

अर्थात् बंगाब्द ११७६ में, कुख्यात छियत्तरवाले अकाल का प्रकोप हो चुका था। देश की हालत तब चरम स्थिति तक पहुँच चुकी थी। उस समय टाली साहब का हुक्म मिलते ही हजारों मजदूर कुदाल लिये नहर की खुदाई करने लगे। नहर की खुदाई में एक साल भी नहीं लगा। रात-दिन काम चलते रहने के कारण गंगा का पानी पुनः विद्याधरी में जाकर गिरने लगा। जनपद पुनः धन्य-धान्य से परिपूर्ण हो गया। बढ़ई, कुम्हार, तेली वगैरह पुनः सुख से जीवन जीने लगे। नाव कुदघाट में लगती तो टॉली साहब का आदमी नाव का खेवा वसूल करता। ज्यादा से ज्यादा एक पैसा या अधेली या फिर कौड़ी।

सो चाहे जो भी देना पड़े, कोई हर्ज नहीं। लोगों को भोजन तो नसीब हो रहा है। व्यवसाय वाणिज्य चालू हो गया है खिदिरपुर के मुहाने से लेकर एकबारगी कुलपी, गड़िया, पियाली विद्याधरी मातला तक।

इससे अधिक टाली साहब के बारे में पता नहीं चलता। १८ मार्च १७९४ ई० के कैलकटा गजट के एक विज्ञापन से यह पता चलता है कि श्रीमती अन्ना मारिया टाली ने जॉन हुपर विलकिन्सन नामक एक साहब के हाथ नहर का स्वत्व बेच दिया था। तब से टाली साहब की विधवा मेम साहब का उस पर कोई अधिकार नहीं रह गया। इससे प्रमाणित होता है कि टाली साहब तब मर चुके थे और उनकी विधवा पत्नी ही स्वत्व का उपभोग कर रही थी। बहरहाल उसके बाद १८०४ ई० से बंगाल सरकार का ही इस नहर पर हमेशा के लिए स्वामित्व कायम हो गया।

तब हमें इन सब बातों की जानकारी नहीं थी। नहीं जानते थे कि किसके नाम को स्मरणीय बनाने के लिए टालीगंज नाम रखा गया है। यह भी नहीं जानते थे कि किस मिलिटरी साहब की कृपा से हमारी तहसील की तरक्की हुई है। तब चेतला का अस्पताल बन चुका था, अंग्रेजी स्कूल की स्थापना हो चुकी थी और हम और-और दसियों लोगों की तरह चेतला की समृद्धि का उपभोग कर रहे थे। तब हाँ, एक जोड़ा जूता खरीदने की जरूरत पड़ती है तो हमें भवानीपुर जाना पड़ता है। कॉलेज में पढ़ना हो तो भवानीपुर जाना पड़ता है। हर काम के लिए हमें भवानीपुर के भरोसे रहना पड़ता है। लेकिन जितनी तरक्की हुई है, वही क्या कोई कम है! इसीलिए कहता हूँ कि टाली साहब न हुए होते तो कौन ऐसा करता!

स्कूल की हालत तब अच्छी थी। सुरेश बाबू की मुझे अब तक याद है। पूरा नाम था श्री सुरेशचन्द्र चक्रवर्ती। सुपुरुष जैसा सुन्दर, स्वस्थ शरीर था। पूरे शरीर पर खादी का वस्त्र रहता था। उनसे जितना डरता था, उनके प्रति भक्ति भी उतनी ही रहती थी। उनको देखते ही हमारी आँखें शीतल हो जाती थीं। कभी-कभी क्लास में आकर अजीब ही तरह का सवाल कर बैठते। वह हम लोगों को अंग्रेजी पढ़ाते थे। बचपन का भय फर्स्ट क्लास में पहुँचते ही कैसे भक्ति के रूप में परिणत हो गया, इसका हमें पता नहीं चला। उनके क्लास में किसी तरह का शोर-गुल नहीं होना चाहिए। उनसे किसी प्रकार की छुट्टी नहीं मिल सकती है। उन दिनों बेवजह छुट्टी देने का

कोई नियम भी नहीं था। मामूली वजह से छुट्टी का रिवाज भी नहीं था उन दिनों। वह प्रथम विश्वयुद्ध का परवर्ती युग था। सब दुनिया में डिक्टेटर का जन्म नहीं हुआ था। सदा सत्य बात बोलने का युग था। सिनेमा के स्टार या फुटबाल के खिलाड़ी उन दिनों छात्रों के आदर्श नहीं थे। बाल मे कघी छुलाना भी उन दिनों अपराध समझा जाता था। बड़े आदमी के सामने गीत गाना या सिसकारी देना बहुत बड़ा अपराध समझा जाता था।

आज भी मैं अकसर उस युग के बारे मे सोचता रहता हूँ। शिक्षक और छात्र का रिश्ता उन दिनों जटिल नहीं हुआ था। देवेन्द्र बाबू दण्ड देते थे। शारीरिक दण्ड ही। उससे देह मे तकलीफ पहुँचती थी मगर मन कलुषित नहीं होता था। अठारहवीं शताब्दी की पाश्चात्य सभ्यता के तमाम गुण उस समय बंगाल के शिक्षण-प्रतिष्ठानों में पूर्णतः कायम हो चुके थे। क्लास के जो शरारती लड़के थे, वे शरारत करने से बाज नहीं आते थे। एकबार गगा के प्रसन्नमयी घाट मे छिपकर सिगरेट का कश ले रहे थे। लेकिन ऐसा वे बिलकुल छिपकर करते थे और अभिभावक शिक्षकों को इसका पता नहीं चलता था। अपने अपराध के प्रति वे सचेत रहते थे। दूसरे दर्जे तक एक दूसरे शिक्षक ने अंग्रेजी पढायी थी। लेकिन प्रथम श्रेणी में सुरेश बाबू का अंग्रेजी पढ़ाना देखकर मैं मुग्ध हो गया था। हममे से जो छात्र पिछली बेंचो पर बैठकर शोर-गुल करते थे, वे वर्ग की अगली कतार की बेंच पर आकर बैठने लगे। उस दिन वर्ग मे आते ही सुरेश बाबू एक अजीब सवाल पूछ बैठे। बोले, "बताओ तो मेजर टॉली कौन थे?"

मेजर टाली! मैंने क्लास के अच्छे लडको के चेहरे की ओर ताका। हम सभी सोच में डूब गये। हमने मेजर टाली का नाम कभी नहीं सुना था। किसी किताब मे भी उनके बारे में नहीं पढा था। उन्होंने कहा, "तुम लोग अगर मेरे सवाल का जवाब दे दोगे तो आज पूरे क्लास को छुट्टी दे दूंगा।"

उन दिनों छुट्टी हमारे लिए दुर्लभ वस्तु थी। आज की तरह उन दिनों आसानी से छुट्टी नहीं मिलती थी उस समय हड़ताल भी नहीं होती थी। बिलकुल जेल के अन्दर रहना पड़ता था। अध्ययन ही हमारे लिए जप-तप और ध्यान था। उन्होंने फिर कहा, "तुमसे कोई भी अगर बता दे तो सबको छुट्टी मिल जायेगी।" यह कहकर वह सबके चेहरे की ओर देखने लगे। मेजर टॉली के बारे मे किसी को कोई जानकारी न थी। वह किस लिए विख्यात हैं? हम आकाश-पाताल छानने लगे। हमसे स्वामी विवेकानन्द के बारे मे पूछा जाता तो बता सकते थे। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के बारे मे भी पूछा जाता तो बता सकते थे। महात्मा गाँधी, सी० आर० दास, आशुतोष मुखर्जी के बारे मे भी पूछा जाता तो बता सकते थे। बंकिमचन्द्र, माइकेल मधुसूदन दत्त के बारे में भी पूछा जाता तो बता सकते थे। इनमे से हर आदमी की कृति उनके जन्म इत्यादि के सम्बन्ध में बता सकते थे। या फिर चार्ल्स लैम्ब या लार्ड बायरन के बारे में पूछते तो बता सकते थे। शेक्सपीयर, मिल्टन के बारे में भी पूछा जाता तो हममें से

कोई-न-कोई अवश्य बता देता। सुरेश बाबू हँस पड़े। बोले, "अपने घर की बगल के बारे में कोई पता नहीं है?" हम शर्म से अधमरे जैसे हो गये। शर्म अज्ञता के लिए नहीं, बल्कि इसलिए हुई कि अपने घर की बगल के घर की जानकारी नहीं थी। मैंने राम, सतीश और मणीन्द्र के चेहरे की ओर ताका। मानता हूँ, मैं मोटू लड़का हूँ। लेकिन वे तो अच्छे लडके हैं। सुरेश बाबू ने कहा, "कोई जवाब नहीं दे सकेगा?"

हम अपने को धिक्कारने लगे और हमारी हालत उस समय अधमरे व्यक्ति जैसी हो गयी। इस प्रश्न का उत्तर उस दिन हममें से कोई नहीं दे सका। हम निरुत्तर होकर एक दूसरे के चेहरे की ओर देखने लगे। हमें छुट्टी मिलेगी, आजादी की साँस ले सकेंगे।

लेकिन छुट्टी हमारे भाग्य में नहीं थी।

हम अपने पड़ोसी के बारे मे उस दिन नहीं बता सके। कहा जा सकता है कि हमें अपने बारे में कुछ भी नहीं मालूम था। हमें उस दिन छुट्टी नहीं मिली। आज, इतने दिनों के बाद भी, उस दिन के बारे में सोचता हूँ तो बीच-बीच मे अपने आपको धिक्कारने लगता हूँ। उस दिन आखिरकार सुरेश बाबू ने हमें छुट्टी नहीं दी। हम उदास चेहरा ले चुपचाप वह सब सुनते जा रहे जो वह पढाते रहे। घण्टा बज उठा। सेकेण्ड, मिनट, घण्टा, दिन, महीना और साल बीत गये। फिर भी हमें छुट्टी नहीं मिली। कुछ दिन बाद उन्होंने खुद छुट्टी ली। छुट्टी लेकर कहीं चले गये। स्कूल की नौकरी छोड़ दी। लेकिन आज भी कभी-कभी लगता है, उनसे भेंट हो तो कहूँ, "सर, अब छुट्टी दीजिये, अब आपके प्रश्न का उत्तर दे दूँगा।"

लेकिन अब सुरेश बाबू कहाँ हैं और वे दिन ही कहाँ हैं! वह छात्र-जीवन ही कहाँ है! उसके बाद सुरेश बाबू जैसे हजारों लोग माथे पर प्रश्न और समस्या का बोझा लाद कर चले गये। हमें छुट्टी नहीं मिली। मुक्ति भी नहीं। मुक्ति क्या इतनी आसान चीज है।

•

गौतम बुद्ध, रवीन्द्रनाथ, महात्मा गांधी

[विमल मित्र ने प्रस्तुत निबन्ध १९६१ ई० में रवीन्द्रनाथ जन्म शताब्दी के उपलक्ष्य में लिखा था। चेतला के 'राखी संघ' ने 'राखी उत्सव और रवीन्द्र जन्म शताब्दी' का बंगाब्द १३६८ के सावन महीने में प्रकाशित किया था। उसीमें प्रस्तुत निबन्ध 'रवीन्द्र साहित्येर भूमिका' (रवीन्द्र साहित्य की भूमिका) नाम से प्रकाशित हुआ था। उन्नीसवीं शताब्दी के जिस शुभक्षण में रवीन्द्रनाथ का आविर्भाव हुआ था उस समय पाश्चात्य जगत् की यंत्र सभ्यता का भारतवर्ष में प्रचार-प्रसार हो चुका था। विमल मित्र ने इस निबन्ध में रवीन्द्रनाथ के जन्मकाल के बंगाल के साथ-साथ पूरे भारतवर्ष की धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा नैतिक जीवन यात्रा का इतिहास हमारे सामने रखता है। अंग्रेजी में जिसे 'कॉनवेन्सल ऐसे' कहते हैं, यह निबन्ध उसी प्रकार का है।—अनुवादक]

He stopped at the thresholds of the huts of the thousands of dispossessed, dressed like one of their own He spoke to them in their own language. Here was living truth at last and not only quotations from books For this reason the Mahatma, the name given to him by the people of India, is his real name who else has felt like him that all Indians are his own flesh and blood ? ...When his love came to the door of India, that door was opened wide. At Gandhi's call India blossomed forth to new greatness, just as once before in earlier times, when Buddha proclaimed the truth of fellow feeling and compassion among all living creatures.—रवीन्द्रनाथ ठाकुर।*

आज, जब कि रवीन्द्रनाथ और महात्मा गांधी दोनों इहलोक से बिदा हो चुके हैं तो इन शब्दों का स्मरण करना श्रेयस्कर प्रतीत होता है। इतिहास की दृष्टि से देखा जावे तो दोनों व्यक्ति महात्मा थे। रवीन्द्रनाथ स्वयं महात्मा न होते तो गांधी जी के सम्बन्ध मे ये शब्द नहीं कह सकते थे। गौतम बुद्ध, महात्मा गांधी और रवीन्द्रनाथ

* वे हजारों हत स्वत्वों की झोपड़ी की देहरी पर उनकी वेश-भूषा में आकर खड़े हुए। उनकी भाषा में उनसे बातचीत की। उस भाषा में सत्य का वास था, न कि पुस्तकों के उद्धरणों का। यही कारण है कि भारतीय जनता के द्वारा दिया गया 'महात्मा' नाम उनका असली नाम है। कौन ऐसा दूसरा आदमी है जिसने महसूस किया हो कि प्रत्येक भारतवासी मेरे शरीर का अभिन्न अंग है ?...जब भारत के द्वार पर उनके प्रेम का आगमन हुआ तो वह द्वार प्रशस्त और उन्मुक्त था, गाँधी की पुकार पर भारत की महत्ता का नवोन्मेष हुआ, जैसा कि प्राचीन काल में तब हुआ था। जब गौतम बुद्ध ने समस्त प्राणियों के बीच भ्रातृत्व और दया के सत्य का प्रचार किया था।

भारतवर्ष की ये तीन सत्ताएँ हैं। इन तीनों सत्ताओं के समन्वय में ही भारतवर्ष के आत्मिक गौरव की मूल बात छिपी है।

गौतम बुद्ध और महात्मा गांधी के सम्बन्ध मे अन्यत्र कुछ कहूँगा। आज रवीन्द्रनाथ के सम्बन्ध मे कुछ कहूँ, इसके पूर्व हिन्दुस्तान की उस समय की स्थिति के बारे मे भी जानना जरूरी है जब वह पैदा हुए थे। उन्नीसवीं शताब्दी के जिस युग मे उनका आविर्भाव हुआ था, उस समय पश्चिमी दुनिया की यंत्र-सभ्यता का भारतवर्ष मे प्रवेश हो चुका था। हिन्दुस्तान के साढे-सात लाख गाँवो मे उन दिनो पश्चिम के सफेद चमड़ी के लोग देखने को मिल जाते थे। किपलिंग साहब चाहे लाख कहे कि पूर्व और पश्चिम का कभी मिलन नहीं हो सकता, लेकिन मिलन को रोककर रखना उस समय किसी के वश की बात नहीं थी। जिस रवीन्द्रनाथ ने प्रायः पचास बरसों तक अंग्रेजी भाषा से अच्छी तरह परिचित रहने के बावजूद उस पर अपना प्रभाव इतना अधिक विस्तृत कर लिया था, उसी रवीन्द्रनाथ ने प्रमाणित कर दिया कि उस समय पाश्चात्य जगत् से प्राच्य देश का मिलन कितना सुदृढ हो गया था। सुदृढ न होने का भी सम्भवतः कोई कारण न था। इसका पता लगाने के लिए इतिहास पर नजर दौड़ानी होगी।

भारतवर्ष के इतिहास में जिस आन्दोलन की शुरुआत हुई उसका सूत्रपात धार्मिक आन्दोलन से ही हुआ। पाश्चात्य देशवालों का जब भारतवर्ष में प्रथम-प्रथम आगमन हुआ उस समय यहाँ सात सौ वर्षो से मुसलमानों का राज्य-पाट चला आ रहा था। दिल्ली से कलकत्ते तक के इन्डोगैंजेटिक भूमिखंड मे तब हिन्दुओं के पतन का युग चल रहा था। मुसलिम शासकवर्ग मूर्तिपूजक कहकर हिन्दुओं की अवज्ञा करता था। इस परिस्थिति मे जब अंग्रेजों ने उत्तर भारतवर्ष मे अपना आधिपत्य स्थापित किया तो उस समय यहाँ एक क्रान्ति का आभास मिला। सात सौ वर्षो के बाद हिन्दुओं को पहली बार इस्लाम धर्म के समानाधिकार के गौरव के साथ मस्तक ऊँचा कर चलने का मौका मिला।

अंग्रेज बनिये अकेले नहीं आये थे। अंग्रेजी भाषा, अंग्रेजी साहित्य-संस्कृति और सभ्यता के साथ अंग्रेज मिशनरी का भी आगमन हुआ था। उसके प्रचार और धार्मिक आन्दोलन ने हिन्दू धर्म को एक सीढी और आगे बढा दिया।

मिशनरियो के आन्दोलन के साथ ही एक नवीन प्रति आन्दोलन के नेता का आविर्भाव हुआ और वह थे राम मोहन राय।

राम मोहन राय (१७७२-१८३३) दरअसल इस्लामी शिक्षा पाये हुए एक ब्राह्मण थे। वह ईस्ट इंडिया कंपनी में काम करते थे। नौकरी में काफी उन्नति भी हुई थी। अंग्रेजों के सम्पर्क मे आने के कारण पश्चिमी चिन्तन-जगत के नवजागरण के तथ्य से भी उनका परिचय हो गया था। उन्होने देखा, भारतवर्ष से मुसलिम शासकों के हटते ही जीवन के हर क्षेत्र मे अधःपतन की कराल छाया फैल गयी है। बंगाल जो कभी वैष्णव धर्म का पीठस्थान था वहाँ तान्त्रिक और वैष्णव-संप्रदाय के चेलो के अविर्भाव

के कारण अनाचार और कुसंस्कार की समाज के हृदय में गहरी पैठ हो गयी है। मिशनरीवाले ईसा मसीह की जिस वाणी का प्रचार-प्रसार करते थे राममोहन राय उसमें भी सत्य की खोज करने लगे। वह ईसाई धर्म को पूरी तरह समझने के लिए हिब्रू और ग्रीक भाषा का अध्ययन करने लगे। सब कुछ पढ़ लेने के बाद उन्होंने ईसा को त्याग दिया। लेकिन यह भी महसूस किया कि पश्चिमी चिन्तन में मनुष्य को जानने की जो नयी पद्धति है, उसमें सच्चाई निहित है। उसे स्वीकार करने में उन्हें दुविधा का अनुभव नहीं हुआ। उस समय उन्होंने नयी पुस्तक की रचना की—

'द परसेप्ट्स आफ् जीसस', 'द गाइड टु पीस एण्ड हैपिनेस'।

इसी समय ब्राह्म समाज की स्थापना हुई।

हिन्दू धर्म का नये सिरे से सस्कार करने के बाद ब्राह्म समाज की स्थापना हुई। दूसरे शब्दों में इसे यों भी कहा जा सकता है कि अठारहवीं शताब्दी के पाश्चात्य जगत की नवीन चिन्तनधारा से उपनिषद् के दार्शनिक तत्त्वों का समन्वय करने के बाद ही ब्राह्मसमाज का सूत्रपात हुआ।

अर्थात् १८२८ ई० से ही पाश्चात्य और प्राच्य का राखी-बन्धन पूरे तौर पर शुरू हो गया। इसके बाद से मिशनरियों के कुटिल प्रचार का कोई नतीजा नहीं निकला। शिक्षितवर्ग के लिए धर्म-परिवर्तन की भी कोई आवश्यकता नहीं रह गयी। ब्राह्म समाज ने सबके लिए अपना दरवाजा खोल दिया। राममोहन राय के सम्बन्ध में इसीलिए कहा गया है—*"He embodies the new spirit, its freedom of enquiry, its thirst for science,its large human sympathy, its pure and sifted ethics along with its reverent but not uncritical regard for the past and prudent disinclination towards revolt."

इसके बाद और एक ओर से आन्दोलन के लिए ईंधन की व्यवस्था होने लगी। १८३५ ई० में इंडिया गवर्नमेन्ट ने भारतवासियों को अँग्रेजी विज्ञान की शिक्षा देने का फैसला किया। लार्ड मेकाले तथा दूसरे बहुत से लोगों की मनोगत इच्छा थी कि अँग्रेजी की शिक्षा देने से हिन्दुस्तान से हिन्दू धर्म लुप्त हो जायगा। और सभी लोग ईसाई धर्म ग्रहण कर लेंगे। मिशनरी वालों की भी यही धारणा थी। वे लोग भी स्कूल-कॉलेज की स्थापना करने लगे। उन स्कूल-कॉलेजों में बाइबिल की पढ़ाई अनिवार्य थी। लेकिन आश्चर्य की बात है कि अँग्रेजी शिक्षा से ईसाई धर्म ग्रहण करने की बात तो दूर, उलटे हिन्दू धर्म की भित्ति और भी मजबूत हो गयी।

* वह नैतिक प्रवृत्ति, उसकी स्वतंत्र जिज्ञासा, विज्ञान की पिपासा, मानवीय संवेदना, विशुद्ध और परीक्षित सदाचार के साथ-साथ अतीत के विनीत परन्तु समीक्षात्मक सम्मान तथा क्रान्ति के प्रति जागरूक विमुखता को साकार रूप देते हैं।

हिन्दुस्तान में यद्यपि हिन्दू धर्म की बहुत सी शाखा-प्रशाखाएँ थीं, लेकिन असल में सबकी मूल भित्ति वेदान्त था। ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् और गीता—इन तीनो पथ वेदान्त की शिक्षा अवलंबित है। आचार्य शंकर ने इसी वेदान्त की व्याख्या करते हुए अठारहवीं शताब्दी मे उसकी टीका लिखी थी। राममोहन राय ने वेदान्त और उपनिषद् को ही अपने नये धर्ममत् के प्रचार के समय अस्त्र के रूप मे प्रयोग मे लियो था। दरअसल उस समय हिन्दुस्तान के लिए किसी संप्रदाय की अनिवार्यता नहीं रह गयी थी। एक ऐसे धर्ममत की आवश्यकता थी जिसे अधम से अधम जनसाधारण भी निर्भय होकर ग्रहण कर सके। पंजाब के स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इसी समस्या का समाधान खोज निकाला। उन्होने देखा, मुसलमानों के पास कुरान है, ईसाइयों के पास बाइबिल है। इसी उद्देश्य से उन्होंने हिन्दुओ के लिए 'सत्यार्थ प्रकाश' नामक पुस्तक का प्रणयन किया। उन्होने एक नये समाज की स्थापना की। उसका नाम रखा आर्यसमाज। लेकिन इस प्रतिष्ठान का उद्देश्य चूंकि ईसाई और इस्लाम धर्म से हिन्दू धर्म की रक्षा करना था, इसलिए पंजाब के बाहर इस आन्दोलन का कोई अस्तित्व स्वीकार नहीं किया गया।

एक ओर राममोहन राय का नवीन धर्ममत और दूसरी ओर अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार और उनके साथ नये-नये धार्मिक आन्दोलनों की तरंग, इन सारी चीजो ने मिल कर उन्नीसवीं शताब्दी के हिन्दुस्तान को समृद्धि प्रदान की। ठीक इसी समय दुनिया मे थियोसोफिकल सोसाइटी का प्रवर्त्तन हुआ। अमरीका और रूस में इसकी स्थापना पहले ही हो चुकी थी। हिन्दुस्तान मे इसका प्रवर्तन मिसेस एनीबेसेन्ट ने किया। एनीबेसेन्ट ने अपने प्रचार का मूलाधार वेदान्त को बनाया।

उसके बाद स्वामी विवेकानन्द का आविर्भाव हुआ।

स्वामी विवेकानन्द ने अमरीका और इंगलैंड मे रहने के दौरान हिन्दुओं मे नये सिरे से प्राण फूंकने की चेष्टा की थी। वह भी वेदान्त के प्रचारक थे। वह कहा करते थे—जो धर्म विधवाओं की आँख के आँसू पोछ नहीं सकता, या भूखों को अन्न नहीं दे सकता, मैं वैसे धर्म पर विश्वास नही करता।"

एक बार स्वामीजी से पूछा गया था—What do you consider to be the function of your movement as regards India ?[1]

उन्होंने उत्तर दिया था—To find the common basis of Hinduism and to awaken the national consciousness to them.[2]

हिन्दुस्तान के समाज में जाति भेद सामूहिक परिवार और उत्तराधिकार—ये तीन मूल प्रसग हैं। इन तीनो प्रसंगो से जुड़ कर और छोटी-मोटी प्रथाएँ भी चल पड़ी

१, भारत में अपके आन्दोलन का स्वरूप क्या होगा ?

२, हिन्दू धर्म के लिए सामूहिक आधार की खोज और उसके बीच राष्ट्रीय चेतना का जागरण।

है। लेकिन वास्तव मे इनमे धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है। सम्बन्ध कुछ है तो वह कानून का ही है। लेकिन हिन्दू कानून अचल है। आवश्यकता के लिए जिस कानून का निर्माण होता है आवश्यकता-पूर्त्ति के बाद उसे रद्द भी कर देना जरूरी है। लेकिन दुख की बात है कि वैसा नहीं हुआ। इसीलिए स्वामी विवेकानन्द ने कहा था—Beginning from Buddha down to Ram Mohan Roy, everybody made the mistake of holding caste as a religious institution. But inspite of all the ravings of the priests, caste is simply a crystalised social institution, which after doing its service is now filling the atmosphere of India with stink.[1]

हर युग में हिन्दुओं के इस कानून मे परिवर्तन लाने की बहुत चेष्टा की गयी है। लेकिन मुसलिम शासन-काल मे किसी प्रकार की विधान परिषद् न रहने के कारण वह चेष्टा फलप्रद नहीं हो सकी थी। जो भी चेष्टा होती थी वह या तो सामयिक या फिर स्थानीय होकर ही रह जाती थी। उसका बृहत् हिन्दू-समाज पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। नतीजा यह हुआ कि समाज मे अलगाव आ गया और समाज का एकता सूत्र छिन्न-भिन्न हो गया। फलस्वरूप अँग्रेज वणिकों के समक्ष हिन्दुस्तान को इतनी आसानी सी पराधीनता स्वीकार कर लेनी पड़ी।

'बेगम मेरी विश्वास' मे मैंने इसी तथ्य को खोज करने की चेष्टा की है।

दरअसल रवीन्द्रनाथ ने जब १८६१ ई० में जन्म लिया था, उस समय उसकी यही संक्षिप्त भूमिका थी। इसी भूमिका पर रवीन्द्र साहित्य ने अपने रस का संचय किया है। रवीन्द्रनाथ और रवीन्द्र-साहित्य को समझने के लिए हिन्दुस्तान के तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक स्थिति को भी हृदयंगम करना आवश्यक है। उनके जन्म के मात्र चार वर्ष पूर्व सिपाही-विद्रोह हो चुका था। उसकी विफलता का उस समय भी प्रभाव था। भारतीय सेना और भारतीय रुपये को उपयोग में लाकर अँग्रेज १११ लड़ाई छेड़ कर पूरे भारत पर अपना कब्जा जमा चुके थे। देश-भर में उन्होंने रेलवे लाइन की स्थापना कर दी, कारखाने खोले, स्कूलों का निर्माण किया। सतीदाह पर प्रतिबन्ध लगा दिया। इसके अलावा भी बहुत कुछ किया। लेकिन बहुत कुछ करने के बावजूद बहुत कुछ करना बाकी रह गया था। और जो बाकी रह गया था उसकी पूर्ति रवीन्द्रनाथ के आविर्भाव से हुई। इसीलिए रवीन्द्र-नाथ के आविर्भाव को उस युग के सब कुछ के उन्नयन का समन्वय कहा जा सकता है। अकेले रवीन्द्रनाथ को ही अगर समझ लिया जाये तो उन्नीसवीं शताब्दी का सम्पूर्ण

१. गौतम बुद्ध से शुरू कर राममोहन राय तक हर व्यक्ति ने जातीयता को एक धार्मिक संस्था मानने की गलती की। लेकिन पुरोहितों के तमाम प्रलाप के बावजूद जातीयता स्वभावतया एक स्फटित सत्य है जो अपने कर्तव्य के संपादन के पश्चात् भारत की आबोहवा को दुर्गन्ध से भर रही है।

युग समझ में आ जायेगा। रवीन्द्रनाथ के जन्म के आठ वर्ष बाद महात्मा गांधी का जन्म हुआ। ढाई हजार वर्ष पूर्व गौतम बुद्ध के जन्म की तिथि से शुरू कर १९६९ ई० महात्मा गांधी के जन्म तक का जो भी उत्थान-पतन का इतिहास रहा है, उसका रवीन्द्र साहित्य में पूर्ण विवरण मिल जाता है। और सिर्फ विवरण नहीं मिलता बल्कि आगामी इतिहास को भी संजीवित करने के लिए उनका साहित्य पर्याप्त महत्व रखता है। वाल्तेयर के बारे में फ्रांस में जो कुछ कहा गया है, रवीन्द्रनाथ के सम्बन्ध में भी वही कहा जा सकता है। आज हिन्दुस्तान की सर्वतोमुखी दुर्दशा के दिनों में भी सारे लोग मिथ्यावादी, चोर, अत्याचारी और स्वार्थी जो नहीं हुए हैं, आज भी हमारे बीच जो दो-चार ईमानदार, सत्यवादी और निःस्वार्थ मनुष्य बचे हुए हैं, उसका श्रेय मुख्यतः गौतम बुद्ध की साधना, महात्मा गांधी के जीवन और रवीन्द्रनाथ के साहित्य को है।

रवीन्द्रनाथ को समझने के लिए इसी वजह से यह भूमिका अपरिहार्य है।

कहानी और साहित्य

[कहानी और साहित्य शीर्षक निबन्ध एपार बांगला नामक पत्रिका के प्रथम अंक में बंगाब्द १३७६, पौषमास में प्रकाशित हुआ था। विमल मित्र के विरुद्ध निन्दकवर्गों ने जो अभियान चलाया है, प्रस्तुत निबन्ध उसका उत्तर है निबन्ध के हर वाक्य में सरस श्लेष और तीखे व्यंग्य का ऐसा पुट है जो अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।—अनुवादक]

शुरू-शुरू जब मैंने लिखना शुरू किया तो तरह-तरह के आदमी बड़प्पन की भंगिमा मे तरह-तरह की बात कहने लगे।

किसी ने कहा, "रचना कोई बुरी नहीं है। तब हाँ, लिखते जाओ तभी कलम मँजेगी।"

किसी दूसरे ने कहा, "अभी मत लिखो, लिखना बन्द कर दो। पहले अध्ययन करो। अध्ययन ही लिखने का तौर-तरीका सीखने का एकमात्र उपाय है।"

उन्हें मालूम नहीं था कि जहाँ तक लिखने-पढ़ने की बात है, इस मामले मे मैं अकाल परिपक्व हूँ। बाहर से हालाँकि किसी को पता नहीं चलता है मगर मैं रात मे जग कर यह काम कर लेता हूँ।

विभिन्न बड़बोलों से साहित्य के सम्बन्ध मे मैं इतनी उलटी-पुलटी बातें सुन चुका हूँ कि उनके प्रति मेरे मन मे घृणा उत्पन्न हो गयी है। खास कर 'बंगला साहित्य का इतिहास' नामक जो सब चीजें बाजार मे चालू हैं, वे कितने अखाद्य तथा छात्र-छात्राओ के लिए कितने दुष्पाच्य हैं, इसका पता कई दिनों के दरमियान ही चल गया। उसके बाद इन सब चीजों से मैं दूर ही रहने लगा और वह इसलिए कि कहीं ये संक्रामक रोग की तरह मेरे अन्दर जहर न फैलाने लगें।

उसके बाद मैं उम्रदार हुआ। समझ मे आया कि इतने दिनो तक मैंने कालेज के मास्टरों से जो कुछ सीखा है वह गलत है। उसी समय से मैं स्वतन्त्र रूप मे लिखाई-पढ़ाई का कार्य करने लगा।

जब मैं मध्यवयस्क हुआ तो एक व्यक्ति ने कहा, "बहुत ज्यादा किस्सागोई हो जाती है, जरा तत्व भर दिया करो। वरना कहानीकार हो जाओगे, साहित्यकार नहीं हो सकोगे।"

एक और दूसरे व्यक्ति ने कहा, "तुम्हारी कहानी मे एक यही दोष है कि उसमे तत्व बहुत अधिक रहता है। किस्सागोई रहनी चाहिए। कहानी ही साहित्य है।"

एक तथाकथित साहित्यकार ने कहा, "तुम्हारी स्टाइल बहुत ही 'फ्लॉवरी' है, अब तुम 'स्टैकैटो' स्टाइल लिखने की चेष्टा कर सकते हो।"

एक दूसरे व्यक्ति ने कहा, "तुम्हारी कहानी बहुत ही खींचती है, इतना खिंचाव रहना क्या अच्छा है? लेखन को जरा 'डल' बना दो ताकि पढ़ने पर थोड़ी-बहुत

माथापच्ची करनी पड़े। जिस कहानी को पढ़ कर माथापच्ची न करनी पड़े उसकी कीमत ही क्या है ?"

उसके ठीक आधा घण्टे बाद एक आदमी ने आकर कहा, "तुम्हारे लेखन में एक ही दोष है।"

"क्या ?" मैंने पूछा।

बोले, "तुम्हारी कहानी पढ़ते समय बहुत अधिक माथापच्ची करनी पड़ती है। उस तरह का लेखन 'ट्रैश' है। साहित्य की सबसे बड़ी बात यही है कि "लूसिडिटी, लूसिड सबसे अच्छी या 'बेस्ट' स्टाइल है।

एक दिन एक व्यक्ति ने आकर कहा, "तुम्हारे लेखन पर समरसेट मॉम का बड़ा ही प्रभाव है। तुम क्या यह कहना चाहते हो कि समरसेट मॉम बहुत बड़े लेखक थे ? तालस्तॉय, डिकेन्स और बालजाक को पढ़ो।"

उसके ठीक आधा घण्टे बाद एक व्यक्ति ने आकर कहा, "लगता है तुम तालस्तॉय को पढ़ते हो।"

मैंने कहा, "हाँ; क्यों बात क्या है ?

उन्होंने कहा, "मेरी धारणा बिलकुल सही निकली। तुम्हारे लेखन पर तालस्तॉय, डिकेन्स का बहुत बड़ा प्रभाव है। उनलोगों के प्रभाव से छुटकारा पाने की कोशिश करो। वे लोग पुराने जमाने के थे। पढ़ना है तो समरसेट मॉम को पढ़ो, कैमू और हैरल्ड रॉबिन्स को पढ़ो।"

इसी तरह के बहुत सारे उदाहरण हैं।

बड़बोलों की संख्या सम्भवतः दिन-दिन बढ़ती ही जा रही है। इस तरह के बड़-बोले सभी देशों मे हैं। विज्ञान मे यह बड़बोलापन नहीं चलता क्योंकि विज्ञान गणित पर निर्भर करता है। विज्ञान कहता है दो-दो मिलकर चार होता है। यह चार होना आसान है। लेकिन साहित्य का नियम ही दीगर है। साहित्य मे वह गणित तीन भी हो सकता है, पाँच भी हो सकता है लेकिन चार कभी नहीं हो सकता। यही वजह है कि साहित्य में मतभेद की इतनी गुंजाइश रहती है। एक व्यक्ति के लिए जो अपठनीय है, वह दूसरे के लिए अवश्य ही पठनीय होगा। किसी युग में जिसे उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता है, वही दूसरे युग मे गौरव की रचना हो जाती है। विज्ञान का सत्य चिरकालिक सत्य है परन्तु साहित्य के बाजार की दर युग के तापमान से कभी ऊपर की ओर उठती है और कभी नीचे की ओर गिरती है। ऐसा होने के बावजूद जो असली जौहरी है उसकी निगाह मे उसका मूल्य घटता-बढ़ता नहीं है। जो आदमी चीनी खाना पसन्द करता है, सामर्थ्य रहने पर वह बाजार-दर बढ़ जाने पर या घट जाने पर चीनी ही खायेगा। युग की हवा बदल जाने पर उससे ताल-मेल बिठाते हुए चलना उसका काम नहीं है। उसके लिए अच्छा लगना ही असली चीज है। बाजार की दर बाजार की दर है, उसके कारण सच्चे रस-मर्मज्ञो मे किसी प्रकार का रुचि-विकार पैदा नहीं होता।

लेकिन नीले रंग के सियार की कहानी मे जिस प्रकार सियार ने नीले रंग को ही आदर्श बताकर उसके प्रचार-प्रसार मे जी जान लगा दिया था, साहित्य के नीलवर्ण सियारो का झुण्ड भी एक विशेष वाद को आदर्शवाद कहकर चलाने की चेष्टा करता है। वे इस कुशलता के साथ इसका प्रचार करते हैं कि चालीस-पचास वर्षों तक उनका प्रचार पाठको की दुनिया मे भ्रान्ति पैदा करता रहता है।

ऐसा हर देश के साहित्य के साथ होता है।

याद है, कुछ वर्ष पहले मेरे एक शुभैषी ने शिकायत की, "आप बहुत मोटी-मोटी पुस्तक लिखते हैं।"

कुछ दिन पहले एक हिन्दीभाषी सज्जन वाराणसी से आये थे। बोले, "आप पतली पुस्तक न लिखें। मोटी पुस्तक पढ़ने से हमे संतोष मिलता है।"

यह सब बात सुनकर मुझे हँसने का मन करता है। कोई कुछ कहता है तो एक कान से सुनता हूँ और दूसरे से निकाल देता हूँ।

इन बडबोलो के अध्ययन-मनन के बारे मे भी मुझे बीच-बीच मे सन्देह होता है।

स्वामी विवेकानन्द ने एक पत्र मे एक अच्छी बात लिखी थी। भर्तृहरि भारतवर्ष के एक सम्राट के अतिरिक्त एक संन्यासी भी थे।

उन्होने लिखा है, "तुम्हे कोई धूर्त कहेगा, कोई साधु, कोई पण्डित कहेगा, कोई मूर्ख, तुम किसी बात पर ध्यान दिये बगैर अपने रास्ते पर चलते रहो। किसी से डरो नहीं।"

मैंने जब यह उपदेश पढ़ा था, उस समय मेरी उम्र बहुत कम थी। उसी समय से किसी की बात पर ध्यान न देने की मुझमे प्रवृत्ति आ गयी है। तभी से मैं झक्की हो गया हूँ। सोचा, किसी की बात नहीं मानूंगा।

इंगलैण्ड के साहित्य क्षेत्र मे भी दलबन्दी की अराजकता फैली हुई थी। ठीक वैसी ही जैसी कि आज हमारे बंगाल मे है।

उस युग मे हावर्ड स्प्रिंग नामक एक प्रतिभाशाली साहित्यकार थे। उनकी शैली अत्यन्त सहज और सरल थी। सहजिया साधना ही हमारे देश की सबसे कठिन साधना है। इसीलिए हमलोगो के कवि ने कहा है : 'सहज दिखे जो वह न सहज है।' बाइबिल, जातक या रामकृष्ण कथामृत मे सहज ढंग से कही हुई तात्विक बातें हैं। रवीन्द्रनाथ, बंकिमचन्द्र, शरतचन्द्र वगैरह सहज जीवंतशैली मे मार्मिक बातें कह गये हैं। वही आदर्श शैली है। टामस हार्डी या डिकेन्स उसी आदर्श के अनुयायी थे। उनकी देखादेखी अंग्रेजी साहित्य के कुछ लेखको ने सहज शैली मे लिखना शुरू किया। उस जमात मे प्रिस्टली, फासिस ब्रेटयंग और हावर्ड स्प्रिंग थे। इसके अलावा उनकी जमात मे गिलबर्ट कैनन, डब्लू०जे०लॉक, डब्लू०ए० जार्ज इत्यादि थे।

इन लोगों के बीच हावर्ड स्प्रिंग को ही अधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई थी। उनकी पुस्तक 'माइसन, माइसन', 'फेम इज द स्पर' तथा 'हार्ड फैक्ट्स' उन दिनो लोकप्रियता की दृष्टि से शिखर पर विराजमान थी।

लेकिन यह बात बहुतों को बरदाश्त नहीं हुई। विशेषत: उनलोगों को जो सहज-सरल शैली मे लिख नहीं पाते थे। वे लिखते थे तो उनके लेखन मे शिथिलता आ जाती थी। लोकप्रियता तो दूर की बात, पाठक उनकी पुस्तको को छूता भी नहीं था।

उस समय उन्होने मिलकर एक दल का गठन किया। साहित्य लिखने के बजाय साहित्य की राजनीति करने की ओर ही जिन लोगों का अधिक झुकाव रहता है वे ही दल का गठन करते हैं। अपनी दुर्बलता छिपाने को उनके लिए दल का संगठन करना जरूरी हो जाता है। उस तरह के ही नीलवर्ण सियारों का झुण्ड दलबन्दी कर प्रचार करने लगे कि सहजिया साधना अत्यन्त सहज साधना है, जो सहज है वह सहज ही रहता है। जीवन जटिल है तो साहित्य की शैली में भी जटिलता रहना आवश्यक है। जो उपन्यास तुम्हारे मन को आकर्षित करता है वह साहित्य की श्रेणी मे नहीं आता है। उपन्यास पढते-पढते अगर पग-पग पर रुकना पड़े तो वही महान् साहित्य है। हावर्ड स्प्रिग का लेखन अत्यन्त मधुर है, अत: वह असाहित्य है।

नीलवर्ण सियारों के झुण्ड में कोई स्कूल का टीचर था तो कोई कालेज का मास्टर और कोई विश्वविद्यालय का गुरु। वे छात्र-छात्राओं को तालीम देने लगे कि असली साहित्य वही है जो 'ब्लूम्सबरी ग्रुप' के लोगो ने लिखा है। अत: हावर्ड स्प्रिग को मत पढो, प्रिस्टली को मत पढो। वैसे लोगों को मत पढो। वे लोकप्रिय हैं। साहित्य की लोकप्रियता सन्देहजनक वस्तु है। लोकप्रिय लेखको के सम्पर्क से अपने को दूर रखो।

छात्रो ने कहा, "लेकिन सर, डिकेन्स, तालस्तॉय और बालजाक तो लोकप्रिय साहित्यकार हैं। दुनिया के तमाम लेखक अपने समय मे लोकप्रिय रहे हैं।"

कहानी के नीले रंग के सियार ने जो कहा था, बडबोले वही बात कहने लगे, "उन पुराने सिद्धान्तो को ताक पर रख दो। हम आधुनिक हैं, आधुनिक विश्व मे साहित्य की संज्ञा मे परिवर्तन आ गया है। आधुनिक साहित्य ही श्रेष्ठ साहित्य है।"

कुछ उद्धत छात्रों के उत्साह में उनके इस कथन से भी कमी नहीं आयी। उन्होने तर्क करना शुरू कर दिया, "साहित्य में प्राचीन और आधुनिक की कौन-सी बला हो सकती है सर? आज जो आधुनिक हैं कल वे ही प्राचीन हो जायेंगे।"

बडबोलो ने कहा, "हमने जो कुछ लिखा है, वही आधुनिक है और दूसरो ने जो कुछ लिखा है वही प्राचीन है। हमलोगों की रचना चिरकाल तक आधुनिक ही रहेगी।"

उद्धत छात्रगण फिर भी कहने लगे, "आप सूर्य के बारे मे क्या कहिएगा सर? समुद्र के मामले मे क्या कहिएगा? उस युग का सूर्य आधुनिक सूर्य है या उस युग का समुद्र आधुनिक सूर्य है—इस तरह की भी कोई वस्तु है?"

बड़बोलो ने इस तरह के उद्धत छात्रो का नाम और उनकी क्रमसंख्या नोट कर ली। उसके बाद समय आने पर उन्हे परीक्षा मे फेलकर साहित्य के झण्डे को फहराते हुए इत्मीनान की सांस ली। बडबोलों का बोलबाला कायम हो गया, अब उनके लिए भय की कोई बात नहीं रही।

इन धारणाओ को तब वे पत्रिकाओं की सुर्खियों में प्रकाशित कराने लगे। बंधु

संपादकों की बदौलत इस काम मे किसी असुविधा का सामना नहीं करना पड़ा।

लेकिन हावर्ड स्प्रिग जन्मजात साहित्यकार थे। दलबन्दी की कुशलता न रहने के कारण उनके विचारों से लोग भिन्न नहीं हो सके। किसी सम्पादक को रिश्वत देने की चालाकी न जानने से उनकी उपेक्षा होने लगी। साधारण पाठकों ने मान लिया कि सहज लेखन आसान काम है, उसे जड़ बनाकर लिखना ही कठिन काम है। सियार का आदर्श रंग नीला ही है—इसी झूठ को सत्य के रूप मे स्वीकार कर वे प्रसन्न हो गये।

अंग्रेजो के द्वारा सिखायी गयी यह बात विश्व के अन्यान्य स्थानों में भी धीरे-धीरे फैलने लगी। उस प्रचार की लहर हिन्दुस्तान मे भी आकर टकरायी। यहाँ भी बड़बोलो के एक दल का संगठन हुआ। बड़बोलो के फलने-फूलने के लिए बंगाली की मिट्टी बड़ी ही उर्वर है। इसके पहले भी बड़बोलो की एक जमात फल-फूल चुकी थी। उन्होंने पहले से ही कहना शुरू कर दिया था कि रचना का अच्छा होना ही उसकी एकमात्र कसौटी नहीं है, इस बात का अन्वेषण करना होगा कि रचना लाल है या नीले रंग की। रचना और हमारे घोषणापत्र में सादृश्य है या नहीं। अगर सादृश्य नहीं है तो वह नीला है और अगर है तो वह लाल है। यानी जो लाल है वही प्रगतिशील रचना है और जो नीलवर्ण है वह प्रतिक्रियावादी रचना है।

इतने दिनों तक लाल और नीले को लेकर ही झगड़ा चल रहा था। असलियत यही है कि लाल और नीले के विवेचन की क्षमता किसी मे नहीं थी। उसका विवेचन इस पर होता था कि वह किस पत्रिका मैं प्रकाशित हुई है। उस पत्रिका का मालिक अगर पूँजीवादी है तो उनकी पत्रिका मे जितनी भी रचनाएँ छपती हैं वे सब नीली हैं। और पत्रिका का मालिक अगर हमारी पार्टी का आदमी है तो उस पत्रिका में जो भी रचनाएँ छपेंगी वे लाल होंगी।

बड़बोलों का यह दल राजनीतिक कारणवश कभी सिर ऊँचा कर चलने लगता है और कभी तलघर मे समा जाता है। लेकिन अबकी बड़बोलो का एक नया दल आया। ये लोग जो तर्क पेश करते हैं वह अकाट्य होता है। पुस्तक अगर मोटी है तो उसे वे लोग 'औरतो का गावतकिया' कहते हैं और पतली है तो उसे 'मीडिओकर राइटिंग' कहते हैं। सरल शैली मे लिखी हुई रचना को 'नैम्बी-पैम्बी' (भाव-प्रवण) रचना कहते हैं और जड़ शैली में लिखी हुई रचना को इन्टलिक्ट्यूअल या बौद्धिक रचना कहते हैं। छोटी कहानी लिखने पर कहते हैं—चूंकि उपन्यास लिखने की क्षमता नहीं है इसीलिए छोटी कहानियाँ लिखता है। और उपन्यास लिखने पर कहते हैं—पहले छोटी कहानियाँ लिखकर हाथ माँज लो तभी उपन्यास लिखना। ये लोग उपन्यास को औरतों की खुराक और निबन्ध को 'फॉर एडल्ट्स' कहते हैं। लेकिन आप अगर निबन्ध लिखने लगें तो कहेंगे—अध्ययन मनन की कमी मालूम होती है।

यानी इन्हे किसी भी तरह से सन्तुष्ट नहीं किया जा सकता है। क्योंकि अगर वे संतुष्ट हो जाए तो फिर साधारण की कोटि में उतर जायेंगे और साधारण होना कोई

नहीं चाहता। यही वजह है कि इस देश में सभी इन्टलिक्ट्यूअल है।

भर्तृहरि की बात चाहे जितनी ही पुरानी क्यों न हो परन्तु इस तरह की नयी बातें कितनी हैं या कितनों ने इस तरह की बात कही है? उन्होंने ठीक ही कहा था : "कोई तुम्हें पाखण्डी कहेगा, कोई साधु, कोई मूर्ख कहेगा, कोई पण्डित। बिना किसी ओर ध्यान दिये अपने पथ पर आगे बढ़ते जाओ। किसी से डरो नहीं।" असली सत्य यही है।

हावर्ड स्प्रिंग ने संभवतः भर्तृहरि के इस कथन को पढ़ा नहीं था, इसीलिए उनका उत्साह ढीला पड़ गया था और एक ही हावर्ड स्प्रिंग क्यों, बंगाल के तमाम हावर्ड स्प्रिंगों का उत्साह ढीला पड़ गया।

इस वर्ष मैं एक दो बार कल्याणी गया था कल्याणी कलकत्ते से तीस मील दूर है। वहाँ जाने पर मैंने डॉक्टर शशधर सिंह से मुलाकात की थी। आजकल तो डॉक्टरों की कोई कमी नहीं है। परन्तु वह उस श्रेणी के डॉक्टर नहीं हैं। जो लोग उनसे परिचित हैं उन्हें मालूम है कि वह कितने अगाध रस-मर्मज्ञ हैं, साथ ही साथ उनका अध्ययन कितना विशाल है।

उन्होंने बताया, "हाल मे मेरी विलायत से 'इण्डिन इण्डिपेन्डेन्स इन पर्सपेकटिव' नामक एक पुस्तक प्रकाशित हुई है, उसमे मैंने आपके 'साहब बीबी गुलाम' से एक उद्धरण दिया है।"

मैं अवाक् हो गया। उपन्यास मे इतिहास का उद्धरण हो भी सकता है लेकिन इतिहास की पुस्तक मे उपन्यास का उद्धरण! यह तो एक अकल्पनीय घटना है।

पूछा, "पुस्तक आपको अच्छी लगी है?"

डॉक्टर सिन्हा बोले, "मुझे अच्छा लगना कोई महत्व नहीं रखता, औरतों को अच्छी लगी है।"

मैं और अधिक आश्चर्य में आ गया! कहा, "औरतों को अच्छा लगना तो 'डिसक्वालिफिकेशन' समझा जाता है।"

डॉक्टर सिन्हा को आश्चर्य हुआ। बोले, "आपसे किसने कहा?"

मैंने कहा, "हम लोगों के मुल्क मे एक वर्ग के ऐसे लोग हैं जो किसी की पुस्तक की अधिक खपत होने पर कहते हैं कि अमुक आदमी औरतों का लेखक है।"

"झूठी बात है। औरत होने से ही मूर्ख होगी और मर्द होने से ही बुद्धिमान होगा, इस बात में कोई सार नहीं। यह ईर्ष्या की बात है। यह बात बंगाली ही कहते हैं। फ्रांस मे औरतों को कोई पुस्तक अच्छी लगती है तो वह 'क्वालिफिकेशन' ही समझा जाता है।"

तब डॉक्टर सिन्हा बहुत अस्वस्थ थे। शब्द उनकी जबान पर लड़खड़ा जाते थे। लेकिन उस दिन उन्होंने जो कुछ कहा था, उसे अपनी भाषा मे बता रहा हूँ।

फ्रांसीसी साहित्य की शैली दुनिया में सर्वश्रेष्ठ शैली मानी जाती है, इस बात से किसी को मतभेद नहीं हो सकता। लेकिन फ्रांसीसी शैली के श्रेष्ठ होने का कौन-सा

कारण है ? अंग्रेजी, जर्मन, रूसी—इनमें से किसी की शैली श्रेष्ठ होने के बजाय फ्रांसीसी साहित्य की शैली श्रेष्ठ क्यों मानी गयी ? उसके पीछे एक कारण है और वह है 'सालॉन' ।

बंगाली पाठकों के लिए सालॉन शब्द नया जैसा है। इस शब्द की व्याख्या करना आवश्यक प्रतीत होता है।

चेम्बर्स डिक्शनरी मे सैलोन का अर्थ यों है—'A periodic gathering of notable persons in the house of a society queen '*

फ्रांस में शुरू से ही 'सालॉन' का अस्तित्व रहा है। समाज के धनी और शौकीन कला-प्रेमी महिलाएँ अपने-अपने घर मे 'सालॉन' रखती थीं। वे बीच-बीच में कलाकार, लेखक, कवि और साहित्यकारों को वहाँ आमन्त्रित करती थीं और उनका परिचय प्राप्त कर उनसे वार्तालाप करती थीं। उनकी कविताएँ सुनती थीं। कवि और साहित्यकार भी ऐसी रचनाएँ लिखते थे जो महिला को पसन्द आयें। वे जी-जान से इस बात की चेष्टा करते थे कि महिलाओं को उन रचनाओं से प्रसन्नता प्राप्त हो सके। महिलाओं को खुश करने की प्रचेष्टा के कारण फ्रांसीसी साहित्य में एक सहज-सरल निजी शैली शुरू से ही खड़ी हो गयी है। दुनिया में इस तरह की शैली को कहीं पनपने का मौका नहीं मिला।

असल में रवीन्द्रनाथ के तिरोधान के पश्चात् बंगला साहित्य अभिभावकहीन हो गया। ऐसी कोई भी हस्ती नहीं है जिसकी बात सब लोग सिर झुका कर स्वीकार कर लें यहाँ जितने बंगला साहित्य के अध्यापक हैं बंगला साहित्य के इतिहास की भी संख्या उतनी ही है। इतना जरूर है कि एक ग्रन्थ के विचारों से दूसरे मे कोई सादृश्य नहीं है। कौन निरा किस्सा-कहानी है और कौन साहित्य—इस तरह की समझदारी वाला कोई समालोचक भी नहीं है। अँग्रेजी साहित्य का दुर्भाग्य रहा है कि डॉक्टर लेविस और एडमण्ड विल्सन जैसे लोग समालोचना के क्षेत्र मे आये थे। इन दो में से पहला व्यक्ति उपन्यास लिखने की कोशिश मे जब विफल हो गया तो समालोचना के क्षेत्र मे उतर आया। जितने भी लोग सार्थक साहित्य की रचना कर लोकप्रिय हो गये हैं उन्हें धराशायी कर यशस्वी बनने की इन्होंने चेष्टा की थी।

यदि अच्छी तरह खोज-पड़ताल की जाये तो देखने मे आयेगा कि प्रत्येक समालोचक डॉक्टर लेविस की तरह अपने प्रारंभिक जीवन मे यशोलिप्सु उपन्यासकार था। दो-चार उपन्यास लिखने के बाद जब उसे नाकामयाबी हासिल हुई तो अपने असली रूप को ढँक कर वह व्याघ्रचर्मावृत हो गया और समालोचक बन साहित्य-क्षेत्र में उतर आया। कोई कुछ अच्छा लिखता है तो ऐसे लोग रुष्ट हो जाते हैं। किसी को ख्याति प्राप्त होती है तो वे परशु धारण कर लेते हैं। ऐसे ही लोगों से तंग आकर थामस हार्डी शहर छोड़ गाँव चले गये थे। इन्हीं लोगों से तंग आकर उन्होंने अपने

* किसी समाज नेत्री के घर पर प्रसिद्ध व्यक्तियों का जमाव।

जीवन के बाकी तीस वर्षों के दरमियान कलम नहीं पकड़ी थी।

इसी प्रकार के एक देशी समालोचक से मैंने एक बार पूछा था, "अच्छा, यह तो बताइए कि कहानी और साहित्य मे क्या अन्तर है?"

उन्होंने कहा था, "नाबालिग लोगों के लिए जो पठनीय है वह कहानी है, और जो बालिग लोगों के लिए पठनीय है वह साहित्य है।"

मैंने कहा, "व्याख्या करके बताइए।"

वह इसकी व्याख्या नहीं कर सके। मैंने कहा, "नाबालिग और बालिग का आप क्या मतलब लगाते हैं?"

उन्होंने कहा, "जिनकी उम्र कम है वे नाबालिग हैं और जिनकी उम्र ज्यादा है वे बालिग हैं।"

साहित्य का बोध उम्र पर निर्भर नहीं करता, यह साधारण सी बात भी वह नहीं जानते हैं। हालांकि साहित्यिक सभा की अध्यक्षता करना उनका रोजमर्रा का काम है।

मैंने कहा, "आपको मालूम नहीं है तो मुझसे सीख लें। कहानी 'मेकिनिकल मिक्सचर' है और साहित्य 'केमिकल कम्पाउण्ड'।"

भले आदमी अवाक् हो गये। कहा, "इसका मतलब?"

मैंने कहा, "इसका मतलब यह है कि आप अगर धूल और रेत को एक में मिला दें तो वे धूल और रेत ही रह जायेंगे। यह है मेकेनिकल मिक्सचर। और यदि आप हाइड्रोजन और ऑक्सिजन को मिला दें तो इसके फलस्वरूप एक तीसरी वस्तु होगी, जिसका नाम है पानी। केमिकल कम्पाउण्ड यही चीज है। साहित्य की दृष्टि से पहली वस्तु किस्सा-कहानी है और दूसरी वस्तु साहित्य है।"

समालोचक जी को फिर भी बात समझ में नहीं आयी।

मैंने कहा, "एक उदाहरण देकर इस बात को स्पष्ट कर देता हूँ। आपने तॉल-स्तॉय का 'वार एण्ड पीस' तो पढ़ा होगा?

"हाँ।" उनका उत्तर था।

"वह दुनिया मे साहित्य के रूप में विख्यात है न?"

"हाँ।"

"लेकिन यह तो बताइए कि साहित्य के रूप मे विख्यात क्यों है?"

वह सज्जन कुछ उत्तर नहीं दे सके।

मैंने कहा, "आप नहीं जानते हैं तो मुझसे सीख लीजिये। 'वार एण्ड पीस' उपन्यास मे चार परिवारों की कहानी है। मनुष्य से मनुष्य के रिश्ते के बारे में उस पुस्तक मे शाखा-प्रशाखा सम्वलित जो कहानी निर्मित हुई है वह जितनी ही कौतूहलप्रद है उतनी ही उपादेय। केवल इतना ही यदि इस पुस्तक का मूलधन होता तो उसे मैं महान् साहित्य नहीं कहता। लेकिन ऐसी बात नहीं है। आदमी से आदमी के रिश्ते का जो घात-प्रतिघात है उससे एक तीसरी वस्तु का उद्‌भव हुआ है। यह

तीसरी वस्तु एक महान् तत्व है और तत्व यह है कि नेपोलियन ने इतिहास नहीं गढा था था। इतिहास ने अपनी आवश्यकता के लिए नेपोलियन का निर्माण किया था। चूंकि इस तथ्य का उद्घाटन हुआ है इसीलिए 'वार एण्ड पीस' एक महान् उपन्यास के रूप मे रेखांकित किया जाता है। शरतचन्द्र के 'देवदास' के साथ भी यही बात है। जो लोग 'देवदास' को कहानी के रूप पढेंगे उन्हें कहानी का रस पूर्ण मात्रा मे प्राप्त होगा। लेकिन शरतचन्द्र चाहे जो कहे, देवदास का साहित्य की श्रेणी में अन्तर्मुक्त होने के पीछे इसी तथ्य का हाथ है। वह तथ्य क्या है? यह कि महान् प्रेम केवल निकट ही नहीं खीचता, बल्कि दूर भी ठेल देता है। 'देवदास' उपन्यास पढने के बाद यदि इस तथ्य का उद्घाटन न होता तो वह निरा कहानी ही रह जाता, साहित्य नही बन पाता।

सज्जन मेरी बात सुनते रहे। लेकिन उनकी समझ मे आयी या नहीं, इसका पता नहीं चला। वह चले गये।

अपने निबन्ध को मैं यही समाप्त कर देता तो अच्छा होता। साहित्य के सम्बन्ध मे यह निबन्ध उपयोगी नहीं माना जाता। लेकिन वैसा होने से फिर यह समालोचना की समालोचना नहीं हो पाता। आज की बंगला साहित्य की समालोचना किस स्तर पर उतर आयी है इसका प्रमाण देना नहीं हो पाता।

अब मैं उसी का प्रमाण दे रहा हूँ।

अचानक उस दिन एक पत्रिका पर नजर पड़ी। पन्ना उलटते-उलटते एक जगह आकर ठिठक कर खड़ा हो गया। उस दिन के समालोचक महोदय का एक निबंध उसमे प्रकाशित हुआ था। नजर पडते ही मैंने पढना शुरू कर दिया।

उन्होने एक जगह मुझसे ही सीखे हुए शब्दो का उपयोग करते हुए मेरे खिलाफ लिखा था : "चाहे कहानी हो चाहे साहित्य, इस सम्बन्ध में बहुत से लोग अँधेरे में ही हैं। कहानी एक उपादेय किस्सा के अलावा कुछ और नहीं होती। कहानी कहानी से ऊपर उठकर एक तीसरी वस्तु का संकेत नहीं करती है इसीलिए वह निरी कहानी ही है। उदाहरण के तौर पर धूल और रेत मिलाकर जिस पदार्थ की सृष्टि करती है वह धूल और रेत के अलावा कुछ नहीं होता। उसे मेकेनिकल मिक्सचर कहते हैं, लेकिन कुछ ऐसी वस्तुएँ भी हैं जिन्हें परस्पर मिला देने से एक तीसरी वस्तु का उद्घाटन होता है। मसलन हाइड्रोजन और ऑक्सिजन को मिलाने से वह न तो हाइड्रोजन रह जाता है और न ही ऑक्सिजन। दोनों चीजे मिलकर पानी हो जाती है। कहानी मे इस तृतीय वस्तु का होना ही साहित्य है। नेपोलियन ने इतिहास नहीं गढा था, इतिहास ने ही अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए नेपोलियन का निर्माण किया था। इस तथ्य के उद्घाटन के कारण ही तॉलस्तॉय का 'वार एण्ड पीस' साहित्य की श्रेणी में आ गया है। उसी तरह महान् प्रेम न केवल निकटता आकर्षित करता है बल्कि दूर भी ठेल

देता है—इस तथ्य के उद्‌घाटन के फलस्वरूप ही शरतचन्द्र का 'देवदास' साहित्य की कोटि मे आ जाता है। इस परिप्रेक्ष्य मे विमल मित्र मात्र एक कहानीकार हैं, क्योंकि उनकी कहानी कहानी की सीमा लाँघकर किसी तीसरी वस्तु का सृजन नहीं करती और न किसी ध्रुव की ओर ही संकेत करती है और यही वजह है कि उनकी उपन्यास नामधारी रचनाएँ निरी कहानियाँ हैं, साहित्य नहीं…"

इसीलिए मैंने कहा था कि डॉक्टर लेविस और एडमण्ड विल्सन जैसे बड़बोले सिर्फ इंगलैण्ड में ही नहीं हैं, यहाँ भी हर रोज दर्जनों पैदा हो रहे हैं।

•

परिशिष्ट

[बंगाल के बाहर दूसरे-दूसरे प्रदेश और बंग भाषेतर विभिन्न पत्र-पत्रिका जैसे, अंग्रेजी, मलयालम, उर्दू और हिन्दी में विमल मित्र का साक्षात्कार प्रकाशित हो चुका है। उन पत्र पत्रिकाओं में 'नागपुर टाइम्स'—नागपुर, 'सारिका'—बबई, 'जनयुगम'—केरल, 'मलयालाराज्यम्'—केरल, 'नुक्रश'—लाहौर, 'सर्चलाइट'—पटना और 'सरिता'—नई दिल्ली, विशेष उल्लेखनीय हैं। प्रस्तुत साक्षात्कार बांगला देश की 'मोहाना' नामक पत्रिका, जिसका प्रकाशन अब बन्द हो गया है, के शारदीय अंक में बंगाब्द १३७३ में प्रकाशित हुआ था।—अनुवादक]

बंगला साहित्य के लोकप्रिय उपन्यासकार की हैसियत से गौरव के शिखर पर पहुँचने का सौभाग्य जिन मुट्ठी भर साहित्यकारों को प्राप्त हुआ है, विमल मित्र उनके बीच विशेष रूप से प्रख्यात हैं। प्रायः सभी श्रेणी के साहित्य-मर्मज्ञों के लिये विमल मित्र एक बहुत ही प्रिय नाम है। उपन्यासकार के रूप मे बगला साहित्य को उनका अवदान साधारण नहीं है, यह बात हर पाठक वेहिचक स्वीकार करेगा। मुझे यह कहने मे कोई दुविधा नहीं हो रही है कि विमल मित्र ने वक्तव्य और चिन्तन के क्षेत्र मे रेखांकित होने के लिए कतिपय अद्वितीय साहित्य-कर्म किये हैं। जनप्रियता की दृष्टि से भी उन्हे असाधारण सफलता प्राप्त हुई है। बिमल बाबू को यह सफलता उनके सृजन के माध्यम से प्राप्त हुई है।

बंगला साहित्य के विशिष्ट लेखक विमल मित्र का परिचय देना कोई खासियत नहीं रखता; क्योंकि उनका नाम पाठकों के हृदय में एक अमिट रेखा की तरह वर्तमान है। मैंने जब उनसे पूछा कि साहित्य का मूल उद्देश्य क्या है तो उन्होंने बताया कि कहानी लिखना ही साहित्य का उद्देश्य है, क्योंकि कहानी ही साहित्य है। उदाहरण के रूप मे जातक की कहानी, ईसप फेबल इत्यादि का नाम लिया जा सकता है। तब हाँ, यह बात यहीं समाप्त नहीं होती। क्योंकि कहानी के ऊपर भी एक वस्तु है जिसका उल्लेख मैंने 'खरीदी कौड़ियों के मोल' की भूमिका मे किया है। जो कहानी जीवन को नया जीवन देती है, जो काल से कालातीत की सीमा मे पहुँचकर अमर हो जाती है, उसे ही मैं वास्तविक कहानी मानता हूँ।

सिद्धार्थ भौमिक : आप क्यों और किस चीज के तकाजे से लिखते हैं?

विमल मित्र : मैं अपनी गरज से लिखता हूँ। यानी आत्माभिव्यक्ति के तकाजे से स्वयं को समग्र रूप मे व्यक्त करने की आवश्यकता से। फूल जिस तरह अपनी गरज से खिलता है उसी तरह साहित्य का भी कलाकार के मन के तकाजे से ही सृजन होता है।

सिद्धार्थ भौमिक : कला की प्रेरणा का स्रोत बुद्धिजात है या हृदयजात ?

विमल मित्र : हृदय और बुद्धि के समन्वय से ही उत्कृष्ट साहित्य का सृजन होता है। इनमें से किसी एक को छोड़ा नहीं जा सकता है। साहित्य क्षेत्र मे दोनों को साथ

लेकर आगे बढ़ना पड़ता है। मनुष्य 'रैशनल' प्राणी है, अतः उसमें बुद्धि और हृदय का वास होगा ही। तब हाँ, साहित्यकार के मामले में समता का कुछ हेर-फेर हो सकता है लेकिन विचार और बुद्धि के परे भी एक विश्व है। जमीन पर पैर गाड़कर जो आदमी अपनी रचना मे उस ध्रुव का संकेत दे सके वही महान् साहित्यस्रष्टा है। जो साहित्य उस स्तर पर पहुँच जाता है, वही महान् साहित्य है।

सिद्धार्थ भौमिक : युग-यातना शब्द को आप किस रूप मे व्याख्यायित करेंगे ?

विमल मित्र : 'युग-यातना शब्द का न तो मैं उच्चारण करता हूँ और न ही करूँगा। यह शब्द अब नारे में बदल गया है। कोई शब्द जब नारे का रूप ले लेता है तो उसकी कोई कीमत नहीं रह जाती।

सिद्धार्थ भौमिक : साहित्य के यथार्थ और जीवन की चेतना के बारे मे आपकी क्या धारणा है ?

विमल मित्र : मैं इस प्रश्न का भी उत्तर नहीं दूँगा। क्योंकि मुझे ये सवालात बिलकुल घटिया जैसे लगते हैं। कॉलेज के मास्टरों को इस संबंध मे माथापच्ची करने दीजिये। क्योंकि उन्हें छात्रों को पढ़ाना पड़ता है। मैं किसी को उपदेश या ज्ञान देने को पुस्तक नहीं लिखता। यह काम कॉलेज के मास्टरों का है।

सेन्टिमेन्टल साहित्य नामक किसी चीज को आप मानते हैं ?

विमल मित्र : साहित्य के संबंध में मैं दो ही बातें मानता हूँ—एक साहित्य और दूसरा असाहित्य। इसके अलावा किसी और श्रेणी को मैं नहीं मानता। अतः इस प्रश्न का इससे अधिक और कुछ उत्तर नहीं हो सकता।

सिद्धार्थ भौमिक : जन-मनोरंजन की माँग आपके साहित्यिक विचारों को प्रभावित करती है ?

विमल मित्र : अपना मनोरंजन हो तो जनता का भी मनोरंजन हो जायेगा। जिस तरह कि आत्मरूप के दर्शन से ही विश्वरूप के दर्शन हो जाते हैं। राम प्रसाद ने अपने मन की क्षुधा शान्त करने के लिए गीत रचे थे। इसी वजह से उस टेलीफोन रेडियो और समाचार-पत्रहीन युग में भी उनके गीत हालीशहर से हाइलाकान्दी तक के लोगों का मनोरंजन करने में सफल हुए थे।

सिद्धार्थ भौमिक : आपने 'गुलमोहर' उपन्यास की रचना आत्म-मनोरंजन के उद्देश्य से ही की थी ?

विमल मित्र : तुम्हारे इस प्रश्न का उत्तर 'गुलमोहर' उपन्यास की भूमिका मे हो लिखा है। उसमें मैंने बताया है कि 'गुलमोहर' मैंने क्यों लिखा है ? आवश्यकता के कारण रवीन्द्रनाथ को भी पाठ्य पुस्तक लिखनी पड़ी थी। साहित्यकारों को भी बंधुत्व के नाते या किसी की भलाई करने के लिए बहुत कुछ लिखना पड़ता है। इसे मैं एक सामाजिक कर्तव्य मानता हूँ।

सिद्धार्थ भौमिक : बेगम मेरी विश्वास, साहब बीबी गुलाम, खरीदी कौड़ियों के मोल तथा इकाई दहाई सैकड़ा—इन चार विशाल उपन्यासों को लिखने की आवश्यकता

आपने क्यों महसूस की ?

विमल मित्र : बंकिमचन्द्र के बाद ही उस तरह के उपन्यास-लेखन की परंपरा समाप्त हो गयी। बंगला साहित्य में बंकमीय उकन्यास लिखने की एक विशेष परंपरा थी जिसे एपिकधर्मी उपन्यास के रूप में आख्यायित किया जाता था। बंकिमचन्द्र के पश्चात् वह परंपरा जीवित्त नहीं रही। एपिकधर्मी बंगला उपन्यास-लेखन के संबंध में बंगला साहित्य में एक चुप्पी छा गयी। हालांकि इंगलैण्ड या रूस में एपिकधर्मी साहित्य का सृजन अब भी होता है। बंगला साहित्य में एपिकधर्मी उपन्यासों का अभाव रहने के कारण ही मैंने इन चारो उपन्यासो की रचना की है। इन चारो उपन्यासो में मैंने दो शताब्दियों को पकड़ने की चेष्टा की है। अंग्रेजी में इस किस्म के उपन्यासों की रचना गाल्सवर्दी ने की है और रूस मे शोलोखोव ने। मैंने अच्छा किया है या बुरा, इसका विवेचन वही करेगा जो १९९० ई० में बगला साहित्य का इतिहास लिखेगा।

सिद्धार्थ मौमिक : ऐतिहासिक उपन्यास के संबंध में आपकी क्या धारणा है ?

विमल मित्र : अतीत पर लिखने से ही कोई ऐतिहासिक उपन्यास नहीं हो जाता। १९६६ ई० के बारे में भी प्रतिक्रियावादी उपन्यास लिखा जा सकता है, उसी तरह मोहनजोदड़ो के बारे मे आधुनिक उपन्यास लिखा जा सकता है। मसलन हावर्ड फास्ट का 'स्पाटाकस' जिसकी विषयवस्तु ईसापूर्व सातवीं शताब्दी है, तॉलस्तॉय का वार एण्ड पीस जिसकी रचना नेपोलियन के युद्ध के समय को आधार बनाकर की गयी है, डिकेन्स का 'टेल आफ टु सिटीज' जिसका उपजीव्य फ्रांसीसी विद्रोह है और बंकिमचन्द्र का 'आनन्दमठ' जिसमे संन्यासी-विद्रोह की बात है—आधुनिक उपन्यास की श्रेणी में आते हैं। इनमें से कोई जन-संतोष के लिए नहीं लिखा गया है या लेखक की पलायनवादी मनोवृत्ति का इनमे कहीं कोई परिचय नहीं मिलता है। अतीत का पर्यवेक्षण करना इसलिए जरूरी है कि इससे हम यह धारणा बना सकेंगे कि कितना आगे बढ़े हैं या पीछे हटे हैं। अपने उपन्यासों को मैं किसी रूप मे रेखांकित नहीं करता। मसलन आदमी बाहर से काला है या गोरा, इसकी कोई संज्ञा की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि दोनों के ही शरीर के रक्त का रंग लाल होता है और दोनों ही आदमी हैं, यही बड़ा सत्य है। उसी तरह इस मामले में भी यही बड़ा सत्य है कि यह उपन्यास है। इसके लिए किसी संज्ञा या श्रेणी-विभाजन को मैं अनावश्यक नहीं समझता हूँ।

सिद्धार्थ मौलिक : आपके उपन्यासो मे समाज और उसके लोगों को कैसा स्थान प्राप्त हुआ है तथा आपके विचारानुसार आपकी श्रेष्ठतम रचना कौन-सी है ?

वि-ल मित्र : चिरकाल के समाज और मनुष्य मेरे उपन्यासो की विषयवस्तु हैं। लेकिन जहाँ तक अच्छे या बुरे का प्रश्न है यही कहूँगा कि माँ के लिए सभी सन्तान जिस तरह एक जैसी होती हैं उसी तरह मेरी दृष्टि मे मेरे सभी उपन्यास अच्छे हैं। परन्तु मेरी मृत्यु के पश्चात् जितने उपन्यास पाठकों को अच्छे लगेंगे वही या वे ही निस्सन्देह श्रेष्ठ उप यास होंगे।

सिद्धार्थ भौमिक: 'खरीदी कौड़ियों के मोल' और 'इकाई दहाई सैकड़ा'—इन दो उपन्यासों में चित्रित समाज के रूप भिन्न-भिन्न हैं। यह भिन्नता क्या युग-विवर्तन का संकेत देती है। यह विवर्तनवाद कलाकार के मानस-दर्पण में किस रूप में प्रतिबिंबित होगा या होना चाहिए ?

विमल मित्र : मेरे चार उपन्यास जैसे, बेगम मेरी विश्वास, साहब बीबी गुलाम, खरीदी कौड़ियों के मोल और इकाई दहाई सैकड़ा में युग-विवर्तन का संकेत है—इवोल्यूशन आफ द सोसाइटी। समाज बदल रहा है, मनुष्य के मन मे बदलाव आ रहा है, इसी परिवर्तन को मैंने अपने चारों उपन्यासों मे दिखाने की कोशिश की है। उपन्यास 'आर्ट आफ सोशल साइन्स' है और उपन्यासकार 'सोशल हिस्टोरियन'। बालजाक को 'वाच डॉग आफ पेरिस' (पेरिस का पहरेदार) कहा जाता है। हर देश के सफल उपन्यास अपने-अपने देश के पहरेदार होते हैं। अतः यही कहा जा सकता है कि जिस दृष्टि से समाज को बालजाक ने देखा है, डिकेन्स और तॉलस्तॉय ने देखा है, उसी दृष्टि से देखना चाहिए, उसे अपने मानस-दर्पण में प्रतिफलित करना चाहिए, डिकेन्स पुस्तक पर पुस्तक लिखते गये और ब्रिटिश पालियमिन्ट को एक-एक कर अपने संविधान में परिवर्तन लाना पड़ा। यही वजह है कि कार्ल मार्क्स और डिकेन्स मे कोई आत्मिक विभेद नहीं है।

सिद्धार्थ भौमिक : साहित्य में अश्लीलता हो सकती है,इस बात को आप मानते हैं ?

विमल मित्र : यह प्रश्न बहुत कुछ सोने के पत्थर के कटोरे जैसा है। साहित्य मे अश्लीलता नामक कोई चीज नहीं होती। क्योंकि जो साहित्य है वह कभी अश्लील नहीं हो सकता। एक मात्र असाहित्य ही अश्लील होता है।

सिद्धार्थ भौमिक : आजकल श्रेष्ठ या प्रथम श्रेणी के साहित्य का सृजन हो रहा है ? आज यानी साठ के दशक का समाज आपके अन्दर किसी सत्य को इंगित कर रहा है ?

विमल मित्र : प्रथम श्रेणी के साहित्य का सृजन हर रोज नहीं होता और न होना ही सम्भव है। जिस तरह कि हर रोज व्यास, रवीन्द्रनाथ, शरतचंद्र, तॉलस्तॉय पैदा नहीं होते, और आज के दिन या इस क्षण की बात आज ही लिखी जाये, यह संभव नहीं है। बाढ़ जब आती है तो खेत मे फसल पैदा नहीं होती। जब बाढ़ चली जाती है तो खेतों मे उर्वर मिट्टी की परत जम जाने के कारण अच्छी फसल उगती है। इसलिए आज की बात पचास वर्ष बाद का कोई साहित्यकार लिखेगा।

सिद्धार्थ भौमिक : खरीदी कौड़ियों के मोल की मोटाई के संबंध मे पाठकों के मन मे सवाल पैदा होता है। इसे क्या और संक्षिप्त नहीं किया जा सकता था ?

विमल मित्र : फैयाज खाँ या अब्दुल करीम खाँ या बड़े गुलाम अली खाँ को तीन मिनट मे गीत गाकर खत्म करने को कहा जाये तो जो दुर्घटना घट सकती है, एपिक उपन्यासकार को अपनी एपिक रचना संक्षिप्त करने के लिए कहा जाये तो वही दुर्घटना हो सकती है। रामायण या महाभारत को भी संक्षिप्त किया जा सकता है लेकिन वैसी

स्थिति में वे रामायण या महाभारत नहीं रह जायेंगे। जो लोग छोटा उपन्यास पढ़ना चाहते हों उनके लिए मैंने अनगिन छोटे-छोटे उपन्यास लिखे हैं। गुलाब का पौधा छोटा होता है मगर छोटा रहने के कारण मैं कभी उसे हेय नहीं समझता हूँ। उसी तरह वटवृक्ष को, जो बड़ा होता है, मैं कभी यह नहीं कहता कि गुलाब का पौधा बन जाओ। जब मैंने बड़ी पुस्तक लिखी तो उसका प्रणयन यह सोचकर नहीं किया कि पाठक उसे पढ़ेंगे या नहीं। हालाँकि बहुत से लोगों ने पत्र लिखकर मुझसे शिकायत की है कि बड़ी पुस्तक और बड़ी क्यों नहीं हुई। जिन दिनों 'देश' पत्रिका में धारावाही तौर पर प्रकाशन चल रहा था, बहुत से पाठक मुझसे यही अनुरोध कर रहे थे कि पुस्तक का अन्त नहीं होना चाहिए। वरना वे उस धारावाही आनन्द से वंचित हो जायेंगे। उपन्यास की आखिरी किस्त के पहले के अंक में जब 'अगले अंक में समाप्य' कहकर घोषणा की गयी तो पाठकों ने दुखित होकर मुझे पत्र लिखे थे। वे पत्र अब तक मेरे पास सुरक्षित हैं। तब हाँ, मैं अपने मत और पथ पर ही चलता रहा। जहाँ आरंभ करना था वहीं से आरम्भ किया था और जहाँ अन्त करना था वहीं उसका अन्त किया। एक पंक्ति भी अधिक नहीं लिखी। मैं आमतौर से आत्माभिव्यक्ति के तकाजे पर ही लिखता हूँ, पाठकों को जब वह अच्छा लगता है तो उसे मैं उनकी महानता और अपना सौभाग्य समझता हूँ। तब हाँ, आजकल बंगला के मासिक और साप्ताहिकों में सम्पूर्ण उपन्यास प्रकाशन का जो हंगामा मचा हुआ है, उसके प्रकोप से मैं सदैव आत्मरक्षा नहीं कर सका हूँ। उसका एक मात्र कारण यही है कि मैं भी कलकत्ते में वास करता हूँ और मुझे भी एक सामाजिक जीवन जीना पड़ता है।

सिद्धार्थ भौमिक : सम्पूर्ण उपन्यास प्रकाशन का हंगामा क्यों आया ?

विमल मित्र : शारदीय 'उल्टोरथ' पत्रिका में १९५५ ई० में जब पहले-पहल एक सम्पूर्ण उपन्यास प्रकाशित हुआ तो इस हंगामे की शुरुआत हुई। वह मेरा ही उपन्यास था—'मिथुनलग्न'। उसके प्रकाशन के बाद ही उस पत्रिका को इतनी अभूतपूर्व व्यावसायिक सफलता प्राप्त हुई कि उसके बाद से सात-आठ उपन्यास प्रकाशित करने के हंगामे की शुरुआत हो गयी। उसके पूर्व एक मात्र 'शारदीया आनन्द बाजार पत्रिका' में एक उपन्यास छपा करता था। 'सम्पूर्ण उपन्यास' शब्द का प्रचलन १९५५ ई० से हुआ। इस सन्दर्भ में यह कह देना ठीक रहेगा कि 'मिथुनलग्न' को मैं बीस पृष्ठों की एक छोटी कहानी के रूप में तैयार करना चाहता था लेकिन घटनाक्रम से वह लम्बा हो गया और उपन्यास के रूप में आख्यायित किया गया।

सिद्धार्थ भौमिक : इससे छोटी कहानियों को क्षति नहीं पहुँच रही है ?

विमल मित्र : छोटी कहानियों के लेखक धोखा देते हैं इसी वजह से उपन्यास चाहनेवालों की संख्या इतनी अधिक है।

सिद्धार्थ भौमिक : यह सब क्या सचमुच ही अच्छे साहित्य को समृद्ध कर रहा है ?

विमल मित्र : नहीं। इससे साहित्य और पाठक दोनों की क्षति हो रही है। इस सन्दर्भ में यही कहा जा सकता है कि इसके कारण बहुत से लेखकों की सम्भावना का

दरवाजा बन्द होता जा रहा है। अधिक माँग रहने के कारण लेखक रचना को सँवार नहीं पा रहे हैं। रचना तैयार होने के पहले ही प्रकाशक अग्रिम पारिश्रमिक दे देते हैं और पत्रिका में प्रकाशित होते ही रचना पुस्तकाकार मे आ जाती है। लेकिन आश्चर्य की बात है, पिछले उन्नीस वर्षों से सरकार की ओर से पुस्तकालय और साहित्य के लिए आर्थिक सहायता और पुरस्कार की व्यवस्था रहने के बावजूद साहित्य उस परिमाण मे उन्नत नहीं हो रहा है। हालाँकि जब इस तरह की सहायता नहीं दी जाती थी तो साहित्य की पर्याप्त उन्नति हुई थी। इस सम्बन्ध मे पाठकों को और अधिक जागरूक होना चाहिए। साहित्य की उन्नति या अवनति बहुत-कुछ उन्हीं पर निर्भर करती है।

सिद्धार्थ भौमिक : किसकी रचना आपको आकर्षित करती है ?

विमल मित्र : बातचीत के दौरान मैं उनके नामों का पहले ही उल्लेख कर चुका हूँ। तब हाँ, इतना जरूर है कि स्वदेशी एवं विदेशी लेखकों के बीच मुझे सबसे अच्छे चार्ल्स डिकेन्स, बालजाक, तॉलस्तॉय और रोमा रोलाँ लगते हैं। ये लोग कथा-साहित्य के उस्ताद हैं। स्वदेशी लेखको के बीच मुझे सबसे अधिक अनुप्राणित बंकिमचन्द्र, शरतचन्द्र, विभूतिभूषण बंद्योपाध्याय तथा माणिक बद्योपाध्याय एवं शैलजानन्द मुखोपाध्याय के प्रथम युग की रचनाओ ने किया है।

सिद्धार्थ भौमिक : पिछले पाँच या दस वर्षों से जो लेखक लिख रहे हैं उनके बारे में आपकी क्या धारणा है ?

विमल मित्र : सभी में सम्भावना के लक्षण हैं और उनमे से हरेक स्वीकार करने योग्य है। उनमें से अगर कोई स्थापित लेखक की श्रेणी मे आ जाये तो मेरी यही प्रार्थना है कि उसे प्रसन्नचित्त स्वीकार कर सकूँ।

सिद्धार्थ भौमिक : 'कड़ीर चेये दामी' (कौड़ी से कीमती) उपन्यास के लेखक क्या आप ही हैं ?

विमल मित्र : किसी दुरभिसंधि से एक व्यक्ति मेरा नाम धारण कर एक के बाद दूसरी पुस्तक प्रकाशित किये जा रहा है। दरअसल उस नाम का कोई लेखक नहीं है। वह मेरी ख्याति की माप का मानदण्ड है। वह पुस्तक-विक्रेताओं को अधिक कमीशन देकर धड़ल्ले से पुस्तक पर पुस्तक का ढेर बाजार मे लगाये जा रहा है। कुछ पुस्तक विक्रेता पैसे के लोभ मे उसके कार्य में सहायक तो रहे हैं। तथा बहुत से पुस्तक-विक्रेता और पाठक इसके फलस्वरूप छले जा रहे हैं। पाठक छले जाने पर पत्र लिखकर मुझसे शिकायत करते हैं और किसी-किसी को सन्देह होता है कि मैं पैसे के लोभ मे दूसरे से पुस्तक लिखवाता हूँ। मिलावट के इस युग मे मैं क्या करूँ, कुछ समझ मे नहीं आता।

●

साहित्य के आमने-सामने

[प्रस्तुत साक्षात्कार 'कथा साहित्य' के अ षाढ अंक में बंगाब्द १३७९ में प्रकाशित हुआ था। इस साक्षात्कार में विमल मित्र ने नकुल चट्टोपाध्याय को इस तरह की बहुत सी व्यक्तिगत बातें बतायी हैं जिनके बारे में किसी को कुछ मालूम नहीं है। उस समय लेखक 'आसामी हाजिर' लिख रहे थे। उक्त पुस्तक के सम्बन्ध में भी लेखक के तत्कालीन मनोभाव का थोड़ा बहुत परिचय मिलता है।—अनु०]

साहित्य ही साहित्यकार के जीवन का दर्पण है। अलग से साहित्यकार को देखने या जानने की कोई आवश्यकता है, आपाततः ऐसा नहीं लगता। लेकिन बंकिमचन्द्र ने कहा—"कवि की कविता समझने से लाभ होता है, इसमें सन्देह नहीं; लेकिन कविता के बजाय कवि को अगर समझ लिया जाये तो उससे भी अधिक लाभ होता है। कविता कवि की कीर्ति है और वह तो हमारे हाथ के निकट ही है, पढ़ते ही समझ जाते हैं। लेकिन जो व्यक्ति इस कीर्ति को छोड़ गया है, वह किस गुण के कारण तथा किस प्रकार इस कीर्ति को छोड़कर गया है, यही समझना होगा।"

यह स्वाभाविक भी है। क्योंकि जिसकी कृपा से फूल खिलते हैं, धूप उगती है, बारिश होती है—हम उन्हें कम से कम एक बार अपनी आँखों से देखना चाहते हैं, उसके सम्बन्ध में जानना चाहते हैं।

यही वजह है कि एक दिन मैं विमल मित्र से मिलने गया। हालांकि मुझे इस बात का पता था कि लेखक की हैसियत से उन्हें जितनी ख्याति मिली है उतनी ही अख्याति भी मिली है।

प्रथम साक्षात्कार मे ही उन्होंने बताया, "जिस लेखक को अख्याति नहीं मिली है उसके साहित्य के स्थायित्व के सम्बन्ध मे स्वतः ही सन्देह पैदा होने लगता है।"

प्रश्न : आप इतनी अच्छी सरकारी नौकरी छोड़ पूरे तौर पर साहित्य-जगत मे क्यों चले आये ? नौकरी करते हुए क्या आप लिख नहीं सकते थे ?

उत्तर : देखो, एक बात है। एक ओर सरकारी नौकरी है जिसका अर्थ है दासता और दूसरी ओर है स्वतन्त्र चिन्तन। इन दोनों का समन्वय कर सकूं, यह मेरे सामर्थ्य के बाहर की बात थी। चौबीस घण्टे मे छह घण्टे तक गुलामी करूँ और अठारह घण्टे स्वतन्त्र रहूँ—इसे बरदाश्त करने के लिए जितनी दृढ़ता की आवश्यकता है, वह मुझमें नहीं है। इसके अलावा यह तो जानते ही हो कि 'लिटरेचर इज ए जेलस मिस्ट्रेस बट ए वेरी बैड वाइफ।' मतलब यह कि साहित्य कभी सौत को बरदाश्त नहीं कर पाता। एक ही साथ दो मालिकों के मन को संतुष्ट रखना मेरे लिए असंभव हो गया। फलस्वरूप जब दो में से एक को ही चुनने की बात आयी तो मैंने साहित्य का ही निर्वाचन किया। 'पार्ट टाइम' लेखक और 'होल टाइम' लेखक के बीच बड़ा अन्तर है। लेखन को तपस्या मानना है तो हर वक्त लेखक होना होगा। तब हाँ, साहित्य जिसके लिए शौकिया चीज है उसकी बात ही अलग है।

इसके अलावा 'साहब बीबी गुलाम' के प्रकाशन के बाद जब पाठकों ने मेरे जीवन के भरण-पोषण की जिम्मेदारी उठा ली तो फिर मैं नौकरी मे लगा रहता तो समझ जाता कि साहित्य के बनिस्बत पैसे की ओर ही मेरा ज्यादा रुझान है। अतः उस दृष्टि से मुझे अधिक चिन्ता नहीं करनी पड़ी। लेकिन सबसे अधिक लाभान्वित मैं तब हुआ जब अलग-अलग जमात की ओर से मेरे खिलाफ तरह-तरह की निन्दा और बदनामी फैलायी जाने लगी। किसी ने कहा, मैंने शिबनाथ शास्त्री की पुस्तक से कहानी की चोरी की है। इस तरह के बहुत से अभियोग मुझ पर आरोपित किये गये। दरअसल यह बदनामी ही मेरे लिए एक दिन आशीर्वाद बनकर फूलने-फलने लगी। समझ गया, अब मैं पूरे तौर पर साहित्य की दुनिया मे प्रवेश कर सकता हूँ। मुझे मनु के शब्दों का स्मरण आया—'सम्मान को विष समझो और अपमान को अमृत।' उसी अपमान को पाथेय बनाकर मैं अपनी यात्रा पर निकल पड़ा।

प्रश्न : श्रद्धेय रंगीन हालदार ने एकबार एक अंग्रेजी दैनिक मे लिखा था : 'विमल बाबू की रचना मे हिन्दुस्तान क्लासिकल संगीत के आगिक का साक्षात्कार हुआ।' इस नये प्रकार के आगिक के प्रयोग की प्रेरणा आपको कहाँ से मिली ?

उत्तर : १९३३-३४ ई० मे दो विख्यात गायक फैयाज खाँ और अब्दुल करीम खाँ गीत का रेकार्ड कराने कलकत्ता आये थे—६/ए, अक्रूर दत्त लेन के हिन्दुस्तान रेकार्ड कम्पनी मे। वहाँ मैं उन दिनो नियमित तौर पर जाया करता था। विद्यासागर कॉलेज मे बी०ए० क्लास मे पढ़ता था और शाम के वक्त वहाँ जाकर गीत लिखता था। सो उसी समय मैं संगीत की तान, विस्तार, लय, सम, आरोह, अवरोह इत्यादि से परिचित हो गया था। समझ गया था कि रस-ग्रहण के मामले मे कौन-सा परदा 'वादी' और कौन-सा 'विवादी' होता है। इस बात को भी मुझे समझ आ गयी कि ग्रहण और वर्जन के सार्थक समन्वय से ही श्रोता को रसाविष्ट रखा जा सकता है। साथ ही साथ मुझमे इसकी भी समझदारी आ गयी कि इस व्यस्तता के युग मे पाठकों को उलझाये रखना है तो इसी प्रकार के हिन्दी शास्त्रीय संगीत के आगिक के कौशल से सहायता लेनी पड़ेगी। इसीलिए मैंने अपने कहानी-लेखन मे उसी आगिक को प्रयोग में लाने की चेष्टा की है।

प्रश्न : आप कहानी-उपन्यास मे किस्सागोई को इतनी प्रमुखता क्यो देते हैं ?

उत्तर : इसलिए कि मैं कहानीकार हूँ। गायक जिस प्रकार स्वर को प्रमुखता देता है, कहानीकार भी वैसा ही करता है। स्वर को छोड़ दिया जाये तो गीत नहीं हो सकता, उसी तरह किस्सागोई को प्रमुखता देकर साहित्यकार सिर्फ कहानी ही नहीं सुनाता है, किस्सागोई उसका प्राथमिक कार्य भी है। उसके बाद मनोरंजन की बात आती है। मनोरंजन तो होना ही चाहिए मगर किसका ? इस सन्दर्भ मे रवीन्द्रनाथ ने सुधीन्द्रनाथ दत्त को जो पत्र लिखा था उसे मैंने पढ़ा था। उन्होंने लिखा है : 'मनुष्य के बीच जो बुद्धिमान हैं उसके दावे की ओर ध्यान न देकर उस व्यक्ति को प्रसन्न करने की चेष्टा करो जो रसविलासी है। बुद्धिमानों के लिए आइन्सटाइन, बर्ट्रेण्ड रसेल, ह्वाइट

हेड, प्रशान्त और सुनीति चाटुर्ज्या जैसे बड़े-बड़े आदमी हैं। हमारे-तुम्हारे जैसे लोगों को रसज्ञों की सभा में रस की व्यवस्था करने का भार मिले तो इससे बड़ी आशा करना हमारे लिए कोई मानी नहीं रखता!'

लेकिन रसज्ञ व्यक्ति अब दुनिया में हैं ही कितने? दुनिया के किसी विश्वविद्यालय में धरना देने से भी रस की डिग्री प्राप्त नहीं होती है। रस का तकाजा सबसे बड़ा तकाजा है। रस के तकाजे के कारण ही ब्राह्मण फकीर हो जाता है। रसज्ञजनों के मनोरंजन के लिए कहानी को अतिक्रमण करने की बात सोचनी पड़ती है। कहानी की समझदारी केवल बच्चों में होती है। वयस्कों के बीच भी कुछ शिशु होते हैं। लेकिन रसज्ञ व्यक्ति कहानी के अलावा कुछ और चाहता है। वैसे रसज्ञों की जाति, धर्म, वय, देश, काल कुछ भी नहीं होता। इसी रस के तकाजे के कारण एक व्यक्ति कलम से कुछ लिखता है और उसके शब्द किसी दिन सबके अन्तर की बात हो जाते हैं। तत्क्षण वह रचना रसोत्तीर्ण रचना के रूप में स्वीकार कर ली जाती है। रस की शिक्षा अर्जित करने के लिए कुछ उम्रदार होना लाजिमी है—इसलिए कि उस समय उच्छ्वास दूर हो जाता है और मात्र आह्लाद ही (एक्स्टसी) शेष रह जाता है।

आह्लाद ही जिसका मूल धन है वही वास्तविक पाठक और लेखक है। अन्यथा पुस्तक पढ़ने से ही कोई पाठक नहीं हो जाता या लिखने से ही कोई लेखक नहीं हो जाता।

प्रश्न : आपकी पुस्तकें बहुत बड़ी-बड़ी हैं। इसका कारण क्या है?

उत्तर : सख्या की दृष्टि से मेरी छोटी पुस्तकें ही अधिक हैं। मगर कुछ पुस्तकें चूंकि आकार में बड़ी हैं इसलिए लोग बड़ी पुस्तकों की ओर संकेत करते हैं। तब हाँ, मोटा या पतला होना सापेक्ष बात है। पाँच मिनट भी कभी पाँच युग जैसे लग सकते हैं। उसी तरह पाँच युग भी पाँच सेकेण्ड जैसे लग सकते हैं। इसके अलावा इसे सिर्फ मिनट और युग ही क्यों मानें? आज क्या आदमी डकोटा युग से जंबो युग में नहीं पहुँच गया है? रसिक श्रोता क्या तीन मिनट का सुगम संगीत सुनने के बाद तीन घण्टे का शास्त्रीय संगीत नहीं सुनता है? जब मैं धारावाही पुस्तक लिख रहा था तो बहुत से पाठकों ने मुझे लिखा था—'कृपया पुस्तक को समाप्त नहीं करें।' याद है जिन दिनों 'खरीदी कौड़ियों के मोल' और 'बेगम मेरी विश्वास' का धारावाही प्रकाशन चल रहा था, दो-तीन ऐसे भी पाठक थे जो साप्ताहिक पत्रिका में ज्यों-ज्यों किस्त का प्रकाशन होता जाता था, कागज में उसे लिख-लिख कर ढेर लगाते जाते थे। केवल पढ़ कर ही वे खुश नहीं होते थे। लिखकर पढ़ने के आनन्द को दुगुने रूप में उपभोग करना चाहते थे। यह एक अकल्पनीय घटना है। इसके साक्षी दो-तीन व्यक्ति हैं। उन लिखे हुए अंशों को मेरी रचना समाप्त होने के बाद उन्होंने मेरे पास ऑटोग्राफ के लिए भेजा था। तब हाँ, इसका अर्थ यह नहीं कि मैं मोटी पुस्तक लिखने का पक्षपाती हूँ। मुझे अलेक-जन्द्रिया के कवि कैलुमेसुस की विख्यात उक्ति मालूम है कि 'ए बिग बुक इज ए बिग ईविल।'* इसके अलावा पाठक को अच्छा लगता है या बुरा, यह सोच कर मुझे लिखना

* एक बड़ी पुस्तक, एक बहुत बड़ी दुष्कृति है।

पड़ेगा ? मुझे स्वयं जो अच्छा लगे, उसका क्या कोई महत्व नहीं ? हर स्वतंत्र लेखक अपने आपका खुद ही स्वामी होता है। इतना जरूर है कि गृहस्थ जीवन जीने के लिए पैसे की जरूरत को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। असल में बड़ी बात यही है कि मुझे लिखना अच्छा लगता है। जब तक मैं कहानी के 'सम' पर आकर न पहुँच जाता हूँ, लिखना बन्द कैसे कर दूँ ? केवल घड़ी या पैसे पर नजर टिकाये कोई उस्ताद गीत गा सकता है ? और अगर गाये भी तो वह गीत क्या श्रोताओं के लिए उपयोगी हो सकता है ? बंगला भाषा में चूंकि मोटी पुस्तकों का रिवाज नहीं है इसलिए बहुतों को वह चीज शुरू में अस्वाभाविक जैसी लगी थी। लेकिन पाश्चात्य जगत के पुराने जमाने के तॉलस्तॉय, दास्तोव्स्की, गाल्सवर्दी, प्रूस्त से शुरू कर आधुनिक युग के शोलोखोव तक जो सब किताबें लिख गये हैं या लिख रहे हैं, इसके बारे में बंगाली पाठकों को पता नहीं है और यही वजह है कि अरसिक पाठक ऐसी शिकायत करते हैं। इसके अलावा यह कोई नयी बात नहीं है कि शास्त्रीय संगीत की तरह एपिक उपन्यास भी बड़ा नहीं होगा। मैंने एपिक उपन्यास लिखने की ही विनम्र चेष्टा की है। इसके अलावा मेरी पुस्तकें हिन्दुस्तान की तमाम भाषाओं में समादृत हुई हैं। विरोधियों के जी-तोड़ असहयोग के बावजूद मुझमें आशा का संचार हुआ है। एक बात और, बहुतों ने संभवतः असंलग्न रूप में इन पुस्तकों को पढ़ा है। असल में इन पुस्तकों के बीच एक क्षीण योगसूत्र है जिसे वे नजरअन्दाज कर गये हैं। 'साहब बीबी गुलाम', 'खरीदी कौड़ियों के मोल' और 'इकाई दहाई सैकड़ा' इन तीनों उपन्यासों का घटना-काल अँग्रेज शासकों का आविर्भाव और यहाँ से उनकी विदाई है। हिन्दुस्तान के इतिहास की इस दो सौ वर्षों की, राजनीतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर ही ये तीनों उपन्यास आधारित हैं और 'बेगम मेरी विश्वास' इस 'ट्रिलोजी' (ग्रंथत्रय) की भूमिका के रूप में पठनीय है। यही वजह है कि इस पुस्तक को मैंने सबके अन्त में लिखा है।

प्रश्न : आपकी रचना के संबंध में पाठक और समालोचकों की राय ही मान्य है ? वे ही एकमात्र विचारक हैं या कुछ और ? रचना का मूल्यांकन कौन करेगा ? आपकी क्या धारणा है ?

उत्तर : रचनाओं का प्रणयन करना मुझे अच्छा लगा है और मेरे लिए यही बड़ी बात है। दूसरी बात है, एक बार डिकेन्स ने अपने मित्र को एक पुस्तक उपहार स्वरूप देकर उसमें लिख दिया था, "तुम्हारे पोते के पोते को यह पुस्तक पढ़ने पर अच्छी लगे तो मुझे उसी में प्रसन्नता होगी।" तमाम साहित्यकारों के हृदय की बात यही होती है। और अगर हृदय की बात नहीं है तो होनी चाहिए।

प्रश्न : आपके नाम से बाजार में ८५-८६ पुस्तकें चल रही हैं। दुनिया में कहीं इस तरह की घटना घटी हो, सुनने में नहीं आया है। अगर ये आपकी रचनाएँ नहीं हैं तो आपको विधिवेत्ता की सहायता लेनी चाहिए। आपकी क्या राय है ?

उत्तर : इस घटना को मैं अपनी ख्याति की क्षतिपूर्त्ति समझता हूँ। एक ओर यह जहाँ दुख की बात है दूसरी ओर आनन्द की भी बात है। दुख की बात इसलिए कि कुछ पाठक छले गये हैं और मुझे भी थोड़ी बहुत आर्थिक क्षति उठानी पड़ी है। मगर उन्हे मालूम नहीं है कि 'ही हू स्टील्स माइ पर्स, स्टील्स ट्रैश'। तब हाँ, पैसे की अधिक प्राप्ति होती तो मुझे और अधिक झमेलों का सामना करना पड़ता। मेरे लेखन की भी क्षति होती। मैं पैसा पकड़ने वाला आदमी होता तो कानून की सहायता लेता। लेकिन उससे मेरी अपूरणीय क्षति होती। पुस्तकों का अध्ययन या लेखन छोड कर मुझे अदालत और वकील के पीछे दिन बिताना पड़ता। उससे हालांकि कुछ आर्थिक लाभ होता, लेकिन परमार्थ के भंडार मे शून्य अंक ही आता। और आनन्द ? आनन्द की बात मैं इसलिए कह रहा हूँ कि उन्हे मेरा नाम विषय-संपत्ति की दृष्टि से अवश्य ही मूल्यवान् प्रतीत हुआ है। वरना मेरे नाम के लिए इतनी छीना-झपटी ही क्यो मचती ? किसी और लेखक के साथ यह बात हैं ? तुम्हारे घर मे मणि-मुक्ता-हीरा-जवाहरात रहे और डाकू डकैती न करे तो यह मणि-मुक्ता हीरा-जवाहरात का ही अपमान है।

प्रश्न : आप किसी सभा-समिति मे दिखायी नही पड़ते, ऐसा क्यों ? इसका कारण क्या है ?

उत्तर : मैं अगर सभा-समिति मे जाने लगूँ तो लिखेगा कौन ? मैं तो हरवक्ती लेखक हूँ। यदि समझता कि सभा-समिति मे जाने से तेरी कमल मे निखार आयेगा तो निश्चय जाता। मुझे मालूम है कि साहित्यिक क्षेत्र के लिए दो पहलुओं की उपयोगिता अपरिहार्य है। एक है अन्दर का पहलू और दूसरा है बाहर का पहलू। अन्दर का पहलू साधना का पहलू है। वहाँ लेखक एकान्त मे अपने आपमे डूबा रहता है। वहाँ लिखना ही उसका प्रमुख कार्य है। लेखन के उपकरण के कार्य मे बाहरी दुनिया की जो आवश्यकता पडती है वह गौण है। वहाँ अनुभूति की अपेक्षा कल्पना की ही प्रमुखता रहती है। लेकिन बाहर का पहलू बाजार का पहलू है। वहाँ माँग के उतार-चढाव के कुत्सा कलह और दुकानदारी के दर-दाम का शोर-चीत्कार मचा रहता है। मैं हमेशा से ही बाजार के शोरगुल से दूर रहता आया हूँ। पी० बी० शेली की 'टु ए स्काइलार्क' की वह पंक्ति याद है ?—लाइक ए पोयेट हिड्न ईन द लाइट ऑफ थॉट मैं उसी अदृश्य लोक का विहगम हूँ।

प्रश्न : अभी आप क्या लिख रहे हैं ?

उत्तर : सामाजिक प्राणी और लेखक की हैसियत से मैंने महसूस किया है कि इतने दिनों तक मैंने जो कुछ लिखा है कि वह किसी के काम मे नहीं आया है। अर्थ-कुलीनता के युग को अस्वीकार कर मैंने समाज मे मनुष्यता की मर्यादा को प्रतिष्ठित करना चाहा है। लेकिन दुनिया मेरे खिलाफ़ काम कर रही है।

मुझे विश्वास है

इसके लिए मैं स्वयं को अपराधी समझता हूँ। क्योंकि सामाजिक मनुष्य की हैसियत से मेरी भी एक जिम्मेदारी है। इसी वजह से कहानी-उपन्यास को मैं 'फिक्शन' के बजाय 'आर्ट आफ सोशल साइन्स' के रूप मे विवेचित करता हूँ। उसी दृष्टि से मैं एक और उपन्यास लिख रहा हूँ। नाम रखा है 'आसामी हाजिर'। अतीत में जितने भी महापुरुषों ने जन्म लिया है, समसामयिक लोगो की दृष्टि मे वे सबके सब आसामी हैं। ईसामसीह को दुनिया में मुजरिम बनना पड़ा था। बुद्धदेव, सुकरात, श्री चैतन्य, महात्मा गांधी वगैरह को समाज के तमाम अपराधों का अभियोग स्वीकार कर किसी दिन मुजरिम के कठघरे में खड़ा होना पड़ा था। मेरी कथा के नायक ने भी उसी दिन से जीवन को देखना चाहा है। इस समाज में पति पति की जिम्मेदारी का पालन नहीं करता है। स्त्री स्त्री की जिम्मेदारी का पालन नहीं करती—पिता-माता सभी अपनी-अपनी जिम्मेदारी के प्रति बेखबर हैं। असलियत यही है कि हम सभी मुजरिम हैं। यह पुस्तक मैं अब भी लिख ही रहा हूँ। अतः इसके बारे मे अधिक कहना न तो संभव है न ही उचित। लिखना खत्म होगा तो समझ मे आयेगा कि वैसा हो सका या नहीं, लिख सका या नहीं। तब हाँ, यही शायद मेरा अन्तिम उपन्यास होगा। अब उम्र बढ़ चुकी है। पिछले बीस-पचीस बरसो से रातभर जगकर लिखता आ रहा हूँ। अब वैसा नहीं हो पाता है। अब रात में जागता हूँ तो कष्ट होता है। लिखते-लिखते मर जाऊँ तो झंझट खत्म हो जाये। मर जाऊँगा तो यह पुस्तक असमाप्त रह जायेगी, परन्तु मुझे चैन लेने का मौका मिलेगा। दुर्भावना, दुश्चिन्ता और चौबीस घण्टे की मेहनत से छुटकारा मिल जायेगा। साथ ही साथ ख्याति-अख्याति, अपमान-उपेक्षा और झूठे सम्मान की परेशानी से चिरकाल के लिए छुटकारा मिल जायेगा।

प्रश्न : आम पाठकों के बारे मे आपकी क्या धारणा है?

उत्तर : आम पाठकों के बारे मे मेरी धारणा स्पष्ट है। हिन्दुस्तान की तमाम भाषाओं के आम पाठकों के बीच मुझे ऐसे-ऐसे रसमर्मज्ञ पाठक मिले हैं जो किसी भी लेखक के बनिस्पत अधिक बुद्धिमान, हृदयवान्, कला-रसिक और निरपेक्ष हैं। ऐसे लोगों का आवासस्थान सुदूर केरल प्रान्त से लेकर महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान के मध्य भाग का स्पर्श करते हुए पूर्वांचल मे असम प्रान्त तक फैला है। लिखने के समय उन लोगों के प्रदेशों की याद आते ही मैं सचेत हो जाता हूँ। असल मे इन्हीं लोगों ने मेरे भरण-पोषण की जिम्मेदारी उठा ली है। बावजूद इसके एक बात यहाँ कहना अच्छा रहेगा। पुस्तक के अतिरिक्त सिनेमा थियेटर या विभिन्न भाषाओं मे अनुवाद होने के कारण हो सकता है, करोड़ो व्यक्ति मेरे नाम से परिचित हों। लेकिन हिसाब करके देखने पर कहा जा सकता है कि मेरी मात्र एक पुस्तक पढ़ी हो ऐसे लोगो की संख्या संभवतः लाखो है। मेरी लिखी पाँच पुस्तकें पढ़ी हो ऐसे लोगो की संख्या शायद एक हजार है। पन्द्रह पुस्तकें पढ़ी हों ऐसे लोग संभवतः दो सौ की संख्या में हैं। बीस पुस्तकें पढ़ी हों ऐसे लोग संभवतः पचास होंगे। तीस पुस्तकें पढ़ी हों ऐसे लोग संभवतः दस होंगे। तब हाँ, मेरे द्वारा लिखी गयी तमाम पुस्तको के प्रत्येक शब्द और अक्षर प्रारंभ

से अन्त तक जिसने पढ़ा और समझा हो, ऐसा एक ही व्यक्ति है। वह मैं हूँ। यानी अपनी राय में मैं ही एकमात्र अपनी रचना का श्रेष्ठ पाठक हूँ।

प्रश्न : आपके लेखन जीवन में क्या कोई ऐसी घटना घटी है जिसे आप चिर-स्मरणीय समझते हों ?

उत्तर : आजीवन स्मरण रखने लायक बहुत सारी घटनाएँ घटी हैं, तमाम घटनाएँ लिखनी हों तो आत्मकथा ही लिखनी पड़ेगी। लेकिन उनमें से एक ऐसी घटना है जिसकी संभवतः तुलना नहीं हो सकती। १९५८ ई० के पूस महीने में दो अजनबी मेरे पास एक अजीब ही अनुरोध लेकर आये। अनुरोध यह था कि वे लोग मुझे शिवपुर ले जाना चाहते थे। वहाँ उमाशंकर मुखोपाध्याय नामक एक एडवोकेट रहते थे। उनका कहना था कि वह मृत्युशय्या पर पड़े हैं। उनकी अन्तिम इच्छा यही है कि मरने के पूर्व वह एक बार मुझे अपनी आँखों से देखना चाहते हैं। तब मैं स्वयं भी अस्वस्थ था। मगर जब सुना कि एक दिन की देर करने से हो सकता है कि मुलाकात न हो तो फिर इच्छा न रहने के बावजूद मैं जाने को तैयार हो गया।

कहाँ यह दक्षिण कलकत्ता और कहाँ वह हवड़ा की अन्तिम सीमा! वहाँ जाने पर देखा, भले आदमी की अपनी एक तीन मंजिला विशाल इमारत है। पता चला कि वह निःसन्तान हैं। आठ बरसों से बीमार रह रहे हैं। बगल की तिपाई पर तीनेक पुस्तकें और पीतल की एक नारायणमूर्ति है। बिस्तर से उठ नहीं पाते हैं इसलिए पीतल की मूर्ति को अक्षत जल निवेदित कर हर रोज दवा और पथ्य ग्रहण करते हैं।

उन सज्जन के विषय में बहुत सारी अलौकिक घटनाएँ सुनने को मिलीं। पहले उमाशंकर बाबू समाधिस्थ हो जाया करते थे। अपने हाथ से प्रतिष्ठित काली-मूर्ति की पूजा करते-करते वह वाक् सिद्ध हो गये थे। उसी काली-मूर्ति ने एक दिन उन्हें सपने में कहा था : तुम मेरे पास चले आओ।

उमाशंकर बाबू सहमत नहीं हुए थे। वह भयभीत हो गये थे। कहा था : मैं अभी नहीं जाऊँगा।

और ठीक उसके बाद ही इस भयंकर बीमारी का उन पर प्रकोप हुआ। बीमारी की यातना से बेचैन होकर उन्होंने अपनी पत्नी से कितनी ही बार कहा कि उस मूर्ति को गंगा में विसर्जित कर आये। ऐसा करने से उन्हें भी मुक्ति मिल जायेगी। मगर उनकी पत्नी ऐसा करने को राजी नहीं हुई।

उमाशंकर बाबू ने बताया कि उसके बाद से ही वह मृत्यु-यातना झेल रहे हैं।

तभी एक दिन उनकी पत्नी से उन्हें 'साहब बीबी गुलाम' पढ़ने को दिया। किताब हाथ में लेते ही समझ गये कि यह उपन्यास है। तत्क्षण उन्होंने पुस्तक उठाकर फेंक दी। अपनी पत्नी से बोले, "तुम मुझे क्या समझती हो ? मैं नाटक-नॉवेल पढ़ूँ ? मैं क्या कोई बच्चा हूँ ?"

मगर उसके दो वर्ष बाद पुस्तक पता नहीं कैसे उनके पास आ गयी। वह उपेक्षा के साथ पुस्तक पढ़ने लगे और फिर उसमें डूब गये। उसके बाद एक-एक कर बीस बार

पढ गये। तभी से वह इस पुस्तक को अपने से विलग नहीं करना चाहते हैं। उस दिन से उपनिषद् और गीता के साथ उस पुस्तक को भी उनकी तिपाई पर स्थान मिल गया।

देखा, बगल की तिपाई पड़ी तीन पुस्तकों में बीच वाली पुस्तक 'साहब बीबी गुलाम' की एक प्रति है।

बोले, "सुना, शिवपुर मे इस पुस्तक पर बनी फिल्म आयी है। मैंने इस बीमारी की हालत में स्पेशल इन्तजाम कराकर स्ट्रेचर पर लेटे-लेटे सिनेमा देखा। मगर कुछ भी समझ मे नहीं आया, विमल बाबू एक अक्षर भी नहीं। पुस्तक पढकर मैंने जो तसवीर देखी है उससे इस तसवीर मे कोई साम्य नहीं था। एक बारगी भिन्न मालूम हुई। मेरे मन में बहुत तकलीफ पहुँची।"

उमाशंकर बाबू ने जरा मुस्ताकर फिर कहना शुरू किया, लेकिन यह सब बात कहने के लिए मैंने आपको नहीं बुलाया है। मैं बहुत दिनों से इसकी खोज कर रहा था कि मरने के बाद मैं कहा जाऊँगा।"

यह कहकर बगल मे रखी तीन पुस्तकों मे से एक को उठा लिया। खुद ही धड़ल्ले से संस्कृत श्लोक पढने लगे। उसके बाद एक और पुस्तक उठाकर पढने लगे।

बोले, "उपनिषद् और गीता को मैंने बार-बार पढा है और वह इसलिए कि मैं जानना चाहता था कि मरने के बाद कहा जाऊँगा। मगर मुझे कोई पता नहीं चला। पता मिला तो आपकी पुस्तक में। अब मुझे कोई दुःख नहीं है।"

सुनकर मैं अवाक् हो गया।

पूछा, "आपको किस स्थान में मिला?"

वह तत्काल पुस्तक का पन्ना उलटकर पढने लगे। उसके बाद बोले, "यह सब बात तो आपने ही लिखी है?"

मैंने कहा, "लिखी तो जरूर है, लेकिन आप जैसा पांडित्य मुझमें नहीं है। मै दर्शनशास्त्र के बारे मे कुछ भी नहीं जानता। मेरे मन में जो बात आयी, लिख गया।"

उमाशंकर बाबू बोले, "हाँ यही बात है। आप अनजाने ही लिख गये हैं। ऐसा होता है। आपके हाथ से ही वही यह सब बात लिखा गये हैं। यह बात कहने के लिए ही आपको मैंने कष्ट दिया। आपसे मुलाकात हो गयी, मेरी साध पूरी हो गयी। अब मैं निश्चिन्त हो गया।

बीमार आदमी से और अधिक बातचीत कर उन्हे तकलीफ दूँ, मैंने यह नहीं चाहा। उसके बाद विदा लेकर बाहर चला आया। बाहर निकलने पर देखा शहर के आखिरी छोर के शीतकालीन धुएँ और कोहरे ने एकाकार होकर चारों ओर एक अस्वस्थकर परिवेश पैदा कर दिया है।

मेरे साथ एक सज्जन आ रहे थे। उन्होंने कहा, "आठ साल से बीमारी भोगते-भोगते दिमाग खराब हो गया है। बिलकुल पागल आदमी है।"

'पागल' शब्द सुनते ही मन मे खटका जैसा लगा। फिर क्या इतनी देर तक पागल से ही बातचीत करता रहा? इन समस्त घटनाओं के साक्षी के तौर पर मेरे

साथ 'कितने अनजाने रे' के स्वनामधन्य लेखक बंधुवर शंकर थे। मैंने उनके चेहरे की ओर गौर से देखा। एक और सज्जन थे। उनके चेहरे की ओर भी देखा। समझना चाहा कि उनका वक्तव्य क्या है। वे सब मिल कर मुझे विदा करने आये थे।

लेकिन अन्याय मैंने ही किया था। पागल ही है! पागल न होता तो बंगाली होकर मेरी रचना की इतनी प्रशंसा करता! और सिर्फ पागल ही नहीं, घनघोर पागल। उमाशकर बाबू सचमुच ही उन्मत्त थे।

यह घटना १९५८ ई० में घटित हुई थी इतने दिनों तक इस घटना के बारे मे किसी को कुछ नहीं बताया था। पागल की बात सुनेगा ही कौन? पागल की बात की कीमत ही क्या है! लोग मुझे ही पागल कहने लगेंगे। लेकिन कारण चाहे जो हो, पर यह घटना मेरे लिए चिर स्मरणीय है। आज पंद्रह वर्ष बाद जब लेखकीय जीवन सरहद पर पहुँच चुका हूँ तो सिर्फ तुम्हे ही इस घटना के बारे मे कह गया। दरअसल मैंने भी पागल होना चाहा था। तुम्हीं बताओ, इतनी मोटी-मोटी पुस्तकें लिखना क्या पागलपन का लक्षण नहीं हैं? कौन मुझसे इतना लिखवाता है? क्यो लिखता हूँ? किसके लिए लिखता हूँ? तिल-तिल खून-पसीना एक कर इस जिन्दगी क्यों बर्बाद कर रहा हूँ? बहुत सोचने पर भी इस बात का उत्तर मेरे 'मैं' ने नहीं दिया है।

सुनने मे आया, इस घटना के दूसरे दिन ही उमाशंकर बाबू की मृत्यु हो गयी। इसकी सूचना बाद मे शंकर से ही मिली थी।

•

विमल मित्र

- जन्म १८ मार्च १९१२
- कलकत्ता विश्वविद्यालय से एम. ए. १९३८
- रेलवे में विभिन्न पदों पर नौकरी। भारत के अनेक भागों का भ्रमण और जनजीवन का निकट से अध्ययन।
- १९५६ में नौकरी से अलग होकर स्वतंत्र रूप से साहित्य-सर्जन का आरंभ।
- इनका पहला बंगला उपन्यास है 'अन्य रूप' और इनके उपन्यास का पहला हिन्दी रूपांतर है 'साहब बीबी गुलाम'। फिर विभिन्न भाषाओं मे इनकी रचनाओं का अनुवाद हुआ।
- प्रकृति से मिलनसार और मृदुभाषी विमल मित्र की हिन्दी में लगभग ५० रचनाओ के अनुवाद छप चुके है। उनके कई उपन्यासो पर सफल हिन्दी बंगला फिल्में बन चुकी है। आपकी कई कृतियो पर राजकीय पुरस्कार भी प्रदान किये जा चुके हैं।
- शरद् और ताराशंकर वन्दोपाध्याय की भांति विमल मित्र बंगला के वर्तमान उपन्यासकारों मे सर्वाधिक लोकप्रिय हैं। नारी मनोविज्ञान हो अथवा किशोर मन का रेखांकन, वृद्धो का मानसिक संघर्ष हो या युवको की जिजीविषा, विमल मित्र की लेखनी ने इन सब का सफलता से चित्रण किया है। मानव-मन के सूक्ष्म अध्ययन की इस अद्भुत क्षमता और प्रतिभा ने ही उनके उपन्यासों को अक्षुण्ण गरिमा प्रदान की है।